'महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन'

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ०प्र०)
पी-एच०डी० (संस्कृत) की
उपाधि हेतु प्रस्तुत
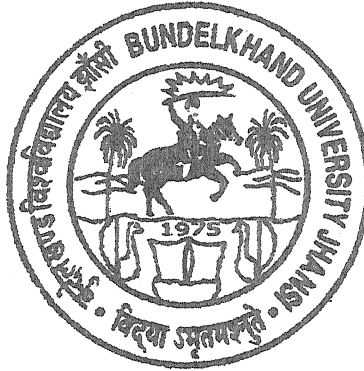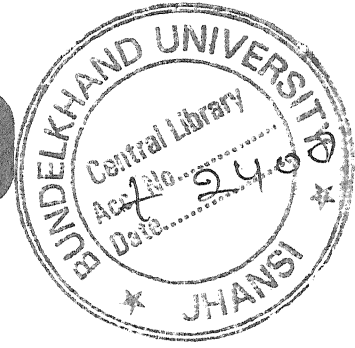
2005

शोध निर्देशक :
डॉ० रामप्रकाश गुप्ता
एम.ए., पी-एच०डी०
संस्कृत विभाग
पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय
बाँदा (उ०प्र०)

शोधकर्त्री :
शुभ्रा चतुर्वेदी
एम०ए० संस्कृत

अनुसंधान केन्द्र
पं० जवाहरलाल नेहरू महाविद्यालय, बाँदा (उ०प्र०)

उपोद्घात

पूज्य पितामह स्वर्गीय श्री लक्ष्मीनारायण चतुर्वेदी को रामायण एवं महाभारत का नित्य परायण करते देख बाल शिशु मेरे मन में यह सहज ही औत्सुक्य उत्पन्न होता था, कि इतने विशालकाय आकर ग्रन्थों में ऐसी कौन सी परियाँ या राजाओं की कथा है। जिसको वे बड़ी तल्लीनता और भावमयता से पढ़ते हैं; और एक दिन यह औत्सुक्य प्रश्न बनकर उनके समक्ष जब प्रस्तुत हुआ तब पूज्य पितामह ने जिस आदर्श और यथार्थ की चर्चा भाव विहवल स्वरों में उन्होंने उस समय मुझसे की थी जिसे सुनकर मेरा किशोर मन रोमांचित हो उठा था, और उनका कथन मुझे सर्वाशंतः सत्य प्रतीत होता है। कि रामायण और महाभारत भगवान के शब्द वपु हैं। क्योंकि पित्राज्ञा पालन हेतु राम का यौवराज्य पद परित्याग एवं भ्रातृ हित हेतु भरत का बीतरागी बनना किसी भी संस्कृति के वरेण्य आदर्श हों सकते हैं। "महाभारत धर्म चार्थे च कोष च मोक्षे च भरतवर्षम् यदि हास्ति तद्न्यत्र यन्नेहास्ति न तत क्वचित।" की उद्घोषणा के साथ ही यथार्थवादी जीवन में मनुष्य से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नहीं है; कि उद्घोषणा करता है। आकार की विशालता, विषयों की व्यापकता जन सामान्य से लेकर देशी, विदेशी विद्वानों में लोक प्रिय यह ग्रन्थ मुझे सदैव आकृष्ट करता रहा है और एम0ए0 के पश्चात् जब शोध कार्य का सुयोग्य मुझे प्राप्त हुआ तो शोध निदेशक के समक्ष मैंने अपनी रुचि इसी धर्म एवं काव्य ग्रन्थ को व्यक्त किया कि परिणाम स्वरूप "महाभारत में प्रतिबिम्वित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन" शीर्षक पर शोध कार्य करने का निर्देश मुझे प्राप्त हुआ। विषय निश्चित रूप से व्यापक विशाल, बहुआयामी था। सामर्थ, सीमा, ज्ञान, ससीम थे फिर भी कौतूहल लगन ने मुझे जो उत्साह प्रदान किया उसके आगे नाना प्रकार के अवरोध स्वतः हटते गये। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध सप्त अध्याय बद्ध है।

प्रथम अध्याय प्रस्तावना से सम्बन्धित है जिसके अन्तर्गत शोधकर्त्री ने महाभारत की महत्ता रचयिता का सामान्य परिचय रचना काल की सम्भावित सीमायें तथा भारतीय पाश्चात्य विद्वानों की संस्कृति संबंधी परिभाषायें प्रस्तुत कर एतद् विषय समन्वयात्मक अवधारणायें एवं संस्कृति तत्त्वों का निर्णय किया गया है।

द्वितीय अध्याय में महाभारत में महाभारतकालीन सामाजिक संरचना एवं संगठन के

स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। इसके अन्तर्गत वैदिक वर्णभाजन की पृष्ठभूमि में चार्तुवर्ण व्यवस्था प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, विधि निषेध वैवाहिक व्यवस्था, पारिवारिक जीवन के सम्बन्धों की एक सूत्रता वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था के साथ समाज में नारी की दशा उत्तम, मध्यम, निम्न अर्थ दशा वाले व्यक्तियों के भोजन वेष-भूषा, रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, सामाजिक वर्गीय रूपों की व्यवस्था के अन्तर्गत पिता पितामह, पितृव्य भाई, बहिन, माता इत्यादि रूपों की संरचना उनके अधिकार और कर्त्तव्यों पर सोदाहरण सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में विश्लेषण कर यह देखा गया है। कि इस युग में अनेक जातियाँ उपजातियों का निर्माण हो रहा था, तथा सामाजिक बन्धन कुछ शिथिल हो रहे थे। अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों की स्वीकृति अस्वीकृति के उदाहरण साथ ही नैतिक नियमों की महत्ता आधिकय हो चली थी।

तृतीय अध्याय महाभारत कालिक आर्थिक, संरचना एवं अर्थोपार्जन हेतु बने विभिन्न संगठनों से सम्बन्धित है। यहाँ पर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, कि वैदिक सभ्यता ग्राम्य और पशु पर आधारित थी। जब कि महाभारत की सभ्यता में नगर विकसित हो रहे थे, अतः इस युग में ग्राम्य नागर सभ्यता का विकास हो रहा था। इस हेतु एक ओर कृषि, पशु पालन की महत्ता थी, तो दूसरी ओर शिल्प कला, वैदेशिक व्यापार, वर्ण व्यवस्था अनुसार अर्थोपार्जन के स्रोतों और कारक तत्त्वों की चर्चा करते हुए शासन व्यवस्था हेतु राजा के राज्यकीय कोष एवं उसके आर्थिक स्रोतों के रूप में कर व्यवस्था तथा प्रजा पालन में अर्थ की महत्ता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अध्याय में महाभारतकालीन राजनीतिक संरचना एवं तथ्य सम्बन्धी संगठनों का उल्लेख है व्यास ने अराजक स्थिति में प्रजा में व्याप्त अव्यवस्था राजा की आवश्यकता राजतंत्र उसके उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम राजा के कर्त्तव्य राज्य सुव्यवस्था हेतु निर्मित आमात्य परिषद प्रणाली तथा यत्र-तत्र प्राप्त गणतंत्रात्मक प्रणाली के साथ कोष, दुर्ग, भूमि किला सेना, इत्यादि राज्य के सप्तांग की चर्चा कर युद्ध एवं सन्धि विषयक पुष्कल सामग्री को संक्षिप्त कर राजा की न्याय एवं दण्ड व्यवस्था विदेश नीति के अन्तर्गत अधीनस्थ मित्र एवं शत्रु राष्ट्र के प्रति उसके व्यवहार राजप्रतिधियों के कर्त्तव्य सन्धि सामग्री व्यूह रचना युद्धों के विधिगत निषेध नियम गुप्तचर व्यवस्था का सोदाहरण विवचेन प्रस्तुत किया गया है।

पंचम अध्याय में महाभारतकालीन धार्मिक स्थिति का विश्लेषण किया गया है। प्रारम्भिक में धर्म की विविध परिभाषायें प्रस्तुत कर महाभारत में प्राप्त पात्रों का धार्मिक प्रतीक की दृष्टि से उनके स्वरूप का उल्लेख किया गया है। 'धृ' धातु से निर्मित धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त धर्म के प्राकृतिक एवं मानवीय धर्म एवं सम्प्रदाय वैदिक धर्म शास्त्रों तथा स्मृतियों में प्राप्त लक्षणों के अनुसार महाभारत में वर्णित प्रत्येक वर्ण और आश्रम के धर्मो का सोदाहरण विवेचन किया गया है। परमधर्म, स्नातक धर्म, सत्यद्म, अहिंसा, क्षण, तप, दान इत्यादि की विवेचना महाभारत के श्लोकानुसार की गयी है। वैदिक काल से चले आ रहे प्राकृतिक प्रतीकोपासना महाभारत काल में शरीरधारी देव देवियों के रूप में दिखाई देती है। साथ ही वैदिक सभ्यता से विकसित यज्ञ एवं कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्म एवं भक्ति की प्रबलता धार्मिक संस्कार, सामूहिक धर्म वैयक्तिक व्रत, उपवास और इनके पृष्ठ भूमि में स्वर्ग-नरक की परिकल्पना साथ ही उस युग में अन्य धर्मो के प्रति प्राप्त सहष्णुता का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है। जैसे वैष्णव धर्म सिद्धान्तः के अन्तर्गत पंचरात्र सिद्धान्त शैवागमों के अनेक सिद्धान्त महाभारत में मिलते हैं।

षष्ट अध्याय महाभारत कालिक दार्शनिक स्थिति के विश्लेषण से सम्बबन्धित हैं। प्रारम्भ में दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति आस्तिक और नास्तिक दर्शन का वर्णन कर दार्शनिक विश्लेषण के मूल कारक तत्त्वों का उल्लेख किया है। जिसमें ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष और उसके साधन स्वरूपों का वर्णन होता है। महाभारत कालिक सगुण-निर्गुण ब्रह्म के साथ अद्वैत ब्रह्म की अवधारणा जगत के मिथ्यात्व एवं आत्म के ब्रह्मतादात्म हेतु सांख्य ज्ञान, कर्म, भक्ति योग की सोदाहरण विवेचना प्रस्तुत अध्याय में की गयी है। वस्तुतः दर्शन जीवन के आचरण पक्ष और उसके चिंतन को प्रभावित करने वाला प्रमुख कारक तत्त्व होता है। इसलिए महाभारत में निष्काम कर्म के साथ संन्यास योग की भी चर्चा है। यद्यपि गीता में कर्म संन्यास की प्रबल महिमा गायी गई है। किन्तु व्यावहारिक रूप में महाभारत धर्म की ही श्रेष्ठा निरूपित करता है। इसी दर्शन से मिश्रित धर्म स्वरूप सामाजिक धर्म चक्र परिवर्तन और वैयक्तिक दर्शन के अन्तर्गत आत्म विजय हेतु चित्त-वृत्ति निग्रह या आत्म संयम की विशाल महिमा महाभारत में गायी गयी है। इस दर्शन में नैतिकता से व्यवहारोपयोगी यथार्थवादी नैतिकता के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। जिसमें सदाचारी व्यक्ति ऋषि मुनियों से श्रेष्ठ या निदंनीय कर्म करने वाला व्यक्ति आत्म विजय प्राप्त

कर श्रेष्ठ सम्मानीय पद के अर्ह हो गया है। गीता तथा महाभारत के शेष अन्य सिद्धान्त का तुल्नात्मक अध्ययन कर यह दिखाया गया है कि मायावाद के परिप्रेक्ष्य में गीता के दार्शनिक विचारों का सामाजिक जीवन में गहरा प्रभाव पड़ा है। इतना ही नहीं श्रेष्ठ साधक, साधु, विद्वान, सन्त अपनी नीति उपदेशों से राजा को प्रजा पालन का उचित मार्ग दर्शन करते थे। वे अपने दार्शनिक मतों की चर्चा राजदरबार में कर राजा एवं प्रजा को नीति युक्त मार्ग चलने का सद्उपदेश देते थे। इस प्रकार गीता के दार्शनिक विचारों का महाभारत युगीन शासन व्यवस्था में सुदूरगामी प्रभाव पड़ा है।

सप्तम और अन्तिम अध्याय उपसंहार से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत शोधकर्त्री ने प्रारम्भ में महाभारत की महिमा महाभारत में चित्रित सामाजिक व्यवस्था विशेष रूप से बनने वाली नवीन जातियाँ आश्रम व्यवस्था में स्थिलता अनुलोम–प्रतिलोम विवाह की स्वीकृति समाज को उत्श्रृंखला बनाने से बचाने के लिए वर्ण एवं आश्रम की सकारात्मक विधि का समाज के आधे भाग नारी के स्वरूप दशा और दिशा उच्च, मध्य, निम्न आर्थिक दशा वाले व्यक्तियों के खान–पान, रहन–सहन, भोजन व्यवस्था जीवन को सुगम बनाने हेतु विभिन्नअपनायी गई वृत्तियों राजनीतिक संरचना राज्य के सप्तांग तथा महाभारतकालिक निवासियों के धार्मिक क्रिया कलाप, रूढ़िया, अंधविश्वास यज्ञ अनुष्ठान के साथ ही आत्मोन्नति हेतु सदाचार विवेक तितीषाऐहिक एवं पारलोकिक विश्वास और इनकी पृष्ठभूमि में जीव जगत माया मोक्ष के विविध साधनों आत्मसाक्षात्कार हेतु ब्रह्म ज्ञान भक्ति की महिमा तथा दार्शनिक विचारों का समाज एवं राजनीति में पड़े प्रभावों का मूल्यांकन हुआ है। सारांश यह है कि महाभारत अपने वास्तविक अर्थ में ब्रूहत्तर भारत की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक और इन सब से ऊपर सांस्कृतिक स्वरूपों का प्रतिनिधित्व करता है। जिसमें प्राक्कतन धर्म संस्कृति परम्परित रूप भी दिखाई पड़ता है। तो दूसरी ओर विभिन्न वर्णो के संकर से उत्पन्न जातियों की सांस्कृतिक चेतना का विशालकाय दर्पण है। इसीलिए महाभारत की यह उद्घोषणा शोधकर्त्री को अतिप्रिय है कि–

यदि हास्ति तद्न्यत्र यन्ने हास्ति न तत् क्वाचित्।।

महाभारत धर्म संस्कृति का आकर ग्रंथ है। शोधकर्त्री का ज्ञान उसकी अपेक्षा कम है। इसका विश्लेषण अध्ययन मनन का परिणाम प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध है। जिसका पूर्ण रूपेण श्रेय

मेरे शोध निर्देशक डॉ0 राम प्रकाश गुप्ता रीडर (संस्कृत विभाग) पं0 जवाह लाल नेहरू महाविद्यालय (बाँदा) के कुशल निर्देशन में प्रस्तुत किया गया है। डॉ0 राम प्रकाश गुप्ता "व्याकरण" "भाषा" के विद्वान हैं। उन्होंने स्वकुशल निर्देशन एवं विश्लेषण पद्धति से मेरी जटिल एवं दुरूह समस्याओं को सुकर एवं सुगम बनाया है। अतः महाभारत की संस्कृति मर्म को समझने एवं भावबोध की सरल व्याख्या में उनका निर्देशन मेरे लिए पाथेय बना है। मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। इस शोध-प्रबन्ध के लिखने में आयी हुई; बाधाओं से जब-जब मैं निरूत्साहित हुई तो श्री रामेश्वर प्रसाद त्रिपाठी सहायक विभागाध्यक्ष (व्याकरण), वामदेव संस्कृत महाविद्यालय, बाँदा ने मुझे प्रोत्साहित किया है। वर्ण, आश्रम, संस्कृति, धर्म, दर्शन के विशाल तथा यत्र-तत्र विरोधाभाषी सूक्तियों का विश्लेषण करने में मुझे डॉ0 वेद प्रकाश द्विवेदी अध्यक्ष एवं रीडर (हिन्दी विभाग) अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा से जो सहायता मिली है। शोधकर्त्री उनके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती है। मेरे इस शोध कार्य के मूल में प्रेरणा स्रोत और उत्सुकता जगाने का जो कार्य पूज्य पितामह ने किया था, उनके वरद् आशीर्वाद की अविभूति में पग-पग पर करती रही अपने पूज्य पिता श्री सुरेन्द्र नारायण चतुर्वेदी एवं माता श्रीमती गायत्री चतुर्वेदी के प्रति आभार प्रकट करना प्रोत्साहन मेरे शोध-यात्रा का पाथेय एवं सम्बल बना सर्वाधिक प्रसन्नता तो उन्हीं को ही रही है। शोध-प्रबन्ध के प्रारूप को सुपाट्य रूप से लिखने का जो दायित्व मेरी बड़ी बहिन कु0 रुचि चतुर्वेदी एवं अनुजा कु0 रश्मि चतुर्वेदी का अथक परिश्रम आज सार्थक हो रहा है। अपने भ्राता श्री सौरभ चतुर्वेदी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिनके सक्रिय सहयोग के बिना यह ग्रंथ अधूरा रहता। मेरे सहपाठी श्री अरुण ने इस शोध-प्रबन्ध में जो सहयोग प्रदान किया वो अव्यक्त है। उनके स्नेह और औदार्य के प्रति कुछ भी कहना उचित नहीं लगता। इनकी ज्ञानदायिनी प्रेरणा ने मेरे व्यक्तित्व को गतिशील बनाया मैं उनके प्रति हृदय स्पर्श अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। मेरे भ्रातृत्व स्नेह से परिपूर्ण करने वाले व दुर्लभ पथ पर सहयोग करने वाले श्री देवी प्रसाद जी एवं श्री गया प्रसाद त्रिवेदी जी को मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

पं0 जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ0 श्री नन्दलाल शुक्ला एवं पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पाण्डेय जी की उदारता का मैंने सीमित उपयोग किया है क्योंकि ग्रंथों की

उपलब्धता का भार उन्होंने अपने ऊपर ले रखा था। मैं उनका भी धन्यवाद् करती हूँ क्योंकि उन्होंने सम्बन्धित सामग्री एवं आलोच्य ग्रंथ उपलब्ध कराये हैं।

शोध कर्त्री प्रणत है अपने शुभ चिंतकों, सहायकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है। साथ ही उन विद्वानों, कवियों, लेखकों, आलोचकों के प्रति जिनकी कृतियों ग्रन्थों का अध्ययन करके स्वबुद्धि नवीनता की ओर अग्रसर होकर इस शोध-प्रबन्ध को पूर्णता की ओर अग्रसर होकर इस शोध-प्रबन्ध को पूर्णता का रूप दे सकी, क्योंकि महर्षि वेद व्यास कृत महाभारत में कई शोध-कार्य हुए हैं। वह एक विश्व विख्याता कवि रहे हैं। शोधकर्त्री उन विद्वानों का सधन्यवाद् करती है। जिनके ग्रंथों से सारस्वत सहयोग लेकर शोधकार्य को सम्पूर्ण किया है।

भवदीया
Shubhra Chaturvedi
शुभ्रा चतुर्वेदी
(एम0ए0 संस्कृत)

डॉ०श्रीराम प्रकाश गुप्ता
रीडर, संस्कृत विभाग
पं० जे०एन०कालेज
बाँदा (उ०प्र०)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **कु० शुभ्रा चतुर्वेदी** ने मरे मार्गदर्शन में रहकर **''महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन''** पी-एच०डी० उपाधि हेतु शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। इस शोध प्रबन्ध को प्रस्तुत करने के लिये बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय के अधिनियम में उल्लिखित 200 दिन उपस्थित रहने के नियम का पूर्ण पालन किया है। यह शोध–प्रबन्ध उसकी मौलिकता का परिचायक है। इससे यह शोध–प्रबन्ध इनकी मौलिक कृति है।

दिनांक :–
14/10/05

शोध निर्देशक

डॉ०श्रीराम प्रकाश गुप्ता
रीडर, संस्कृत विभाग
पं० जे०एन० डिग्री कालेज
बाँदा (उ०प्र०)

अनुक्रमणिका

अध्याय-प्रथम

महाभारतकालीन संस्कृति की प्रस्तवना

क— महाभारत के प्रणेता, काल निर्णय एवं ऐतिहासिकता

ख— महाभारत की कथा

ग— महाभारतकालीन संस्कृति का स्वरूप

घ— महाभारत संस्कृति के प्रमुख बिन्दु

ङ— संस्कृत के समीक्षात्मक अध्ययन का उद्देश्य

च— महाभारत में प्रतिबिम्वित संस्कृति के अध्ययन की विधि

अध्याय-द्वितीय

महाभारतकालीन सामाजिक संरचना, संगठन का संस्कृतिपरक अध्ययन

क— महाभारत में वर्ण व्यवस्था की स्थिति

ख— महाभारतकालीन वैवाहिक व्यवस्था

ग— महाभारतकालीन पारिवारिक जीवन

घ— महाभारत में वर्ण व्यवस्था एवं वर्णाश्रम धर्म कापालन

ङ— महाभारत में नारी की दशा

च— महाभारत में वर्णित राजकीय शिक्षा का अन्य वर्गीय शिक्षा पर प्रभाव

छ— महाभारतकालीन रहन—सहन एवं भोजन व्यवस्था

ज— महाभारतकालीन दास प्रथा

झ— महाभारत में वर्णित वेशभूषा एवं आभूषण

अ— महाभारत में आमोद—प्रमोद की स्थिति

ट— भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन की स्थिति

ठ— आवागमन के साधनों का प्रयोग

अध्याय-तृतीय

महाभारतकालीन आर्थिक संरचना एवं संगठन

क— महाभारतकालीन कृषि की स्थिति

ख— महाभारत में वर्णित पशुपालन की स्थिति

ग— महाभारत में व्यवसाय की संरचना

घ— महाभारतकालीन वैदेशिक व्यापार की व्यवस्था

ङ— वर्णव्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था के मिश्रण की स्थिति एवं समाज पर प्रभाव

च— महाभारतकालीन शिल्पकला का अनुशीलन

छ— जनता के जीविकोपार्जन के साधन

ज— राजा के आर्थिक स्रोत

झ— राजकोष का प्रबन्ध

ञ— कर व्यवस्था

अध्याय- चतुर्थ

महाभारतकालीन राजनीतिक संरचना

क— महाभारत वर्णित राजतंत्र की स्थिति—स्वरूप

ख— महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था

ग— महाभारतकालीन प्रशासनिक व्यवस्था का मंत्री वर्ग

घ— तद्युगीन युद्धों में प्रयुक्त शस्त्रार्थ

ङ— महाभारत में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रभाव

च— विदेश नीति

छ— महाभारत में दुर्ग व्यवस्था

ज— महाभारतकालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति एवं राजदूत व्यवस्था

झ— महाभारतकालीन गुप्तचर व्यवस्था

अ— युद्ध के नैतिक नियम

ट— साम्राज्य में युद्ध एवं सन्धि की स्थिति

ठ— मित्र राष्ट्रो का महत्त्व

अध्याय- पंचम

महाभारतकालीन धार्मिक स्थिति

क— महाभारत में देवताओं और देवियों की स्थिति

ख— कर्मवाद एवं भक्तिवाद की प्रबलता

ग— महाभारत में दान की स्थिति

घ— महाभारत में धार्मिक संस्कारों का परिवेश

ड— महाभारत में वीरपूजा तथा अवतारवाद में विश्वास

च— यज्ञ अनुष्ठानों एवं तपस्या का प्रभाव

छ— धार्मिक तीज—त्यौहार तथा उपवास विधि

ज— महाभारत में वर्णित लोक परलोक एवं नरक का अनुशीलन

झ— धार्मिक कार्यों का राजनीति पर प्रभाव व मूल्यांकन

अध्याय-षष्ठ

महाभारतकालीन दार्शनिक स्थिति

क— महाभारतकालीन धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

ख— धर्मिक सिद्धान्त एवं धर्म

ग— भारतीय दर्शन में महाभारतकालीन नैतिकता की स्थिति

घ— गीता में निहित जीवन दर्शन एवं नैतिकता

ड— महाभारत में नैतिकता का सामाजिक पक्ष

च— महाभारतकालीन दार्शनिक विचारों का सामाजिक जीवन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण

छ— महाभारत मं चित्रित आत्म विजय एवं आत्म संयम

ज— दर्शन एवं व्यवहार पक्ष की दृष्टि से वैदिककाल एवं महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा

झ— नैतिकता के विषय में मौलिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण

अ— महाभारत के दार्शनिक विचारों का राजनैतिक जीवन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण

अध्याय-सप्तम

उपसंहार

सहायक सामग्री

अध्याय-प्रथम

महाभारतकालीन संस्कृति की प्रस्तवना

क– महाभारत के प्रणेता, काल निर्णय एवं ऐतिहासिकता

ख– महाभारत की कथा

ग– महाभारतकालीन संस्कृति का स्वरूप

घ– महाभारत संस्कृति के प्रमुख बिन्दु

ङ– संस्कृत के समीक्षात्मक अध्ययन का उद्देश्य

च– महाभारत में प्रतिबिम्वित संस्कृति के अध्ययन की विधि

अध्याय-प्रथम

महाभारत कालीन संस्कृति की

प्रस्तावना

'जयन्ति ने सुकृतिनः रस सिद्धा कवीश्वराः' अथवा 'पुरा कवीनां गणना प्रसंगे' जैसी सूक्तियों में आचार्यो के मनः पटल पर वाल्मीकि एवं व्यास कवि का कृतित्व अवश्य प्रत्यक्ष गोचर हुआ होगा, क्योंकि रामायण और महाभारत भगवान् के शब्द-वपु ही नहीं हैं, अपितु रामेः धर्मोवान् विग्रह कह कर वाल्मीकि ने मानव को महापुरुष, से ऊपर उठा कर देव, सदृश बताया है। राम की यह रससिक्त कथा भारतीय ही नहीं, विश्व की किसी भी संस्कृति को वरेण्य आदर्श की कथा हो सकती है, तो दूसरी ओर 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित' का डिम-डिम उद्घोष करने वाले व्यास का महाभारत ऐहिक एवं आमुष्मिक साधना का यथार्थ रूप प्रस्तुत कर अपनी महत्ता घोषित की है, कि उसकी कथा समाज के यथार्थ रूप को ही नहीं प्रस्तुत करती, वरन् इसमें अनस्यूत धर्म 'धारणात् धर्ममिति आहु: धर्मो धारयते प्रजा का जीवन्त रूप है। यह साधना आस्था मात्र नहीं सर्वगत है; बाह्य नहीं आभ्यन्तर है; यह गुण मात्र नहीं, चिर है। धर्म युग चिर का सेतु है, धर्म युग चिर का हेतु है, धर्म युग चिर का केतु है और यही आदर्श युग धर्म बनेगा। व्यास ने अपनी प्रतिभा से जो कथा का रूप प्रस्तुत किया है, वह रामायण की तरह अन्विति में भले ही परिपूर्ण न हो, किन्तु वह समग्र साहित्य है। जैसा कि पाश्चात्य लेखक विण्टर नित्स लिखते है- Indeed in a certain sense Mahabharat is not one poetic producti on but rather a whale literature.[1]

महाभारत से कुमार सम्भव, अभिज्ञान शाकुन्तल, वेणी संहार, किरातर्जुनीयम्, शिशुपाल वध, नैषधीय चरित जैसे श्रेण्य साहित्य का सृजन हुआ है इसी प्रकार नाटक, श्लेष काव्य, विलोम काव्य तथा उससे प्रभावित हिन्दी के शताधिक काव्यों की कथावस्तु ली गयी है।

महाभारत की भूमिका में लेखक/अनुवादक ने व्यास के वाचकों का सार-रूप प्रस्तुत करते हुए लिखा है, कि इस महाभात में मैंने वेदों के रहस्य और विस्तार, उपनिषदों के संपूर्ण-सार, इतिहास पुराणों के उन्मेष और निमेष, चातुर्वर्ण्य के विधान, पुराणों के आशय, ग्रह-नक्षत्र तारा

1. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-1 (पृ0-317)

आदि के परिमाण, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत (अन्तर्यामी की महिमा) तीर्थों पुण्य देशों, पर्वतों, नदियों, वनों तथा समुद्रों का भी वर्णन किया है। अतएव महाभारत महाकाव्य है, गूढ़ार्थमय, ज्ञान-विज्ञान शास्त्र है, धर्मग्रंथ है, राजनीतिक दर्शन है, निष्काम कर्म योग दर्शन है भक्ति शास्त्र है, अध्यात्म शास्त्र है, आर्य जाति का इतिहास है और सर्वार्थ-साधक तथा सर्वशास्त्र संग्रह है। सबसे अधिक महत्व की बात है कि इसमें एक अद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान सर्वलोक महेश्वर परम योगेश्वर, अचिन्त्यानन्त-गुण गण सम्पन्न, सृष्टि स्थिति-प्रलयकारी विचित्र लीलाधारी, बिहारी, भक्ति, भक्तिमान्, भक्ति सर्वस्व, निरिवल-रसामृत सिंधु, अनन्त प्रेमाधार, प्रेमधन-विग्रह, सच्चिदानन्द धन वासुदेव भगवान् श्री कृष्ण के गुण-गौरव का मधुरगान है। इसकी महिमा अपार है। औपनिषद् ऋषि ने भी इतिहास पुराण को पंचम वेद बनाकर महाभारत की सर्वोपरि सत्ता, महत्ता स्वीकार की है।[1] कहा गया है-

धर्मे चार्थे च कामे मोक्षे च भरतर्षभ।
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत क्वचित।।[1]

प्रो0 वार्नेट ने प्राचीन भारत की आत्मा तथा संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिए महाभारत का अध्ययन अपरिहार्य बताया है-

"The Study of the Mahabharat is indispensable for those who would learn to leuder stand the spirit and culture of ancient India"[2]

महाभारत को किसी एक ज्ञान की शाखा के अन्तर्गत नहीं रख सकते। वह पुराण, इतिहास, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना के ग्रंथ के रूप में समादृत है। "They are religious ordinances as well as histories of actual incidences. Religious practices prayers and resolutions are embodied in them."[3]

महाभारतकालीन अध्ययन प्रस्तुत करने पर बहुमूल्य तत्त्वों प्रत्यक्ष होगें। उस समय की संस्कृति और रचनाकाल का भी ज्ञान होगा।

---

(1) महाभारत नम्र निवेदन (पृ0-3) (2) The Mahabharat-Analysis and Index. Page-IX (3) दि महाभारत एज ए हिस्ट्री एण्ड ए ड्रामा-राय प्रमाथामल्लिक (पृ0-21)

महाभारत के प्रणेता काल, निर्णय एवं ऐतिहासिकता

भारतीय मनीषा ने जीव को अन्नमय कोष से लेकर आनन्दमय कोष तक यात्रा कराने हेतु अपनी नवनवोन्मेष शालिनी कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा से वरेण्य-श्रेण्य-साहित्य का सृजन किया है, जिसमें महाभारत का अन्यतम स्थान है क्योंकि यह एक ओर वेदों का उपवृंहण कर पंचम वेद की संज्ञा से अभिहित हुआ है, वहीं दूसरी ओर इसमें तद्युगीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों का आकलन, अविकल निदर्शन है। मानव हृदय के अज्ञानान्धकार को विदीर्ण करने वाले ज्ञान-विज्ञान, सृष्टि-विद्या-रहस्य, कला, संस्कृति भक्तितत्त्वों का संग्रह, विश्लेषण है। जगत् जगड्वाल-आबद्ध जीव की यथार्थ मयी दशा, आकांक्षा का निरूपण कर निखिल पुरुषार्थ प्राप्त करने वाले तत्त्वों की व्याख्या भी महाभारत में सर्वत्र हुई है। इस प्रकार भौतिक जीवन के मरुस्थल में पीयूष धारा प्रवाहित करने वाले ज्ञान के इस संचित कोश महाभारत का प्रणेता, उसका रचना काल अत्यन्त विवादित है। वेदों, का संकलन, वर्गीकरण, पुराणों एवं उपपुराणों के साथ महाभारत का रचयिता क्या एक ही व्यक्ति है या व्यास-उपाधि है?

इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है, कि वेद, पुराण आलोच्य ग्रन्थ महाभारत के प्रणेता एवं उसके रचनाकाल-निर्णय के लिए हमें पुराणों के प्रणेता व्यास विष्सयक सामग्री का संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक प्रतीत होता है। कहा गया है, कि विश्व सृष्टा ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों के पूर्व पुराणों का स्मरण कर वेदों का आविर्भाव किया-

(क) पुराणं सर्व शास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेयो वेदास्तस्य विनिर्गताः।।[1]

यही तथ्य वायु[2] एवं पद्म पुराण में प्रतिपादित किया गया है कि ब्रह्मा प्रत्येक द्वापर युग में व्यास रूप धारण कर चार लाख वाले पुराणों की संरचना करते हैं-

(ख) प्रवृत्तिः सर्व शास्त्राणां पुराणस्या भवत्तदा।
कालेना ग्रहणं दृष्टवा पुराणस्य तदा विभुः।
व्यास रूपस्तदा ब्रह्मा संग्रहार्थ युगे-युगे।
चतुर्लक्ष प्रमाणेन द्वापरे जगौ।।[3]

---

(1) मत्स्य पुराण-33/3 (2) वायु 103/58-59 (3) पदम् पुराण सृपिट खण्ड-1/51-52

इस प्रकार स्कन्द पुराण[1], नारदीय पुराण[2], आदि में सौ करोड श्लोक वाले एक ही पुराण के कृत्तित्व की चर्चा है, जिसे बाद में व्यास चार लाख श्लोक वाले अठारह पुराणों में विभक्त कर प्रचार करते हैं। रोमहर्षणसूत व्यास जी के पट्टशिष्य कहे गये हैं।[3]

देवी भागवत में कहा गया है, कि प्रत्येक द्वापर के अंत में भगवान विष्णु व्यास रूप में अवतीर्ण होकर वेद तथा पुराणों का संकलन करते हैं और अब तक 28 व्यास हो चुके हैं।[4] अठारह पुराणों की रचना के बाद ही वेद व्यास ने महाभारत आख्यान की रचना की है।

(क) अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
भारताख्यानमतुत्त्नं चक्रे नदुपवृंहितम्।।[5]

पिछले उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि व्यास नामक किसी एक व्यक्ति ने एक विस्तृत पुराण एवं भारत की रचना की, जिसे, उनके शिष्य प्रशिष्यों ने यथावसर, परिस्थितियों के कारण विस्तार रूप दिया। विण्टर नित्ज ने लिखा है कि वेदों के संग्राहक एवं महाभारत के लेखक व्यास ही हैं जो कलियुग के प्रारम्भ में विद्यमान थे वे अठारह पुराणों के रचयिता भी थे।[6] जबकि एच0एच0 विल्सन ने लिखा है, कि व्यास शब्द का अर्थ है विन्यासक। इस नाम का कभी व्यक्ति था या नहीं यह सन्देह जनक।[7] मेकडानल का कथन है कि महाभारत व्यास द्वारा रचित है। यहाँ सम्पादक की बात के अतिरिक्त और क्या है। इसी परिप्रेक्ष्य में श्री कालूराम शास्त्री के विचार द्रष्टव्य हैं "व्यास कोई एक व्यक्ति नहीं होता प्रत्येक द्वापर में एक नवीन व्यास हुआ करता है। व्यास किसी का नाम नहीं किन्तु पदवी है। गोल वृत्त में एक सीधी रेखा निकल जाती है उसका नाम व्यास है, इसी प्रकार वेदवृत्त में जो सीधा निकल जावे उसका नाम वेद व्यास होता है।[8] पं0 उमाशंकर दीक्षित लिखते हैं, कि व्यास के अस्तित्व पर सन्देह प्रकट करना भारतीयों के लिए कलंक ही होगा। वे काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे अपितु एक ऐतिहासिक महापुरुष थे।[9] व्यास का नाम वैदिक साहित्य के विभिन्न ग्रंथों आरण्यकों (तैत्तिरीय 1/9/2) ब्राह्मणों (सामविधान ब्राह्मण 3/9/8) एवं गृह सूत्रों (वैधायन 3/9/3) में मिलता है। महाभारत के रचनाकाल निर्धारण के पूर्व संक्षिप्त रूप में व्यास का जीवन परिचय जान लें।

महाभारत के आदिपर्व में व्यास का जीवन परिचय विस्तृत रूप में मिलता है। तीर्थाटन

---

(1) स्कन्द पुराण रेखा खण्ड 1/23/30 (2) नार0 पुरा0 पूर्व खण्ड 4/92/22-26 (3) विष्णु पुराण 3/6/15-20 (4) देवी भागवत 1/3/18-23 (5) वही 1/2/17 (6) प्राचीन भारतीय साहित्य-पृ.194 (7) इण्ट्रोडक्शन टू दि ऋग्वेद संहिता -उमाशंकर दीक्षित लिखित महर्षि वेद व्यास-पृ.16 पर उघृत (8) पुराण-पृ.134 (9) महर्षि वेद व्यास-पृ.19

करते हुए महर्षि पराशर यमुना किनारे पहुँचे। वहाँ निषाद कन्या सत्यवती को देख कर उस मुग्ध हो समागम की याचना की। सत्वती की समस्त आपत्तियों का समाधान कर उन्होंने सत्यवती से संभोग किया। इसका परिणाम व्यास थे जो कृष्ण द्वैपायन कहलाये।[1] इन्होंने ही वेदों, का विस्तार किया इसलिए व्यास कहलाये।

ब्रह्मणो ब्राह्मणानां च तदनुग्रह कांक्षया।
विव्यास वेदना यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः।।[2]

इस प्रकार काले होने से कृष्ण, द्वीप में जन्म लेने के कारण द्वैपायन, बदरिकां आश्रम में उपासना करने से बादरायण तथा वेदों का विभाजन करने से व्यास कहलाये। जबकि हॉपकिन्स कथा वाचक को व्यास मानते हैं-

"But this Vyas is very shadowy person. In fact this name probably covers a guied of revisors and retellers of the late."[3]

डॉ0 रा0 शंकर त्रिपाठी भाषा-शैली के आधार पर विभिन्न ब्राह्मणों द्वारा जोड़े गये, विभिन्न आख्यानों, धर्म, नीति के विषयों से परिवर्धित मानते हैं।

"According to orthodox tradition dvaipayaua Vyas was the author of this stupendous work, but the essential lack of unuformilty in its lauguage, style and contents clearly linticates that it is not the production of one brain or one period. It is a graduat growth from an epic, kernel which was in course of time thoroughly remodelled extended and enriched by brahmanas with an enormous amount of my thological philosophical, religious and didactic matter."[4]

इसी प्रकार रैप्सन इसे व्यक्ति का कृतित्व स्वीकार नहीं करते हैं-"On the other hand, the theory that the mahabharat is a work of the fifth or sixth century B.C. and the product of one author who composed it as a law book is a caricature of a fruitful idea of the late prof. Buhler, As it violates every known principal of historical criticism, it may be passed over without discussion the epic was composed not by one person hor ever one generation but by several, it is primarily the story of an historic incident told by the glorifier of kings, the domestic priest and the bard, who are offter one."[5]

---

(1) महाभारत आदि 63/71-86 (2) वही आदि 63/88 (3) इण्डिया-ओल्ड एण्ड न्यू, पृ.79 (4) हिस्ट्री ऑफ एंशियष्ट इंडिया-पृ.65-66 (5) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ.233

आचार्य बलदेव उपाध्याय लिखते हैं वेद व्यास का चरित्र लोक विश्रुत है उसे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। उनका जन्म हुआ था यमुना के एक द्वीप में और इसीलिए वे द्वैपायन के नाम से प्रख्यात थे। उनका शरीर कृष्ण वर्ण का था, इसीलिए वे कृष्ण या कृष्ण मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनका पूरा नाम कृष्ण द्वैपायन था। वेदों के विभाजन करने के कारण वेद व्यास पूरे नाम से और अधिकतर व्यास जैसे छोटे नाम से पुकारे जाते थे। उनके अगाध पाण्डित्य एवं अलौकिक प्रतिभा का वर्णन करना सरल कार्य नहीं है। कौरवों और पाण्डवों के इतिहास से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए कि वे धृत्तराष्ट्र पाण्डु और विदुर के जन्मदाता ही नहीं हैं, प्रत्युत पाण्डवों को विपत्ति के समय सर्वदा धैर्य बँधाते रहे हैं। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिए उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। परन्तु दुर्बुद्ध कौरव ने उपदेशों को कान नहीं दिया।[1]

(1) पुराण विमर्श-पृ.64

महाभारत का रचनाकाल :- महाभारत के रचनाकाल का वर्णन एक जटिल प्रश्न है क्योंकि यह विशालकाय, महत् ग्रंथ 'जय' तथा 'भारत' इन दो विकास क्रमों को पार कर अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुआ है। जय ग्रन्थ का उल्लेख मंगलाचरण में ही है-

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जय मुदीरयेत।।[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी इसकी पुष्टि की है।[2] इस ग्रन्थ की श्लोक संख्या 8800 कहीं गयी है-

अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च।
अहं वेदामि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा।।[3]

भारत के रूपमें प्रचलित ग्रंथ की संख्या चौबीस हजार कही गयी है-

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
उपाख्यान नैबिना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधै।।[4]

इस भारत नामक काव्येतिहासिक ग्रंथ में उपाख्यानों का अभाव था। भारत एवं महाभारत का उल्लेख सर्व प्रथम आश्वलायन गृह्य-सूत्र में मिलता है 'सुमन्तु जैमिनि वैशम्पायन पैल सूत्र भारत महाभारत धर्माचार्याः[5] यह महाभारत 'शत साहस्री' ग्रन्थ तीन वर्षों में लिखा गया-

त्रिमि वर्षौः सदोत्थायी कृष्ण द्वैपायनो मुनिः।
महाभारत आरज्यानं कृतवानिदभुत्तमम।।[6]

कुछ विद्वानों के अनुसार महाभारत में उपन्यस्त गाथाएँ पहले वीरगाथाओं के रूप में प्रचलित थी बाद में उनमें कुछ और जोड़ कर एक रूप दिया गया यही ग्रंथ का आदि रूप था।[7] तात्पर्य यह है कि महाभारत के अंतः साक्ष्य से विदित होता है कि पहले व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को महाभारत सुनाया। वैशम्पायन ने जनमेजय के नागयज्ञ के अवसर पर महाभारत सुनाया। वैशम्पन से महाभारत सुनकर उग्रश्रवा सौति ने उसे नैमिषारण्य में शौनक ऋषि के द्वादश वर्षीय सत्र में सुनाया। इन तीन आरम्भों से पश्चिमी विद्वान इन तीन रचयिताओं के द्वारा महाभारत के तीन संस्करणों की कल्पना करते हैं। महाभारत में मिलने वाले महाभारत की श्लोक संख्या के विभिन्न संकेतों से वे इस मत की पुष्टि करते हैं।[8]

---

(1) महाभाररत आदि 1/1 (2) 'जय नामेतिहासोडयम'-संस्कृत साहित्य का इतिहास-पृ.93 (3) महाभारत आदि 1/8। (4) वही 1/1/102 (5) आ0गृ0सू0 3/4/4 (6) महाभारत 1/56/32 (7) ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर भाग-1, पृ. 217-221 (8) महाभारत में धर्म-डॉ0 शकुन्तला रानी, पृ.74

सांख्याान श्रौत रूप में भी महाभारत का नाम आया है। डॉ0 राम गोपाल ने सांख्यायन श्रौत सूत्र को आश्वलायन गृहय सूत्र का परवर्ती एवं पाणिनि से पूर्ववर्ती कहा है।[1] इस गृहय सूत्र के प्रणेता शौनक के शिष्य थे। इन शौनक मुनि को 'वृहद् देवता' का प्रणेता कहा जाता है। इस वृहद् देवता (4/139) में आश्वलायन (2/61/2) के मत उल्लेख अतः कात्यायन पाणिनि आदि की परम्परा का विश्लेषण करें, तो यह तथ्य सहज सामने आएगा कि महाभारत मूल रूप में 700 अथवा 800 ई0पूर्व में उपलब्ध था। पहले कहा जा चुका है, कि व्यास रचित महाभारत अपनी रचना के शीघ्र बाद ही परिवर्द्धित होने लगा जिसमें उनके पाँच शिष्यों-सुमान्त, जैमिनि, पैल, शुक और वैशम्पायन इत्यादि ने अपना योगदान किया। मूलरूप से महाभारत की रचना कौरव-पाण्डवों एवं महान् क्षत्रियों के यश विस्तार के लिए की गयी थी। इस विस्तार का मुख्य कारण यह रहा कि क्षत्रियों, राजाओं के गुणगान की परम्परा, चारण, मागधों, और सूतों द्वारा होती थी, अतः सम्बन्धित राजाओं के आख्यान भी इसमें जुड़ते गये। साथ इसकी मान्यताओं की रक्षा हेतु नए-नए अध्याय लिखे गए। डॉ0 सुकथंकर ने भार्गव ब्राह्मणों को इस परिवर्धन का श्रेय दिया है।[2]

महाभारत के युद्ध काल का निर्णय अभी निश्चित नहीं है। इसकी तिथि 950 ई0पू0 से 3137 ई0 पूर्व तक मानी जाती है।[3] पुरातत्त्व के आधार पर भी महाभारत के रचनाकाल का अनुमान लगाया गया है। डॉ0 बी0बी0लाल[4] तथा अन्य पुरातत्त्व वेत्ताओं ने महाभारत का समय ई0पू0 9वीं शती कहते हैं। पी0एल0 भार्गव पुराणोक्त वंशावलियों के आधार पर महाभारत युद्ध 1000 ई0पू0 के लगभग मानते हैं।[5] किन्तु भाषा के आधार पर महाभारत ग्रन्थ का काल इतना प्राचीन नहीं सिद्ध होता है।

अन्तः साक्ष्यों के आधार पर भी महाभारत के काल की कुछ गणना संभव है। इसमें यवन, शक, तुषार, हूण, आभीर आदि का उल्लेख है। भारत में इन जातियों के लोगों का आगमन ई0पू0 4वीं सदी से लेकर ईसा की 5वीं सदी तक होता रहा है। डॉ0 राधेश्याम शर्मा का मत है, कि महाभारत में उपलब्ध ज्योतिष सम्बन्धी कुछ बातों, सिक्कों के सम्बन्ध में उल्लेख, आभूषणों एवं वास्तुकला के सम्बन्ध में वर्णन धनुष धारी अश्वारोहियों के उल्लेख, अशोक के नाम का उल्लेख, बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में जानकारी, गणराज्यों का वर्णन एवं इस ग्रन्थ (महाभारत) की

---

(1) इण्डिया ऑफ वैदिक समाज-पृ.71-72 (2) क्रिटिकल स्टडीज इन दी महाभारत, पृ0-278-337 (3) पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन दि महाभारत-वी0पी0 रॉय, पृ.9-10 (4) आर्कियोलॉजी एण्ड दि ट्र इण्डियन एपिक्स-भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूशन भाग-54 अंक-1-4, पृ.1-6 (5) इण्डिया इन वैदिक एज-पृ.

भाषा के अध्यात्म से विदित होता है। कि यह ई0पू0 की 4वीं सदी से लेकर ईसा की 5वीं सदी परिवर्तित होता रहा है।[1] पुरातत्त्व के आधार पर भी महाभारत युद्ध की तिथि निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। महाभारत से सम्बन्धित स्थानों का उत्खनन किये गये आधार पर यह अनुमान लगाया गया है, कि हस्तिनापुर का विनाश गंगा की बाढ़ से 9वीं सदी या 10वीं सदी पूर्व में हुआ था। भूरे चित्रित मृद भाण्डों के आधार पर डॉ0 बी0बी0 लाल[2] एवं अन्य पुरातत्त्व विदों[3] का मत है, कि महाभारत के युद्ध का समय ई0पू0 9वीं सदी है। पौराणिक वंशावलियों के आधार पर भी इतिहासकारों ने इस युद्ध का समय 1000 ई0पू0 मानते हैं।[4] किन्तु महाभारत की भाषा इतनी प्राचीन नहीं प्रतीत होती है।

(1) महाभारत के सामाजिक सिद्धान्त एवं संस्थाएँ, पृ.11 (ए) पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टी0 इन दि महाभारत, पृ. 21-38 (3) आरकियोलाजी एण्ड दि टू इडियन एपिक्स

महाभारत की कथा

पिछले पृष्ठों में लिखा जा चुका है कि महाभारत अपनी विशालता व्यापकता और ज्ञानपूर्णता के कारण चिर काल से समाज में प्रतिष्ठित है उसके आख्यान साहित्य, धर्म, राजनीति और सांस्कृतिक तत्वों की पुनः व्याख्या करते हैं मूलतः यह ग्रन्थ कौरव पाण्डवों की जीवन परक व्याख्या के साथ उनकी जिजीविषा की भी व्याख्या करता है इसी लिए वेदव्यास इसे काव्य मानते हैं–

उवाच स महातेजा ब्राह्मणं परमेष्ठिनम्।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।।[1]

आनन्दवर्धन ने भी महाभारत को काव्य कहा है।[2] श्री चिन्तामणि विनायकवैद्य[3] की मान्यता है कि महाभारत न केवल इतिहास धर्म का ग्रन्थ है किन्तु एक सर्वोत्तम महाकाव्य है। श्री सुकथकर[4] ने महाभारत की साहित्य सौन्दर्य की विस्तृत व्याख्या कर उसे महाकाव्यों का महाकाव्य कहा है।

कथा प्रधान काव्यों का मूलाधार कथावस्तु होती है। छोटी–छोटी घटनायें कथा को प्रवाहयुक्त एवं गत्यात्मक बनाये रखती हैं। यह महाभारत 18 पर्वों में विभक्त हैं। जिनके नाम क्रमशः आदिपर्व, सभापर्व, वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्रीपर्व, शान्ति पर्व, अनुशासनपर्व, अश्वमेधिक पर्व, आश्रमवासिक पर्व, मौसल पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व, स्वर्गारोहण पर्व है।

आदि पर्व में कुल 18 अध्याय हैं जिसमें प्रथम दो अध्याय विषयानुक्रमणिका के रूप में प्रयुक्त हैं। इस पर्व में मुख्य कथा के रूप में कौरव, पाण्डवों का सामान्य परिचय, वैमनस्य, रवान्डवदाह एवं पाण्डवों के वनवास, हिडिम्बा वध, अर्जुन का वनवास एवं सुभद्रा हरण आदि कारिक कथा है। उपदेश प्रसंगों में आस्तिक पर्व, जातुग्रह पर्व की चर्चा की गयी है। इस काव्य का आरम्भ नैमिषारण्य में कुलपति महर्षि शौनक के बारह वर्ष तक अनवरत चलने वाले यज्ञ सत्र के लोमहर्षण पुत्र उग्रस्रवा के आगमन एवं उन्हीं के द्वारा इस कथा का वर्णन करने का उल्लेख है।

---

(1) महाभारत आदिपर्व अध्याय 1/61 (2) ध्वान्यालोक अध्याय 1/1 (3) महाभारत मीमांसा, पृ. 26 (4) मीनिंग ऑफ दी महाभारत, पृ.34

कौरव पाण्डवों के राज्य विभाजन के पश्चात् दुर्योधन के मन में ईर्ष्याजनित रोष उत्पन्न हुआ और उसी का परिणाम द्यूत सभा आयोजित हुई जिसका परिणाम अत्यन्त दुःखत रहा इस सभा पर्व में कुल दस अध्याय हैं जिसमें राजसूय यज्ञ में कृष्ण की अग्रपूजा का शिशुपाल ने विरोध किया और अन्त में उसका वध हुआ इस परिप्रेक्ष्य में हरिश्चन्द्र महात्म्य जरासन्ध वध एक बार द्यूत क्रीड़ा में हारे हुये पाण्डवों का पुनः द्यूत खेलना दुःशासन द्वारा पाण्डवों का उपहास विशेष रूप से वर्णित है। तृतीय पर्व वन पर्व है। जिसमें पाण्डवों का वनवास, अर्जुन की उग्रतपस्या, शंकर से युद्ध, अजेय अस्त्रों की प्राप्ति, इन्द्रलोक भ्रमण, उर्वशी की रति याचना तथा पाण्डवों का विभिन्न धार्मिक स्थानों में भ्रमण मुख्य रूप से वर्णित है। उपदेश या निराशा के समय ऋषियों द्वारा अन्य विविध वृतान्तों का वर्णन है जिसमें नल दमयन्ती, वृत्तासुर, सगर पुत्रों की उत्पत्ति कपिल ऋषि के क्रोधाग्नि से भस्म होना भगीरथ की उग्रतपस्या एंव गंगानयन श्रृंगी ऋषि की कथा, च्यवन और सुकन्या अष्टावक्र वृतान्त आदि प्रासंगिक घटनायें हैं। इसी मध्य जयद्रथ का द्रौंपदी के प्रति रति भाव और उसकी प्राप्ति का प्रयास, अपहरण, भीम द्वारा बन्दी जयद्रथ का मोक्ष और इसी परिप्रेक्ष्य में रामोपाख्यान कथा वर्णित है। जिसके अन्त में कुन्ती द्वारा दुर्वासा की सेवा सूर्य पुत्र कर्ण का जन्म इन्द्र द्वारा कर्ण से कवच कुण्डल की याचना और पाण्डवों के अज्ञातवास से इस पर्व का समापन हुआ है।

चतुर्थ पर्व विराट पर्व कहलाता है। पाण्डवों ने अज्ञात वनवास हेतु विराट नगरी का चयन किया ऋषि धौम्य द्वारा पाँचों पाण्डवों सहित द्रौपदी के छदम्य कार्यों की मंत्रणा की गयी और इस प्रकार द्रौपदी सैरिन्ध्री के नाम से, भीम रसोइये के रूप में और अर्जुन नृत्य शिक्षक के रूप में विराट नगरी में निवास करने लगे। दासी किन्तु सुन्दरी सैरिन्ध्री के प्रति कीचक की आसक्ति भीमसेन द्वारा वध, गुप्तचरों द्वारा दुर्योधन का पाण्डवों के प्रत्याभिज्ञान का प्रयास विराट राजा के गायों का हरण बृहन्नला रूप में अर्जुन को सारथी बनाकर राजकुमार उत्तम का युद्ध, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, आदि प्रमुख वीरों की पराजय और अन्त में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा विवाह से इस पर्व का समापन होता है।

पंचमपर्व उद्योग पर्व है। जिसमें कुल दस खण्ड (पर्व) सेनोद्योग, संजययान पर्व, प्रजागर, सनत्सुजात, यान सन्धि पर्व, भगवद्यान पर्व, सैन्य निर्माण, उलूकदूतागमन, रथाति रथ संख्यान पर्व, अम्बोपाख्यान पर्व हैं। इस पर्व की मुख्य कथावस्तु इस प्रकार है। राजा विराट की सभा में

कृष्ण की मन्त्रणा तथा पुरोहित से कौरव सभा में अपने राज्य की माँग का स्मरण कराना, भीष्म द्वारा सन्धि का प्रयास असफल होने पर कृष्ण का दौत्य कर्म एवं कौरव पाण्डवों में सन्धि स्थापन का प्रयत्न वहाँ से विफल मनोरथ होकर कुरुक्षेत्र में पाण्डव सेना का प्रयास, सेनापतियों का अभिषेक कौरव पक्ष के रथी और महारथियों का अभिषेक एवं उनके स्वागत की कथा मुख्याधिकारिक कथा है। प्रासंगिक या दृष्टान्त रूप में सनत्सुजात ऋषियों की तपस्या परशुराम का दम्भोद्भव, इन्द्र और मातंग का कालव, गरुण ययाति, देवदास की कथा ययाति का स्वर्ग से पतन और पुर्नहश्यावलोकन के रूप में अम्बोपाख्यान की चर्चा है जिसमें भीष्म द्वारा काशी राज्य की तीन कन्याओं का अपहरण, अम्बा का शाल्वराज के प्रति अनुराग विफल मनोरथ होने पर भीष्म का परशुराम के साथ युद्ध, अम्बा की तपस्या और शिखण्डी के रूप में पुनः जन्म की कथा वर्णित है।

षष्ठ सर्ग भीष्म पर्व है। जिसमें जम्बू खण्ड, निर्माण पर्व, भूमि विभाग पर्व, विश्वविख्यात भागवत् गीता पर्व, भीष्म वध पर्व, कुल पाँच खण्ड हैं। कुरुक्षेत्र में कौरव-पाण्डव सैन्य का एकत्रीकरण श्रीमद्भागवत् के रूप में अर्जुन को उपदेश, कौरव पाण्डवों का घमासान युद्ध पाण्डव सेना का व्यापक नरसंहार और इस प्रकार दस दिन तक भीष्म के नेतृत्व में कौरव पाण्डवों के युद्ध का मार्मिक वर्णन हुआ है। शिखण्डी के सामने आने तक भीष्म का शस्त्र त्याग अर्जुन द्वारा निशस्त्र भीष्म पर भीषण बाण प्रहार भीष्म का शरशय्या, अर्जुन द्वारा दिव्य जल से दशा शान्ति, इस पर्व की प्रमुख घटनायें हैं।

सप्तम पर्व द्रोण पर्व है। जिसमें द्रोणाभिषेक, संशप्तक वध, अभिमन्यु वध, प्रतिज्ञा, जयटथ वध, घटोत्कच वध, द्रोणवध एवं नारायण शस्त्र मोक्ष कुल आठ पर्व या खण्ड हैं। द्रोण सेनापति बनते हैं। अर्जुन का संशप्तकों के संहार हेतु प्रस्थान द्रोण द्वारा चक्रव्यूह का निर्माण अभिमन्यु का 'न भूतों न भविष्यति' वाला असाधारण युद्ध कौशल प्रदर्शन अन्याय से छह महाराथियों द्वारा अभिमन्यु वध युधिष्ठिर का विलाप जयद्रथ वध करने की अर्जुन की प्रतिज्ञा सात्विकी, कृत वर्मा, भीमसेन द्रोणाचार्य, भूरिश्रवा के साथ विभिन्न योद्धाओं का युद्धकौशल जयद्रथ वध और तेरहवें दिन धृष्टधुम्न द्वारा अश्वत्थामा के मरण की घटना सुनकर द्रोणाचार्य का शिरच्छेद, अश्वत्थामा का क्रोध, नारायणास्त्र का प्रयोग श्री कृष्ण द्वारा पाण्डवों की रक्षा इस सर्ग की प्रमुख कथा है। जिसमें अभिमन्यु वध के उपरान्त विलाप करते हुए युधिष्ठिर की शान्ति

हेतु नारद द्वारा मस्त सुहोत्र, पौरव, शिवि, श्रीराम, भगीरथ, दिलीप, मांधाता, अम्बरीष, शशी, बिन्दु, रन्तिदेव, भरत, पृथु, परशुराम आदि षोऽश उपाख्यानों को प्रसांगिक कथा कहा जा सकता है। इसी प्रकार धरोत्कच वध पर्व में सन्धि प्रासंगिक कथा का प्रयोग है।

अष्टम पर्व कर्ण पर्व है। कर्ण के सेनापतित्व में कौरवों का घमासान युद्ध शल्य और दुर्योधन का संवाद कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धंस जाने और अर्जुन द्वारा कर्ण वध की घटना प्रमुख रूप से वर्णित है।

नवम् पर्व शल्य पर्व है। कौरव पक्ष के अनेक वीरों का संहार कृपाचार्य द्वारा सन्धि का प्रस्ताव, कौरव पक्ष के अनेक महारथियों के साथ शकुनी का वध, दुर्योधन का निराश होकर जल स्तंमन कर प्रवेश अश्वत्थामा के समझाने पर भी दुर्योधन का तालाब में ही निवास युधिष्ठिर द्वारा युद्ध का आह्वान बलराम के समक्ष भीमसेन एवं दुर्योधन का गदा युद्ध एवं अर्जुन के संकेत से भीमसेन द्वारा दुर्योधन की जाँघ का तोड़ना, कुपित बलराम को कृष्ण प्रबोध अश्वत्थामा के सेना पतित्व पर प्रकोप, एक प्रकार से पांडव विजय की सूचना से यह पर्व समाप्त होता है।

सौप्तिक दशम् पर्व है। रात्रि के समय कौओं पर उलूकों का आक्रमण। इसे देख अश्वत्थामा का क्रूर संकल्प रात्रि में सोते हुए पाण्डव पुत्रों का वध, शोक कुल द्रौपदी का विलाप, अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र का प्रयोग देवऋषि नारद के आग्रह से अश्वत्थामा का अपनी मणि देकर उत्तरा के गर्भ पर दिव्यास्त्र का उपसंहार इस पर्व की प्रमुख घटना है।

स्त्री पर्व में तीन खण्ड हैं। जल प्रदानिक, स्त्री विलाप, श्राद्ध। इसमें धृतराष्ट्र का शोकाविभूत होकर विलाप, गान्धारी और विभिन्न नरेशों की पत्नियों का हृदयविदीर्ण रुदन, यदुवंश के नाश होने के शाप तथा युद्ध में मारे गये विभिन्न सम्बन्धियों के प्रेत कृत्यों से यह पर्व समाप्त हुआ है।

द्वादश पर्व शान्ति पर्व है इसमें कुलीन खण्ड है। राजधर्मानुशासन, आपद् धर्म एवं मोक्ष धर्म जिसके अन्तर्गत युधिष्ठिर और कर्ण का सम्बन्ध नारद कर्ण की कथा और शाप, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, भीमसेन, युधिष्ठिर को सन्यास लेने से विरत करना धृतराष्ट्र के अधीन रहकर युधिष्ठिर का राज्याभिषेक, सरसय्यासीन भीष्म के समक्ष युधिष्ठिर का पहुँचना भीष्म द्वारा राजधर्म का वर्णन और इसी प्रतिप्रेक्ष्य में वर्णाश्रम धर्म के विधिनिषेध राजाओं की नीति, कर्त्तव्य आपद् धर्म के रूप में वर्णाश्रम धर्म के कार्य का विस्तृत वर्णन किया गया है एवं दृष्टान्त रूप

में जनक, नहुष, प्रह्लाद, अजगर, कबूतर, कबूतरी, ऋषभ आदि की घटनाओं का उल्लेख है। यह पर्व मूलतः जीवन यापन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित है। मूल कथा इसमें छूट सी गयी है।

त्रयोदश पर्व अनुशासन पर्व है। जिसमें, दान, धर्म, पर्व और भीष्म स्वर्गारोहण पर्व है। दान धर्म पर्व के अन्तर्गत भीष्म द्वारा गौतमी, ब्राह्मणी, ब्याध्र सर्प, मृत्यु और काल के संम्बाद के साथ मनुवंश के विस्तार और दान सम्बनी कृत्यों की चर्चा दृष्टान्तों द्वारा की गयी है। अष्टावक गंगा महात्म्य, मतंग की तपस्या वीतंद्व्य के पुत्रों से काशी नरेशों का युद्ध वृषदर्भ द्वारा शरणागत कपोत की रक्षा, महोष, कुशिक, च्यवन की कथा के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मणत्व की कथा का ज्ञान किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में कार्तिकेय उत्पत्ति, तारक वध, जमदाग्नि एवं रेणुका प्रसंग नहुष को इन्द्रत्व की प्राप्ति, शिव पार्वती सम्वाद् में वर्णाश्रम धर्म सम्बन्धी प्रवृत्ति, निवृत्ति रूप धर्म का वर्णन, योग सांख्य, पाशुपत धर्म भक्ति के विविध सोपानों का वर्णन है। भीष्म का स्वर्गारोहण दाह संस्कार धृतराष्ट्र शोक एवं श्रीकृष्ण के प्रबोध से इस पर्व का समापन हुआ है।

चतुर्दश पर्व आश्वमेधिक पर्व है जिसमें अश्वमेध, अनुगीता और वैष्णव धर्म एवं कुल तीन पर्व तथा अनेक अध्याय हैं। युधिष्ठिर का शोक मग्न होकर गिरना धृतराष्ट्र का प्रबोध, युधिष्ठिर के राजधर्म के परिप्रेक्ष्य में गर्भस्थ जीव, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, अपान, होम, यज्ञ, परशुराम का क्षत्रिय कुल संहार वर्णन के साथ मुक्ति के विभिन्न मार्गों की चर्चा है। उतंग की गुरुभक्ति कृष्ण का द्वारका प्रस्थान भाईयों सहित पाण्डवों का हिमालय प्रवास इस पर्व की मुख्य घटनायें हैं। युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, नेवले का इस यज्ञ की अपेक्षा सेर भर सत्तू दान के महात्म्य की कथा का वर्णन है। अन्त में वैष्णव धर्म के रूप में चारों धर्मों के कर्म, पंचम महायज्ञ, सात्विकता, आपद् धर्म, चान्द्रायण व्रत, उत्तम अधम ब्राह्मण के लक्षण वर्णित हैं।

पंचदश आश्रमवासित पर्व है। जिसके तीन खण्ड हैं। आश्रमवास, पुत्रदर्शन एवं नारदागमन। भाइयों सहित युधिष्ठिर कुन्ती के द्वारा धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा, धृतराष्ट्र का वन गमन प्रस्ताव, प्रजा से क्षमा याचना, मृत व्यक्तियों के श्राद्ध एवं विशाल यज्ञ, दान, गान्धारी सहित वन प्रस्थान, पाण्डवों का अनुरोध कुन्ती, गान्धारी, धृतराष्ट्र का गंगातट पर निवास, कुन्ती द्वारा व्यास के समक्ष कर्ण के जन्म का गुप्त रहस्य बताना और समापन के रूप में मृत व्यक्तियों द्वारा परलोक से आये हुए स्वजनों से भेंट धृतराष्ट्र का दावानल में दग्ध होना पाण्डवों का विलाप, तीनों की हड्डियों का गंगा में प्रवाह कर श्राद्ध करना इस पर्व की प्रमुख घटनायें हैं।

षोडश पर्व मौश्रल पर्व है। जिसमें यदुवंशियों के अहंकार ग्रस्त होने पर ऋषि का उपहास, साम्य के पेट में मूसल की उत्पत्ति, मदिरा पान कर यदुवंशियों का परस्पर द्वन्द्व युद्ध और संहार, श्रीकृष्ण, बलराम का परम धाम गमन, दुरिवत अर्जुन का श्रीकृष्ण पत्नियों को लेकर द्वारका से कुरुक्षेत्र आना द्वारका का समुद्र में डूब जाना, मार्ग में अर्जुन पर डाकुओं का आक्रमण मौश्रल पर्व की प्रमुख घटना है।

सप्तदशमं पर्व महाप्रस्थानिक पर्व है। वृष्णि वंशियों का श्राद्ध कर प्रजाजनों की अनुमति लेकर द्रौपदी, सहित पाण्डवों का महाप्रस्थान और मार्ग में द्रौपदी नकुल, सहदेव और भीम का क्रमशः गिरना युधिष्ठिर का इन्द्र और धर्म से संवाद और उनके सदेह स्वर्ग गमन की घटनाएँ वर्णित हैं।

अष्टदश, अन्तिम पर्व स्वर्गा रोहण पर्व है। स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर का संवाद देवदूत द्वारा युधिष्ठिर को नरक का दर्शन कराना भाईयों का करुण कृंदन सुनकर उनका भी वहीं रहने का निश्चय, युधिष्ठिर का शरीर त्याग कर दिव्यलोक जाना एवं कृष्ण और अर्जुन आदि का दर्शन भीष्म आदि वीरों का अपने मूल रूप में उनसे मिलना और अन्त में महाभारत की श्रवण विधि और माहात्म्य का वर्णन है। यही महाभारत की मूल कथा है जिसे व्यास ने लेखक गणेश जी की सहायता से लिखकर अपने पुत्र को सुनाया और परम्परा रूप में जय काव्य से भारत और अन्त में उग्रश्रवा सूत द्वारा महाभारत रूप में प्रस्तुत हुई है। इस प्रकार यदि हम सांस्कृतिक तत्त्वों की दृष्टि से इस कथा की समीक्षा करें तो इसमें सामाजिक संरचना, आर्थिक संगठन, राजनीति दशा यूरोपिया के रूप में एक आदर्श राज्य की परिकल्पना तथा प्रजा के जीवन यापन हेतु सामाजिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों विधि निषेधों के साथ ज्ञान, भक्ति, दर्शन, नैतिकता, सदाचार के महत्व के वर्णन के साथ विरोधी गुणों की चर्चा कर सांख्य, योग, वेदान्त, वास्तविक, दर्शन, भक्ति-सोपान, सम्बन्धी जीवन मूल्यों एवं नैतिक बोध का यथार्थवादी रूप वर्णित है। मूलकथा कौरव, पाण्डवों की परिवारिक कथा से प्रारम्भ होकर ऐसी विस्तृत और व्यापक चित्रफलक वाली कथा बन गयी जिसमें व्यक्ति के जीवन यापन इन्द्रीक कई या आवश्यकताओं के मानसिक शान्ति और उदात्तीकरण हेतु जीवन के विविध वैयक्तिक एवं समिष्टगत मूल्य बोधों का उपसंहार हुआ है। जिसमें सब कुछ समाहित हो गया है। इसीलिए कहा गया है। कि महाभारत 'यद् नास्ति तद्नास्ति' का साक्षात् विग्रह रूप है। कवि ने इस कथा को

रूपक कथा के रूप में भी व्यंजित किया है। जिसमें इसे वृक्ष कहा है। आदि पर्व बीज जड़े स्कन्ध, विस्तार, सभापर्व, वन पर्व पक्षियों के रहने योग्य कोटर, विराट उद्योग पर्व और उसका सार भाग भीष्म पर्व बृहत् शाखायें द्रोण पर्व पत्ते, कर्ण पर्व श्वेत पुष्प, शल्य पर्व सुमन्ध, सौप्तिक और स्त्री पर्व छाया, शान्ति पर्व फल, अनुशासन और, आश्वमेधिक पर्व अमृतमय रस, आश्रवासित पर्व आश्रय लेकर बैठने वाले का स्थान एवं शेष मौषल महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण पर्व श्रुति रूपा उच्च शाखाओं का अन्तिम भाग है–

संग्रहाध्याय बीजों वै पौलोमास्तीकमूलवान्।
सम्भव स्कन्ध विस्तारः सभास्ण्यविटंकवान्।
अरणीपर्व रूपाढयो विराटोद्योग सारवान।
भीष्मपर्व महाशाखों द्रोणपर्व पलाशवान्।।
कर्ण पर्वसितैः पुष्पैः शल्यपर्व सुगन्धिभिः।
स्रीपर्वेषीकविश्रामः शान्तिपर्व महाफलः।।
अश्वमेघामृतर संस्त्वाश्रम स्थान संश्रयः।
मौसलः श्रुतिसंक्षेपः शिष्टद्विजनिषेवित।।
सर्वेषां कवि मुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्यन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।[1]

इसी प्रकार पात्रों का सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत करते हुए, दुर्योधन का क्रोधमय विशाल वृक्ष, कर्ण स्कन्ध, शकुनी शाखा, दुःशासन समुद्र–फल, पुष्प, अज्ञानी राजा धृतराष्ट्र इसके मूल हैं तो युधिष्ठिर धर्ममय विशाल वृक्ष है। अर्जुन स्कन्ध, भीमसेन–शाखा, नकुल–सहदेव इसके समृद्ध फल पुष्प हैं। और श्रीकृष्ण–वेद और ब्राह्मणी इस वृक्ष के मूल हैं।

दुर्योधनों मन्युमयो महाद्रुमः
स्कन्धः कर्णः शकुनिस्त्स्य शाखाः।
दुःशासनः पुष्पफले समृद्धे।
मूलं राजा धृतराष्ट्रोऽमनीषी।।

(1) महाभारत आदिपर्व 1/88-92

युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः

स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।

माद्रीसुतौ पुष्पफलें समृद्धे

मुलं कृष्णो ब्रह्मा च ब्राह्मणाश्च।।

निष्कर्ष यह है कि कौरव, पाण्डवों के मध्य उत्पन्न हुए, सत्ता-विवाद और युद्ध के माध्यम से महर्षि वेद व्यास ने तत्कालीन समाज की परिस्थितियों उसके भौतिक, आत्मिक जगत के संघर्षों, उपलब्धियों, सांस्कृतिक जीवन मूल्यों का वर्णन किया है। इस परिप्रेक्ष्य में वेदव्यास ने इस बहुश्रुत, बहुपठित महाकाव्य में भारतीय संस्कृति की अविछिन्न, प्रवाह, परम्परा का भी वर्णन किया है। यह वर्णन जहाँ एक ओर उपदेशों या सम्वादों के माध्यम से हमें मिलते हैं वहीं दूसरी ओर घटनाओं या पात्रों के चरित्र के माध्यम् से उक्त सांस्कृतिक तत्वों का प्रतिबिम्बन हुआ है। महाभारत में भारतीय समाज के जीवन के लक्ष्य नैतिकता, व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। शोधकर्त्री ने भारतीय संस्कृति की अवधारणा एवं उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए पिछले पृष्ठों में यह लिखा है कि मूलतः सांस्कृतिक दृष्टि कायिक या भौतिक आवश्यकताओं के साथ आध्यात्मिक तत्त्वों का सम्मिलन है और उदाहरण स्वरूप महाभारत की कथावस्तु प्रस्तुत कर शोधकर्त्री निर्णीत सांस्कृतिक तत्त्वों के माध्यम् से महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेगी।

क-<u>कथानक की विशेषताएँ</u> :- महाभारत संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन पर विचार करते समय हमें निम्नांकित तथ्यों को दृष्टिगत रखना।

1. "महाभारतकालीन संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन" एक विचार प्रधान और घटना प्रधान है।"
2. "महाभारतकालीन संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन" शोधकर्त्री का प्रमुख ध्येय की भाँति कथा को व्यक्त तो करना है, वरन् एक अन्य विशिष्ट विचारणा को प्रस्तुत करना।
3. "महाभारतकालीन संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन" में कथा-तत्त्व की योजना को शोधकर्त्री ने अतिविशेष बल नहीं दिया है।

(१) <u>ऐतिहासिकता</u> :- "महाभारत कालीन संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन" की ऐतिहासिकता का जहाँ तक सम्बन्ध है, तो उसे हमने महाभारत के मूल ग्रन्थ से ही उद्धृत

किया है। मूलाधार हमारा महाभारत ही है। क्योंकि की दृष्टि से प्रस्तुत काव्य का कथानक तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि कोई भी घटना घटित होते हुए चित्रित नहीं की गयी है, अतः घटनाओं की ऐतिहासिकता का उस रूप में (घटित होने में) प्रश्न ही नहीं उठता। सम्पूर्ण शोध यत्किंचित् तथा कथित संस्कृति और संस्कृत के कथानक का विकास दो पात्रों (युधिष्ठिर और दुर्योधन) के ऐतिहासिक संवादों के माध्यम से ही हुआ है। इन पात्रों की ऐतिहासिकता ही प्रस्तुत काव्य के कथानक की ऐतिहासिकता के रूप में ग्रहणीय है।

(२) <u>मौलिकता</u> :- महाकाव्यकार का कर्त्तव्य इतिहास-पुराण के जीर्णकाय कथानकों को युग-जीवन के अनुरूप आकार प्रदान करना होता है। शोध प्रबन्ध में कल्पनाशक्ति के सशक्त प्रयोग द्वारा कथाचयन में मौलिकता का प्रदर्शन किया है।

महाभारत में भीष्म पितामह, युधिष्ठिर के प्रति राजनीति, वर्णाश्रम, राष्ट्ररक्षा, तप, सत्य, अध्यात्मज्ञान, मोक्ष, सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय, युद्धनीति, सैन्य-संचालन-विधि, धर्माचरण आदि अनेक विषयों पर सविस्तार उपदेश देते हैं। "महाभारतकालीन संस्कृति के समीक्षात्मक अध्ययन" में शोध छात्रा मूल प्रतिपाद्य विषय को ही दोनों के पारस्परिक विचार-विनिमय का माध्यम बनाया है। कवि ने प्रसंगेतर विषयों के प्रतिपादन द्वारा कथावस्तु में अनावश्यक आकार वृद्धि नहीं की है। इसके विपरीत, काव्य का प्रतिपाद्य युद्ध और शान्ति की समस्या को विविध प्रकार से सांगोपांग उल्लिखित किया गया है।

(3) <u>युगानुरूपता</u> :- शोध प्रबन्ध में शोधकर्त्री ने अपने प्रबन्ध समय की सीमाओं में संयत रही हैं। उसने काल-विपरीत कुछ नहीं कहा। काव्य सत्य को युग-जीवन के अनुरूप ग्राह्य बनाने के लिए छात्रा ने स्वतंत्र चिन्तन का सहारा भी लिया है। इस युग की समस्या युद्ध और शान्ति की। युद्ध की समस्त यद्यपि मानव-जीवन की एक चिरन्तर समस्या है, किन्तु वर्तमान युग-जीवन के परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध हैं। महाकाव्य का प्राण तत्त्व उसके उद्‌देश्य की महानता और विचारों की उच्चता है जो संस्कृति में विद्यमान है। शोध का सम्बन्ध है, वह महाभारत की पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण एक ओर प्राचीन तथा दूसरी ओर युग बोध की प्रेरणा से प्रेरित नवीन भी है। महाभारत में आये हुए भीष्म और युधिष्ठिर संवाद की ही नये साँचे में ढालने की चेष्टा की गयी है।

शोध तत्त्व में बौद्धिकता की भी प्रधानता है, क्योंकि यह एक चिन्तन और आद्यान्त बौद्धिक मन्थन की उपलब्धि है। शोध में वैचारिक तारतम्य और क्रमबद्धता के कारण औदात्य-सम्पन्न हो सकती है।

महाभारत का महत्त्व

पहले कहा जा चुका है कि महाभारत के बृहद् रूप में अनेक ज्ञानशर्गिया, लोक कथायें, ऐतिहासिक आख्यान एवं इनसे प्रोत्भूत सांस्कृतिक तत्व इतने मिश्रित रूप में वर्णित हैं कि वह किसी एक ज्ञान शाखा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता जैसे कि डॉ0 विनय ने लिखा है कि महाभारत के वैविधपूर्ण प्रसंग ऐसी श्रृंखला का निर्माण करते हैं। जिसमें भारतीय तत्वज्ञ ज्ञान पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है सैद्धान्तिक चित्त की प्रधानता के साथ पात्रों की उत्कृष्ठ व्यवहारिकता महाभारत की विशेषता है।[1] महाभारत भारतीय संस्कृति की समग्र व्याख्या का व्यवहारिक शास्त्र है। मैकडोनल और विण्टर नित्स का मत है कि भरतवंशी वीरों की मूल कथा की विस्तृत परिधि में अनेक आख्यान तथा धर्म, कर्म के उपदेश समाहित हो गये हैं।[2] महाभारत की विशालता के संम्बन्ध में श्री वर्दाचारी का कम है कि महाभारत के इस महासागर में कथा, शिक्षा, धर्म आदि की नदियाँ मिल गयी हैं। इसी एक ग्रंथ में साधारण जनों को सब कुछ मिल जाता है। इसकी घटनाओं की नाटकीयता तथा गम्भीर यर्थान्ता और सम्वाद की शैली उसे अधिक रुचिकर बना देती है। धर्म, संस्कृति, शिक्षा आदि की दृष्टि से विषयों की उपयोगिता इस रुचि का पोषण करती है। इसी लोक प्रियता के कारण प्राचीन काल से ही महाभारत की कथा जनसमूहों में गायी जाती रही है।[3] भारतीय विद्वान ही नहीं बल्कि पाश्चात् समालोचक इसकी लोक प्रसिद्धी सांस्कृतिक तत्त्वों के मिश्रिण एवं उसकी अभिव्यक्ति के प्रति विषमय विभोर हैं। सम्भवतः कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व ही महाभारत की प्रतिष्ठा अत्यन्त आद्रत थी।[4] भारत वर्ष में ही नहीं वरन् पूर्व एशिया के उन देशों में भी महाभारत का प्रचार था जिनमें भारतीय संस्कृति का विस्तार हुआ था ई0 की पूर्व शताब्दियों में भी महाभारत के नाम का उल्लेख मिलता है।[5]

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार महाभारत मुख्यतः धर्मशास्त्र के कारण भारतीयों की श्रद्धा का कारण रहा। जब कि पश्चिमी विचारक उसे ऐतिहासिक आलोचना का विषय मानते हैं। जैसा कि डॉ0 सुकथनकर का मन्तव्य है कि श्रद्धा और भावना से रहित होने के कारण महाभारत के प्रति पश्चिमी विद्वानों का दृष्टिकोण केवल ऐतिहासिक और वैज्ञानिक है।[6] पश्चिमी विचारक महाभारत की तिथियों के निर्णय करने में निभ्रान्त रूप से कुछ नहीं कर सके परजीटर एवं विन्टर नित्स ने ठीक ही कहा है कि महाभारत के आधार पर कोई निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकती हैं।[7] तात्पर्य यह है कि पश्चिमी विचारकों ने महाभारत के धार्मिक अंशों को पृक्षिप्त

---

(1) महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यों पर प्रभाव, पृ.4 (2ए) ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर मैकडोलन, पृ.285 (2बी) एटिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग-1, पृ.231 (3) ए हिन्दी ऑफ संस्कृत लिटरेचर मैकडोल, पृ. 49 (4) ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. 289 (5) वही-287 (6) मीनिंग ऑफ महाभारत, पृ. 31 (7ए) हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर भाग-1, पृ. 25

कहा है जैसा कि ओल्डेन वर्ग और वीप ने अपने सिद्धान्तों में इसकी पुष्टि की है। डॉ0 हाफकिंस भी महाभात में एक सूत्रता का अभाव पाकर इसे अलग–अलग समय की रचना कहा है।

महाभारत का साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। आनन्द वर्धन ने महाभारत को काव्य कहा है।[1] श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी कहा है कि महाभारत न केवल इतिहास और धर्म का ग्रन्थ है, किन्तु यह एक उत्तम महाकाव्य भी है।[2] डॉ0 सुकथनकार ने महाभारत के काव्यात्मक सौन्दर्य उसकी प्राकृतिक सुषमा सुश्रष्ढ़ि सम्वाद योजना, छन्द वैविध्य महत्वपूर्ण घटनाओं का सजीव वर्णन की दृष्टि से उसे अद्‌भुत महाकाव्य कहा है।

महाकाव्य भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्र के रूप में मान्य है इसमें किसी सम्प्रदाय विशेष की चर्चा न कर मनुष्यता, स्वतंत्रता समानता धारणा करने योग कर्त्तव्य आदि की दृष्टि से यह धर्मशास्त्र कहलाता है। विन्टर नित्स मैकडोनल मुक्तकंठ से इसे कीर्ति काव्य कहकर धर्मशास्त्र में रूपान्तरित होने की बात स्वीकार की है।[3] इस दृष्टि से महाभारत में नीति, धर्म, सदाचार, उपासना, दर्शन, भक्ति, राजधर्म, स्त्रीधर्म, वर्णाश्रम धर्म, विभिन्न सम्प्रदायिक सैद्धान्तिक मतों को इसमें स्थान मिला है। विष्णु, शिव, देवी इत्यादि उपासना का उदारता पूर्वक समन्वय किया गया है।[4]

शोधकर्त्री का मुख्य विषय महाभारत में प्राप्त सांस्कृतिक तत्त्वों की अवधारणा एवं उसका विश्लेषण विषय है। इस दृष्टि से इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्राचीन इतिहास महाकाव्य और धर्मशास्त्र होने के नाते महाभारत हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बन गया है। संस्कृति की प्राच्य एवं पाश्चात् अवधारणाओं उसके तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में इतना तो निभ्रान्त रूप से यहाँ कहा जा सकता है कि संस्कृति मनुष्य की विकासमान अवस्था है। व्यक्ति अपने युगीन प्रभाव से समृद्ध होकर जो सुन्दर कल्याणमय तत्त्वों का अनुभव करता है। उसे समाज अपनी संस्कृति का अभिन्नांग मान लेता है। यह स्वीकृति अनवरत रूप से प्रबांछित होने वाली प्रक्रिया है। महाभारत के वर्णन में अनेक ऐतिहासिक विसंगतियाँ हो सकती हैं। धर्म वर्णन में एक सूत्रता का अभाव हो सकता है। प्रचलित विभिन्न उपासना पद्धतियों के विवेचन में असंगतियाँ मिल सकती हैं। किन्तु सांस्कृतिक निरूपण की दृष्टि से महाभारत निर्दोष रचना है। यदि यह चारण,

---

(1) ध्वन्यालोक । 1/1 (2) महाभारत मीमांसा, पृ. 26 (3) ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर भाग–1, पृ.319 (4) महाभारत मीमांसा सी0 वी0 वैद्ध, पृ. 466–472

भाटो सूतो या मगधो की मौखिक परम्परा में लोक काव्य भी रहा हो तथा जिसका व्यास ने लिपिबद्ध करवाया हो फिर सांस्कृतिक अवधारणाओं की दृष्टि से इस काव्य का महत्त्व आज भी अक्षुण्य है। वीरों की कथायें राज्य त्याग युधिष्ठिर का सत्यपालन अर्जुन का पराक्रम, द्रौपदी का पातिव्रत, कुन्ती का धैर्य, कर्ण का दान, कृष्ण की उदारता तथा इन से सम्बद्ध अनेक प्रासंगिक उपाख्यानों से जिस श्रेष्ठ वरेण्य संस्कृति की अवधारणा विकसित हुई है। वह यथार्थ और आदर्श होते हुये भी प्राचीन एवं अर्वाचीन सांस्कृतिक विद्वानों की मान्यताओं की दृष्टि से पूर्ण खरा उतरा है। जैसा कि डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है कि महाभारत के आचार और कर्त्तव्य हमारे सामाजिक जीवन के पथ प्रदर्शन रहे हैं। ऐतिहासिक पात्रों के आदर्श और धार्मिक आचार दोनों ही रूपों में महाभारत भारतीय संस्कृतिक का भण्डार है। तीर्थों के वर्णन व्रतों के उपदेश संस्कृति के इस भण्डार को और अधिक सम्पन्न बनाते, आकर और महत्ता की दृष्टि से महाभारत भारतीय संस्कृति के गौरव के अनुरूप हैं। भारतीय जीवन की परम्परा से एकाकार होकर महाभारत का ऐतिहासिक साहित्यिक धार्मिक महत्त्व सजीव और परिपूर्ण रूप से उसके सांस्कृतिक महत्त्व को सुरक्षित बनाता है।[1]

महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से पूर्व संस्कृति सम्बन्धी अवधारणायें स्पष्ट करना समीचीन प्रतीत होता है।

---

(1) महाभारत में धर्म पृ. 58

महाभारत कालीन संस्कृति का स्वरूप

प्रस्तावना भाग में कहा गया है कि महाभारत ज्ञान, विज्ञान, धर्म संस्कृति, सामाजिक परम्पराओं का विश्वकोष है। उसमें तद्‌युगीन सामाजिक चित्तवृत्तियों का यर्थाथमय आकलन विश्लेषण और विन्यास हुआ है। संस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है। इसीलिए किसी काल की संस्कृति का निर्माण अचानक न होकर उसी काल के निवासियों के जीवन की शताब्दियों की उपलब्धियों का परिणाम होता है। "किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी खास व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल नहीं, अपितु असंख्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भगीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सब व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यता के अनुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति ही है जो मनुष्य की अच्छाइयों को निर्देश करती है। और मानवीय व्यक्तित्व को सभ्य दिशा प्रदान करती है जो कि उसके बुद्धिमान होने का सूचक है। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की साधना की सर्वोत्तम परिणति भी कहीं जा सकती है। महाभारत कालीन संस्कृति का स्वरूप पाने के पूर्व यह समीचीन प्रतीत होता है कि संस्कृति के प्रति अवधारणा सुनिश्चित कर लें।

(क) संस्कृति का अर्थ :- संस्कृति शब्द 'सम' उपसर्ग में ड्कृअण् धातु से क्तिन प्रत्यय के सहयोग से निष्पन्न होता है। जिसका शब्दार्थ भूषण भूत सम्यक कृति इस प्रकार संस्कृति से परिष्करण या परिमार्जन की क्रिया अथवा सम्यक रूपेण निर्माण का अर्थ ग्रहण किया जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण आदि में संस्कृति शब्द मिलते हैं। डॉ0 गुलाब राय ने लिखा है कि संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार होता है। संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना इसके समानार्थी शब्द हैं।[1] डॉ0 मनमोहन शर्मा के अनुसार संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कार शब्द से मानना अधिक युक्तिसंगत होगा क्योंकि संस्कार का अभिप्राय किसी वस्तु के दोष को दूर कर उसको सिद्धि साधक बनाना है। इसमें केवल शरीर ही नहीं आत्मा भी शुद्ध होती है। सम्यक संस्कारों से सुक्त कृतियाँ ही संस्कृति है।[2]

के0 एम0 मुन्शी के अनुसार–"हमारे रहन–सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था, जो

(1) भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ.1 (2) भारतीय संस्कृति और साहित्य–पृ.24

मानसिक प्रकृति है जिसका उद्देश्य हमारे अपने जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है। संस्कृति जीवन के प्रति हमारा दृष्टि कोण है।" मैथ्यू आर्नोल्ड के मत में किसी समाज और राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही संस्कृति है जिनसे समाज, राष्ट्र परिचित होता है।"

"Culture is the acquainting by ourselves with the best that has been known and said in the world."

"शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है।"[1]

संस्कृति का समानार्थी अंग्रेजी शब्द कल्चर है जिसका अर्थ है कृषि, परिष्कार सभ्यता की स्थिति। आक्सफोर्ड शब्द कोष में कल्चर शब्द की परिभाषा करते हुये लिखा गया है। कि मन का शिक्षण तथा परिष्करण जिनसे रुचि तथा व्यवहारिक आचरण का निर्माण होता है। संस्कृति के उपादान हैं। संस्कृति सभ्यता का बौद्धिक पार्श्व है।

(ख) संस्कृति की प्रमुख परिभाषाएँ :-

१. वेद :- वेद में कोई स्पष्ट परिभाषा संस्कृति की नहीं मिलती। यजुर्वेद में इस शब्द का उल्लेख अवश्य मिलता है।

अविच्छन्नस्य ते देवसोम सुर्वीटर्यस्य रायस्योषस्य यदितारः
'स्याम सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा' स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः।[2]

परन्तु वहाँ इसकी व्याख्या नहीं की गयी है। ब्राह्मण साहित्य में परिभाषा का प्रयत्न अवश्य मिलता है। ऐतरेय-ब्राह्मण में संस्कृति का सम्बन्ध मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नयन से माना है। संस्कृति वह शक्ति है जो इस उन्नयन की साधना को सिद्ध करती है।

'आत्मा संस्कृतिर्वाव शिल्पानि-एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरूते'[3]

२. उपनिषद् :- उपनिषद् में संस्कृति की परिभाषा को विस्तार मिला है। छोदोग्योयनिषद् के अनुसार संस्कृति उन समस्त आदर्शो की समष्टि है जो मनुष्य को मानवतावादी दृष्टि प्रदान करते हं। यह मानवतावादी दृष्टि समस्त जीवन व्यापारों और सामाजिक सम्बन्धों में व्याप्त रहती है।

---

(1) भारतीय संस्कृति, पृ.17 (2) यजुर्वेद 7-14 (3) ऐतरेय ब्राह्मण 6-5-1

"कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्न जीवन व्यापारेषु सामाजिक सम्बन्धेशु वा मानवीयत्व दृष्ट्य प्रेरणा प्रदानां तत्तदादर्शाना समीष्टिरेव संस्कृतिः।"[1]

मानवतावादी दृष्टि के आधार पर ही समस्त धर्म, सम्प्रदाय और सदाचार संघठित और समन्वित होते हैं।

"इत्येवं वर्णाचितुं शक्यते। अतएव च सर्वेषां धर्माणा साम्प्रदायं नामाचरणं च परस्परं समन्वय संस्कृतेवो धारेण कर्तु शक्यते।"[2]

३. जेम्स हेस्टिंग्स :- संस्कृति मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के विविध पक्षों को प्रकाशित करती है। इसमें देश विशेष की विभूतियों के महत्वूपर्ण विचारों और भावानाएँ समाहित रहती हैं।

"The nation of culture may be broad enough to express all forms of spiritual life in a man-Intellectual religious. Ethecal it is best understood intensively as humanities effort to assert its inner and independent being.-Encyclopaedia of religion and chois."[3]

४. ब्रोनिसलोव मालिनोस्कि :- मानव को राष्ट्रीय परम्परा से जो कलाएँ, जीवन के उपकरण, सांकेतिक विधाएँ, रहन-सहन, भावनाएँ और मान्यताएँ प्राप्त होती हैं, वे सभी संस्कृति के अन्तर्गत आ जाती हैं।

"Culture comprises inherited arlifates goods, technical propress ideas, habits and values."[4]

मानव की एक सुनिश्चित पद्धति से पूर्ति करने वाले यथार्थ साधन ही संस्कृति में आते हैं, ये साधन प्रकृति से सीधे ग्रहण नहीं किये जाते, उनको संशोधित रूप में ही स्वीकार करके सांस्कृतिक निधि तैयार होती है।

"Culture is then essentially an instrumental reality which has come in to existence to satisfy the needs of man in manner for surpassing any diresct adoptation to the environment."[5]

---

(1) छान्दोग्योपनिषद, 8-4-1 (2) प्रबन्ध प्रकाश, भाग 2, पृ.31 (3) Ethies-V.L.IV-P. 358 (4) Encyclopaedia of Social Seinces, -p. 621 (5) Ibid - P. 645

प्रत्येक संस्कृति के दो अंग होते हैं। मनुष्य के द्वारा निर्मित वस्तुओं का समुदाय और निर्माण की पद्धति की परम्परा।

"Culture is a well organised unity divided into two fundamental aspecls-a body of arlifacts and system of customs."[1]

५. ई0बी0 टाइलर :- संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कलाकृति, नैतिक नियम आचार व्यवहार तथा मनुष्य की अन्य उपलब्धियों को व्यक्त करने वाला शब्द है।

"Culture is that compex whole which includes indudes knowledge belief, art morals law, custom and other capabilities required by man as a member of society."[2]

६. एडवर्ड सपरि :- संस्कृति किसी देश की सभ्यता का एक विशिष्ट परिवर्तन है।

"We may accept the culture as signifing the characteristic mold of national civilisation."[3]

७. फिलिप बाबी :- मानवीय व्यवहार के समस्त विशिष्ट रूप रूप संस्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं। व्यवहार आंतरिक भी हो सकते हैं और बाह्य भी। पैतृक उत्तराधिकार या जीव वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ इसके अंतर्गत परिगणित नहीं होती।

"Cultue is a particular class of realities of behaviour. It includes both internal and external behaviour. It excludes the biulogically inberited aspects of behaviour."[4]

८. जान लूइस :- आचार व्यवहार, प्रथाएँ, मान्यताएँ, दृष्टिकोण, भावनाऐं और अन्य सामाजिक व्यवहार अनेक तत्त्वों से प्रभाव ग्रहण करते हैं। ये सब प्रत्येक समाज में एक सुनिश्चित पद्धति और परंपरा का निर्माण करते हैं। यह परंपरा समाज के सभी व्यक्तियों की थाथी हैं। इन सभी प्रचलित और सर्वमान्य व्यवहार पद्धतियों को समष्टि रूप से संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। वर्गो और मनुष्यों के परस्पर संबन्ध और इनके समस्त सापेक्ष व्यवहार सामान्य रूप से स्वीकृत होकर संस्कृति का रूप खड़ा करते हैं।

"The customs, the traditions, attitudes, ideas and symobols which goven

---

(1) Ibid-P.623 (2) Primitive Culture-P.1 (3) Writing of Edward sapir P.314 (4) Culture and History-P.88

social behaviour show a wide variety. Each group each society, has a set of behaviour pullerns (Overt and covert) which more or less comman to the members, which are passed down from generation to generation and taught to children, and which are constantly lieble to change. These comman patterns call the culture."[1]

संस्कृति मानव समाज में एकता की भावना उत्पन करती है और निबधि रूप से काम करने की शक्ति देती है।

"It is the possession of common culture which given the members of a society a feeling of unity with the group and enables them to live and work to gether without too much confusion and mutual interference."[2]

९. राल्फ लिंटन :- संस्कृति समस्त परंपरागत अर्जित व्यवहारों और उनके परिणामों की समष्टि है। इनके अंशोपांग एक सुनिश्चित समाज के सदस्यों के द्वारा स्वीकृत और संप्रेषित होते हैं।

"A culture is the configuration of learned behaviour and results of behaviour whose component elements are shared and transmited by members of a porticulur society."[3]

१०. डॉ० राधा कृष्णन :- जीवन की विभिन्न और घनिष्ट समस्याओं पर हुआ चिन्तन और उसकी अभिव्यक्ति ही संस्कृति है।

"It (culture) is thinking with one's whole mind and body. It is making entire organism. Sense and sensibility mind and understanding thrill with the idea.[4]

११. रवीन्द्र नाथ ठाकुर :- संस्कृति मस्तिष्क का जीवन है।[5]

१२. राहुल सांस्कृत्यायन :- एक पीढ़ी आती है, वह अपने आचार विचार रुचि अरुचि कला संगीत, भोजन-छाजन या किसी और दूसरी आध्यात्मिक धारणा के बारे में कुछ स्नेह की मात्रा अगली पीढ़ी के लिए छोड़ जाती है। एक पीढ़ी के बाद दूसरी के बाद तीसरी और आगे बहुत सी पीढ़ियाँ आती-जाती रहती हैं और सभी अपना प्रभाव या संस्कार अपनी पीढ़ी

---

(1) Culture Socialogy P.139-140 (2) Ibid -P.149 (3) The cultural Background of personality P.21 (4) Freedom and culture-P.24 (5) The centre of Indian culture P.15

पर छोड़ती जाती है। यही प्रभाव (संस्कार) संस्कृति है।[1]

१३. डॉ0 देवराज :- संस्कृति का अर्थ चिन्तन तथा कलात्मक सर्जन की वे क्रियाएँ समझनी चाहिए, जो मानव व्यक्तित्व और जीवन के लिए साक्षात उपयोगी न होते हुए उसे समृद्ध बनाने वाली है। इस दृष्टि से हम विभिन्न शास्त्रों दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधना आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को संस्कृति की संज्ञा दे सकते हैं।[2]

१४. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल :- संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। जीवन के नानाविधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है[3] और संस्कृति मानवीय जीवन की प्रेरक शक्ति है। वह जीवन की प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्त मैत्री की भावना है।[4]

१५. डॉ0 मंगलदेव शास्त्री :- किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यपारों में या सामाजिक संबन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिए।[5]

१६. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी :- आर्थिक व्यवस्था, राजनैतिक संघटन, नैतिक परंपरा और सौन्दर्य बोध को तीव्रतर करने की योजना से सभ्यता के चार स्तंभ हैं। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है।[6]

जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही संस्कृति कहा जा सकता है।[7]

१७. डॉ0 नगेन्द्र :- संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है। जहाँ उसके प्राकृत राग-द्वेषों का परिमार्जन हो जाता है।[8]

१८. सुमित्रानन्दन पंत :-

गूढ़ राग का संवेदन ही जीवन का इतिहास।
राग शक्ति का विपुल समन्वय जन समाज का संवास।।
निखिल ज्ञान विज्ञानों में वह पाता नव अभिव्यक्ति।
रागातत्व ही मूल धातु संस्कृतियाँ रूप विभक्त।।[9]

---

(1) बौद्ध संस्कृति, अ0 1, पृ.3 (प्रथम संस्करण) (2) हिन्दी साहित्य कोश-पृ.801-802 (3) भारतीय संस्कृति का विकास पृ.4 (4) कला और स्मृति-डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल भूमिका पृ.3 (5) कल्पवृक्ष लेख संस्कृति का स्वरूप, पृ.4 (6) अशोक के फूल पृ.81 (7) अशोक के फूल पृ.63 (8) साकेत एक अध्ययन पृ.100 (9) युगवाणी।

(ग) परिभाषाओं का विश्लेषण :- उपर्युक्त परिभाषाएँ जो हैं उनमें संस्कृति के आवश्यक उपकरणों की प्रायः सूचियाँ ही दी गयी हैं। पर सभी उपकरणों पर सभी विद्वान एक मत नहीं है। वैसे प्रवृत्ति यह रही है कि अधिक से अधिक उपकरणों को परिभाषाओं में समाविष्ट किया जाय। इन सभी परिभाषाओं का समवेत चित्र उपस्थित करके कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस चित्र में ऊपर की 18 परिभाषाओं की केवल संख्या दी गयी है और दूसरी पंक्ति में उपकरणों की संख्या दी गयी है और दूसरी पंक्ति में उपकरणों की संख्या दी गयी है। संस्कृति के उपकरणों की सूची इस प्रकार है–

1. मानव की उन्नयन शीलता (व्यक्तिगत और सामाजिक) परिमार्जन और परिष्कार की प्रवृत्ति (2) जीवन के आदर्शों की समष्टि, मानवतावादी दृष्टि (3) आध्यात्मिक जीवन (4) धर्म सम्प्रदाय (5) महत्वपूर्ण समस्याओं पर परिष्कृत विचार (6) नैतिक उन्नति (7) बौद्धिक उन्नति (8) सभ्यता का विकास (9) मानवीयता व्यवहार पक्ष (10) सामाजिक सम्बन्ध (11) मस्तिष्क की क्षमताएँ (12) जीवन की आवश्यकताओं की पद्धति (13) जीवन के उपकरण (14) विश्वास (15) मान्यताएँ (16) सेक्स की भावना (17) अभिरुचि (18) कलाएँ सौन्दर्य बोध (19) जीवन पद्धति की परम्परा भूत, वर्तमान और भविष्य, (20) भोजन–छाजन (21) रहन–सहन, आचार–व्यवहार (22) परिभाषिक विधाएँ।

उपकरण	परिभाषाएँ																	
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18
1	0	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	0	0	–
2	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	0	0	–	–	–
3	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	0	0	–	–	–	–	–
4	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–
5	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–
6	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–	0	–	0
7	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0
8	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–

9	–	–	–	–	–	0	0	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
10	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–	–
11	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	0
12	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
13	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
14	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
15	–	–	–	0	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
16	–	–	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
17	–	–	–	–	–	–	0	–	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–
18	–	–	–	0	0	–	–	–	–	–	–	0	0	–	–	0	–	–
19	–	–	–	0	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–
20	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	0	–	–	0	–	–	–
21	–	–	–	0	0	–	0	0	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–
22	–	–	–	0	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश परिभाषाएं परिष्कार की प्रवृत्ति, जीवन की परम्परा और रहन–सहन, आचार–विचार के तत्त्व पर एक मत हैं। इनमें से प्रथम मनुष्य की उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है जो समस्त सांस्कृतिक साधना की प्रेरणा शक्ति है। द्वितीय में किसी देश या मानव की या जाति की अतीत उपलब्धियों को सम्मिलित करके अतीत वर्तमान और भविष्य के नैरंतर्य की सूचना है। परम्परित उपलब्धियाँ और वर्तमान उपलब्धियाँ मिलकर मनुष्य के रहन–सहन, व्यक्तिगत–आचार और सामाजिक व्यवहार की पद्धति को सुनिश्चित करती हैं। यही संस्कृति का तृतीय तत्त्व है। महत्त्व की दृष्टि से ये तीनों ही समकक्ष है। जीवन के आदर्श इस सामान्य पद्धति में समन्वित रहते हैं। इस समस्त जीवन पद्धति को नियंत्रित करने वाला जीवन मूल्य मानवतावाद है। उक्त तालिका में महत्त्व की दृष्टि से इसका द्वितीय स्थान है। वैसे मानवतावादी मूल्य हमारे सामाजिक सम्बन्धों और व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इस मूल्य के अभाव में संस्कृति की व्यवस्था बिखर जाती है। व्यक्तिगत संस्कृति इसी के आधार पर सामूहिक परिणति पाती है किसी देश की सांस्कृतिक निधि पर किसी व्यक्ति और वर्ग का अधिकार हो जाने पर मानवतावादी मूल्य का ह्रास ही समझना चाहिए। उस पर सामूहिक

अधिकार और उपलब्धियों का व्यापक भोग, मानवतावादी मूल्य की प्रतिष्ठा का द्योतक होता है। इसी मूल्य का एक पक्ष आध्यात्मिक और दूसरा सामाजिक है। आंतरिक दृष्टि से जो आध्यात्म है वही सामाजिक व्यवहार पक्ष में नैतिक है। सामाजिक व्यवहार नैतिक मूल्यों से जीवित रहता है। इन तीनों को उक्त तालिका में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। शेष उपकरण उन्हीं का विस्तार प्रदर्शित करते हैं। इसलिए उक्त परिभाषाओं में कुछ में उनका उल्लेख है और कुछ में नहीं।

उक्त तालिका और विवेचन के आधार पर संस्कृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(1) **संस्कृति की प्रेरणा :** परिष्कार और परिमार्जन की प्रवृत्ति

(4) **उपलब्धियाँ** —— सामूहिक अधिकार
└ परम्परा
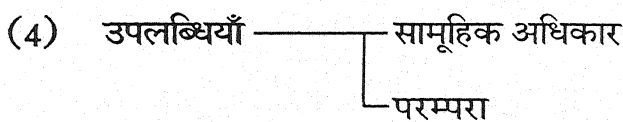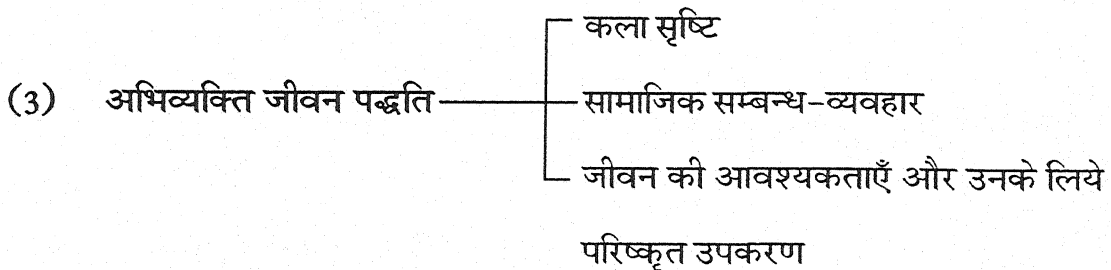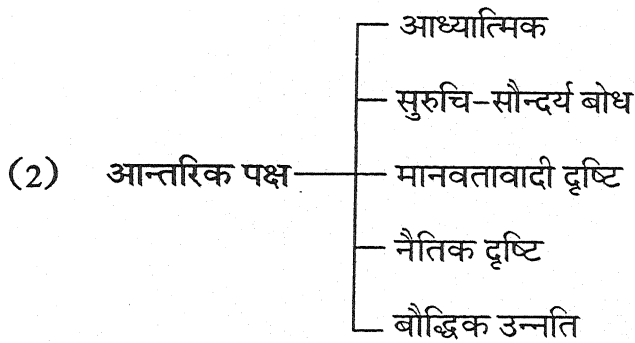
यही संस्कृति का समग्र चित्र है इसी को आंशिक या पूर्ण रूप से विभिन्न विद्वानों की परिभाषाओं में अभिव्यक्ति मिली है। अंततः यह कहा जा सकता है कि परिष्कृत बाह्य और आंतरिक जीवन किसी भी संस्कृति में प्रतिबिम्बित रहता है। इसका मूल स्वर सृजन की आत्मा को ध्वनित करता है। सांस्कृति क्रिया पूर्णता की ओर उन्मुख रहती है पूर्णता का सांस्कृतिक अर्थ है मानव की प्रत्येक दिशा और प्रत्येक पक्ष की उन्नति। वैयक्तिक पूर्णता सामाजिक पूर्णता की भूमिका है।

महाभारतकालीन संस्कृति के प्रमुख बिन्दु (तत्त्व)

ऊपर कहा जा चुका है कि मानसिक चिंतनजन्य भाव या विचार संस्कृति है और किसी भी देश में सांस्कृतिक तत्त्व एक दिन या रात में नहीं बनते अविछिन्न या अविरल क्रिया कलापों से सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्माण होता है। अतः सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्माण होता है। अतः सांस्कृतिक तत्त्वों की सूची भी भिन्न-भिन्न होती है। क्योंकि देश, काल, परिस्थिति, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों के निरन्तर परिवर्तन जन्य प्रभाव से सांस्कृतिक तत्त्वों का परिवर्तन होता रहता है यद्यपि यह परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति से होता है। जिसे परिलक्षित करना सरल नहीं है। हम यहाँ कुछ विद्वानों के द्वारा निर्दिष्ट सांस्कृतिक तत्त्वों का उल्लेख कर एक समन्वयात्मक तत्त्वों की भूमिका तक पहुँचने का प्रयास करेगें क्योंकि इन्हीं सांस्कृतिक तत्त्वों की झलक महाभारत में देखना है समूचे महाभारत में जिस समाज की संरचना कार्य व्यवहार का वर्णन व्यास ने किया है। उसके सांस्कृतिक तत्त्वों का विश्लेषण अपेक्षित है। डॉ0 गुलाब राय ने भारतीय संस्कृति के निम्नलिखित तत्त्व स्वीकार किये हैं-

(1) आध्यात्मिकता (2) परलोक और आवागमन में विश्वास (3) समन्वय बुद्धि (4) वर्णाश्रम विभाग (5) बाह्य और आन्तरिक बुद्धि (6) अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय (7) प्रकृति प्रेम (8) उत्सव प्रियता[1]

डॉ0 राम जी उपाध्याय के आधार पर संस्कृति के बिन्दु निम्न हैं-

(1) सार्वजनीनता (2) सर्वांडीगता (3) देवपरायणता (4) धर्म परायणता (5) आश्रम व्यवस्था (6) आध्यात्मिकता (7) कर्मफल और जन्मान्तरवाद (8) सर्वेसुखना सन्तु (9) निःशीनता (10) सनातनता (11) ऋषि एवं ग्राम्य की प्रधानता

डॉ0 मुन्शीराम शर्मा की एतद्[2] विषयक उपस्थापना यह है कि-

(1) संस्कृति एवं संस्कार (2) योग्य और संस्कृति (3) संस्कृति एवं चातुर्य वर्ण (4) संस्कृति और कर्मकाण्ड (5) संस्कृति और विकास पद्धति

डॉ0 मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति[3] के निम्न तत्त्वों का उल्लेख किया है-

(1) समष्टि भावना (2) चातुर्यवर्ण व्यस्था (3) चतुरामश्रम आदर्श (4) राजनीतिक

---

(1) भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृ.6-12 (2) भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृ.11 (3) भारतीय संस्कृति और सभ्यता, पृ. 46

आदर्श (5) वैयक्तिक जीवन (6) संस्कार (7) धर्म[1 2]

डॉ0 मदन गोपाल गुप्त की उत्पत्ति यह है कि-

(1) अमृत (2) अध्यात्मिकता (3) मुक्त जीवन (4) चतुरसूत्री जीवन का अन्त (5) सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित समाज व्यवस्था (6) कर्म तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त (7) समस्त जड़ चेतन के प्रति एकात्मकता की भावना (8) लोक मंगल या लोग कल्याण की भावना[3]

डॉ0 बल्देव प्रसाद मिश्र ने भारतीय संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताओं का निर्वचन किया है-

(1) धर्म (2) वर्ण व्यवस्था (3) मोक्ष (4) त्रिमार्ग-कर्म ज्ञान भक्ति (5) अवतारवाद[4]

डॉ0 महेन्द्र कुमार वर्मा ने भारतीय संस्कृति के निम्नलिखित तत्त्वों का उल्लेख किया है।

(1) आध्यात्मिकता (2) धार्मिकता (3) त्याग एवं तपस्या (4) अनेकता में एकता (5) कर्म पुनर्जन्म और भाग्य पर विश्वास (6) समन्वय वादिता (7) उदारता (8) विश्ववन्धुत्व (9) अक्सरानुकूलता, गतिशीलता (10) सन्तोष एवं शान्त (11) अहिंसा (12) सहिष्णुता (13) संयम (14) गुरूजनों की सेवा एवं अभिवादन (15) नारी पूजा (16) वर्ण व्यवस्था (17) ज्ञान का महत्व (18) अवतारवाद (19) गौ पूजा[5]

---

(1) भारतीय संस्कृति का विकास प्रथम खण्ड, पृ.132 (2) भारतीय संस्कृति का विकास प्रथम खण्ड, पृ.125 (3) मध्यकालीन हिन्दी काव्यों में भारतीय संस्कृति, पृ. 53 (4) भारतीय संस्कृति, पृ. 111 (5) भारतीय संस्कृति का मूलाधार, पृ. 8-16

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतीय संस्कृति की विशेषता क्या है ? इस पर विचार करने से ज्ञात होगा कि वह स्वतो विशिष्ट तो है ही, सर्वविशिष्ट भी है। स्वतो विशिष्ट कहने से अभिप्राय इस संस्कृति की उन विशेषताओं की ओर संकेत करना है, जिनके कारण यह अपने आप में एक अनोखी संश्लेषणात्मक शक्ति का निरन्तर स्रोत रखती है, और सर्व-विशिष्ट कहकर यह व्यक्त करना है कि विश्व की अन्य तथा कथित संस्कृतियों की तुलना में इसमें कौन सी विशेषताएँ हैं, जो तत्तद्देशीय विद्वानों को मोहकर इसके अध्ययन में प्रवृत्त करती हैं। यों तो "भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ" कहना ही समीचीन नहीं है क्योंकि यह विशेषता संश्लिष्ट है, विश्लिष्ट नहीं ठीक उसी तरह जैसे यह संस्कृति संश्लिष्ट है और इसीलिए 'विशेषताएँ' न कहकर 'विशेषता' कहना ही अधिक उचित है, परन्तु श्रेणी-विभाजन की आधुनिक प्रवृत्ति को देखते हुए हम प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं-

समन्वयवादिता :- भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है। संस्कृति का अध्ययन इतिहास के अध्ययन की पूर्वापेक्षा रखता है और भारतीय इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ के मनीषियों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सदासर्वदा समन्वय करने के ही सफल प्रयास किये हैं। विचार-धाराओं, मतों, परम्पराओं तथा व्यवहार-सम्पत्ति में परस्पर भिन्नता न रही हो, ऐसी बात नहीं है, परन्तु उस विभिन्नता का प्रवाह समन्वय में ही समाप्त होता रहा है। विरोधी दृष्टि-कोण अथवा पूर्व-पक्ष के प्रति वैचारिक असंतोष भले ही रहा, परन्तु असहानुभूति का कभी लेश भी नहीं देखा गया। समन्वय की ऐसी प्रवृत्ति अन्य देशों में नहीं विकसित हुई।

उदारता :- भारतीय संस्कृति की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी उदार प्रवृत्ति है। अपने विकास के साथ ही साथ दूसरे के विकास तथा उत्थान की भी चेष्टा तथा उसमें सहायता करना भारतीयों का व्रत रहा है। परमार्थ की इस काष्ठा पर आकर ही भारतीय संस्कृति अभारतीयों को भी मुग्ध कर लेती है। इस संस्कृति की उदार प्रवृत्ति का ही प्रत्यक्ष हमें तब होता है, जब भारत में, कालान्तर में, अन्य संस्कृतियों का आगमन तथा परिचय होने पर हम देखते हैं कि यहाँ ने अन्य संस्कृतियों से वह सब कुछ ग्रहण करके अपनी संस्कृति में समन्वित कर लिया जो श्रेय तथा प्रेम था। किसी भी संस्कृति के आदर्श को अपनाने में भारतीयों को कभी कोई विचिकित्सा नहीं हुई। यह भारतीय संस्कृति की अनुपम उदारता का ही लाभकारी परिणाम था कि अनेक

संस्कृतियों ने अपने आपको भारतीयता में रंग कर भारतीय कहलाने में गौरव समझा। द्रविड, कोल, कुषाण तथा हूण सब विलीन हो गए-सब मिलकर भारतीय ही रह गए और भारतीय ही आज भी हैं। जो मिल न सके, घुल न सके, उन्हें भी उदारता के साथ अपने समकक्ष स्थान देना भारतीयों का ही काम था। ऐसी है भारतीय संस्कृति की उदारता और सहिष्णुता।

एकात्मक अनेकता :- भारतीय संस्कृति के बहिरंग में वैविध्य या अनेकता दिखलाई देती है। परन्तु अन्तरैक्य ने इस वैविध्य और अनैक्य को अभिभूत कर रखा है। प्राचीन युग की बात अलग छोड़िए, आज भी भारत में अनेक धर्म, अनेक मत, अनेक जातियाँ, विविध भाषाएँ तथा अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु उन सभी के मूल में भारतीयता है, जो उन्हें निरन्तर अनुप्राणित करती रहती हैं। यों समझिए कि एक सरोवर है जिसमें लाल, गुलाबी, श्वेत तथा नील वर्ण के विविध कमल पुष्प खिले हैं। या तो समझिए कि भारतीय संस्कृति उस इन्द्र-धनुष के समान है, जिसमें सात रंगों की चमक स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने पर भी धनुष एक ही रहता है। जितने अधिक धर्मों के अनुयायी भारत में पाये जाते हैं, वस्तुतः उतने अन्य किसी भी देश में नहीं मिलते। इसी प्रकार भारत में बोली जाने वाली बोलियाँ और भाषाएँ संख्या में इतनी अधिक है कि अनेक विद्यानों ने उन पर स्वतन्त्र शोध की है। यह उक्ति प्रसिद्ध है कि भारत में प्रत्येक पांच कोस पर बोली बदल जाती है। ये सब भिन्नताएँ और विभिन्नताएँ होते हुए भी मूल में कुछ ऐसी विशेषता है जो सभी को एक सूत्र में पिरोए हुए है। भारतीय संस्कृति एक माला की भाँति है, जिसमें अनेक पुष्प (जो विविध प्रकार के हैं) होते हुए भी माला की एक सूत्रता सर्वथा अनाहत है। डा0 राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Fundamental Unity of India" में इसी विशेषता का विशद विवेचन किया है।

संश्लिष्टता :- भारतीय संस्कृति में संश्लिष्टता की प्रधानता है-विश्लिष्टता की नहीं। जो संस्कृति सहस्त्रों वर्षों का इतिहास अपने में समाविष्ट किए हुए हो, उसमें ऐसी अनवच्छिन्नता नहीं देखने में आती, जैसी भारतीय संस्कृति के इतिहास में है। आज से पाँच सहस्त्र वर्ष पूर्व के आर्य-जीवन के मौलिक तत्त्व आज भी हतें प्रेरणा देते और अनुप्राणित करते हैं। यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति केवल आर्य संस्कृति नहीं है, भले ही उसमें आर्यों के मानदण्डों और मान्यताओं की प्रधानता हो। संश्लिष्ट रूप में वह भारत भूमि में पोषण प्राप्त करने वाली अनेक संस्कृतियों का समन्वय और सम्मिश्रण है। यह समन्वय और सम्मिश्रण का एक दो दिन या एक

दो वर्ष के प्रयासों का फल नहीं, महात्माओं के जीवन के जीवन समर्पित हो गए हैं, इसे संप्राप्त करने में। विश्वामित्र और अगस्त्य के स्मारक के रूप में भारतीय संस्कृति की यह संश्लिष्टता उसकी प्रमुख विशेषता है। सभ्यता के चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई अन्य संस्कृतियाँ भी आज धरित्रीतल पर है, जिनका इतिहास धार्मिक असहिष्णुता, वैचारिक विरोध और सैद्धान्तिक विद्वेष का इतिहास है। इसके साथ ही प्रारम्भ में वे जो कुछ थी, उनके उस रूप में आज आमूल परिवर्तन हो गया है। स्पष्ट देखा जाता है कि उनमें विश्लिष्टता तथा विघटन की प्रधानता है। इसके विपरीत होने के कारण ही भारतीय संस्कृति की वरीयता स्वीकार की जाती है।

अवसरानुकूलता तथा गतिशीलता :- उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय-संस्कृति में रूढ़िवादिता की प्रधानता है। यद्यपि आज बहुत से सभ्य देशों के विद्वानों का यह विचार है कि भारत के लोग रूढ़िवादी हैं और उनकी संस्कृति तथा सभ्यता में गति का अभाव है, नमनीयता नहीं है, युग के अनुरूप विकास के मार्ग पर बढ़ने की क्षमता नहीं है, परन्तु निस्संदेह यह एक बहुत बड़ा भ्रम है, जो दीर्घकाल से लोगों की विचार-परम्परा को आक्रान्त किए हुए हैं। भारतीय संस्कृति की तो यह प्रधानता विशेषता रहीहै और अब भी है कि परिवर्तन और क्रान्ति के लिए उसके द्वार सदा खुले रहे हैं। युगों के परिवर्तन के साथ आदर्श और मानदण्ड बदलते रहे हैं। वैदिक, ब्राह्मण, पौराणिक तथा मध्य युगों की मान्यताएँ अपने मौलिक आधारों को सुरक्षित रखते हुए भी युग के अनुरूप कितनी बदल चुकी है, इसे भारतीय संस्कृति का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है। संस्कृति में अवष्टंभ (Stagnation) समाज के सांस्कृतिक अवसान के समान है और भारतीय संस्कृति जितने ज्वलन्त और प्रकाशमान रूप में जीवित है, उसे कौन नहीं जानता है ?

अवश्व ही संस्कृति की इस निरवच्छिन्न धारा में जब कभी जो भी आड़े आए हैं वे धारा के प्रवाह-सौन्दर्य में वृद्धिकारक ही सिद्ध हुए हैं। यूनान और मिस्र की प्राचीन संस्कृति का जो स्वरूप था वह आज आमूल और चूडान्त परिवर्तन के गह्वर में विलीन हो चुका है। वहाँ एक सर्वथा नवीन संस्कृति ही प्रसृत हो रही है। भारत के साथ ऐसा नहीं हुआ और यही भारतीय संस्कृति की अवसरानुकूलता और गतिशीलता की अनोखी विशेषता थी। एक बात और भी है, यहाँ जो परिवर्तन हुए, वे जनमानस की पुकार के उत्तर थे। सर्वमान्य तथ्य है कि भारतीय संस्कृति में समाज के सभी वर्गों का पर्याप्त योगदान रहा है। धार्मिक सुधार भी हुए हैं तो प्रेम तथा

सद्भावना के वातावरण में–क्रूसेडों (धर्म–युद्धों–Crusade Wars) के माध्यम से नहीं। भारत पर यह सर्वथा विजातीय प्रभाव है, जो आज धर्म और भाषा के नाम पर वैमनस्य जड़ें पकड़ता है। भारतीय संस्कृति कभी भी इसकी अनुमति नहीं देती। यहाँ शैव, शाक्त, वैष्णव योगी और वेदान्ती सब एक दूसरे की पूर्ति सी कर देते हैं। ये लोग चार्वाकों और अनीश्वर–वादियों से सस्नेह शास्त्रार्थ करते हैं।

पारभौतिकता तथा सूक्ष्मता :- भारतीय संस्कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है–भौतिक की तुलना में पारभौतिक तथा स्थूल की तुलना में सूक्ष्म को प्रधानता देना। इस पुण्य भूमि पर विचारक मनीषियों को न्यूनता कभी नहीं रही। संसार के विद्वान जानते हैं कि सहस्त्रों वर्ष पूर्व के जिस युग में विश्व के अन्य देशों में विद्यमान मानव अन्न–वस्त्र जैसी जीवन की दैनिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सचेष्ट थे, उसी समय भारत के ऋषि और मुनि लोग इसकी पूर्ति से निश्चिन्त और इनसे बहुत ऊपर उठकर इस लोक के परे जो रहस्मयी विविधा है, उसके रहस्योद्धाटन में व्यस्त थे। दार्शनिक चिन्तन का जो सूत्रपात ऋग्वेदकाल में हुआ, जो आज भी विश्व में भारत की मान–मर्यादा का एक मुख्य अंग बन चुकी है। "भारत का प्रत्येक व्यक्ति दार्शनिक है।" यह धारणा सर्वथा निर्मूल नहीं। सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति के आदि काल से ही व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।

स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म को अधिक महत्व देने की प्रवृत्ति ने जहाँ दार्शनिकता का विकास किया, वहीं दूसरी ओर भौतिक की अपेक्षा पारभौतिक को श्रेय मानने की प्रवृत्ति ने भारतीय आचार–शास्त्र तथा नीति–शास्त्र को प्रभावित किया।

तात्पर्य यह है कि इन विद्वानों के द्वारा लिखित सांस्कृतिक तत्त्वों का समन्वय किया जाये तो हम इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच सकते है कि इनमें से अधिकांश तत्त्व सामाजिक व्यवस्था–वर्ण्यव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, नारी की दशा, पारीवारिक जीवन, रहन–सहन, खान–पान और मनोरंजनों के साधनों से सम्बन्धित हैं तो दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से व्यवसाय और उसमें निहित राजकीय प्रबन्धन तथा तीसरी ओर राजनीतिक संरचना, संगठन प्रशासनिक व्यवस्था, धार्मिक विश्वास, क्रियाकलापों, संस्कारों की स्थिति एवं जीव, ब्रह्म, माया, जगत एवं मोक्ष के साधन चतुष्ट्य तथा दार्शनिक मतों का उल्लेख है अतः शोधकर्त्री संक्षिप्त में महाभारत की

सांस्कृतिक व्यवस्था के लिए इन्हीं तत्त्वों का अवलम्बन लेकर अपने शोध कार्य का विश्लेषण करेगी महाभारत में प्रतिबिम्बित सांस्कृतिक तत्त्वों के साथ ही संक्षिप्त रूप में उसके काल निर्णय या रचनाकाल पर प्रकाश डालना समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि भारतीय समाज में महाभारत का जितना प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वह उसकी सांस्कृतिक उपादेयता एवं जीवन को प्रभावित करने वाले तत्त्वों पर आधारित है। सचमुच महाभारत का कृतित्व इतना विशाल है कि गर्व पूर्वक यह घोषणा की जा सकती है। कि जो कुछ महाभारत में है वो दुनिया में है। जो महाभारत में नहीं है वह कहीं भी नहीं है।

"धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदि हास्ति तद्न्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।"[1]

इसलिए महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन आज अत्यन्त प्रासंगिक है।

---

(1) म0 भा0 आदिपर्व 2/390

संस्कृति के समीक्षात्मक अध्ययन का उद्देश्य

रामायण और महाभारत भगवान के शब्द वपु कहे गये हैं। महाभारत में कुरुवंश की कथा–उसके विभिन्न पात्रों की वंशावलियों के साथ उसके जीवन की कथा एवं सांस्कृतिक प्रबलता निहित है। महाभारत में व्यक्ति विशेष में क्या सांस्कृतिक तत्त्व समन्वित हैं। यह भी विशेष रूप ही आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बना है। सबसे उद्देश्य पूर्ण संस्कृति विदुर में ही निहित देखी जा सकती है। और श्रीभगवान कृष्ण के आदर्शपूर्ण गीता का उपदेश भी एक संस्कृति का जीता जागता स्वरूप था। अगर हम गीता में निहित आदर्शों की ओर दृष्टि डाले और आज के समय में हम उनका अनुगमन करें तो एक आदर्शता की ओर हम अग्रसर होते हुए प्रतीत होते हैं। मानव एक संवेदनशील प्राणी है। वह दो पहलुओं में से एक पहलू को चयन्ति करता है। वह चाहें तो आदर्शशील प्राणी हो सकता है। या स्वेच्छाचर हो सकता है। इस महाकाव्य में विशेष रूप से कौरव–पाण्डवों के जीवन चरित्र, युद्ध में पाण्डवों की विजय की महागाथा विनियस्थ है। घटना के पूर्व निष्कर्ष या द्रष्टान्तों के रूप में व्यास ने इसके फलक को अत्यन्त विस्तार रूप दिया है। जिससे यह महाभारत ग्रन्थ न भूतों न भविष्यति की श्रेणी में आ गया है।

महाभारत के प्रणेता औ रचनाकाल के साथ ही उसकी कथा तथा उससे निष्पन्न सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा करना शोधकर्त्री का प्रथम उद्देश्य है। शोध के क्षेत्र में महाभारत पर काफी कार्य हुए हैं। अपने वैदुष्य कथाविस्तार, महाकाव्यात्मक औदात्य, धर्म दर्शन सांस्कृतिक तत्त्वों की दृष्टि से यह ग्रन्थ भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। पौराणिक शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ नृतत्व शास्त्रीय दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है, इसलिए विद्वानों ने जहाँ एक ओर महाभारत का अर्थ काव्य और युद्ध से वर्णन लिया है वहीं दूसरी ओर इसे विश्व कोष माना है। अतः शोधकर्त्री ने सम्यक सामग्री का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिए इसके सांस्कृतिक अध्ययन हेतु इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक इस प्रकार रखा है। महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन इस अध्ययन के कुछ और उद्देश्य व्यंजित स्वतः हो रहे हैं।

अध्ययन की वैविधगत स्वरूप को व्यवस्थित करने के लिए शोधकर्त्री ने भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा संस्कृति के तत्त्वों का विश्लेषण किया है। और देखा है कि परिभाषाओं में मनुष्य समाज के विभिन्न आवश्यक तत्त्वों का इनमें उल्लेख है। ये तत्त्व सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और दार्शनिक इकाइयों और स्तरों के हैं। अतः शोधकर्त्री ने महाभारत के सांस्कृतिक तत्त्वों का अध्ययन अपना प्रमुख उद्देश्य बनाया है। क्योंकि शोधकर्त्री यह अनुभव

करती है कि मनुष्य को दो स्तरों पर जीना पड़ता है।

(१) शारीरिक स्तर परः- जिसमें वह भोजन, वस्त्र, खान-पान, रीति-रिवाज आदि भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

(२) मानसिक स्तर :- जिसमें उसे आत्मा की शान्ति हेतु किये गये विविध कर्मकाण्ड चिंतन धार्मिक विचार, संस्कार, योग साधन, ब्रह्म, जीव, जगत, माया, की परिकल्पना सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त करता है। शोधकर्त्री ने प्रथम अध्ययन हेतु महाभारतकालीन सामाजिक संरचना और आर्थिक, राजनीतिक संरचना का अध्ययन कर तद्‌युगीन सामाजिक संरचना का चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया है। इससे जहाँ एक ओर महाभारतकालीन समाज स्वरूप एवं पूर्ववर्ती वैदिक युगीन समाज से उसके साम्य, वैषम्य का चित्रण हो सका है। वहीं दूसरी ओर महाभारतकालीन समाज की उदारता का स्वरूप भी दिखाई देता है।

शोधकर्त्री ने अन्य उद्‌देश्यों में महाभारत में चित्रित दार्शनिक एवं धार्मिक चिन्तन क्रिया, व्यवहार, साधना पद्धतियों स्वर्ग नरक, मोक्ष की परिकल्पना और परिवर्ती समाज में पड़े हुए, उसके प्रभावों का भी मूल्यांकन किया गया है। निष्कर्ष रूप में शोधकर्त्री का मुख्य उपदेश महाभारतकालीन समाज का सांस्कृतिक एवं गौण उद्‌देश्य सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक अध्ययन के सिद्धान्तों और व्यवहारों को प्रस्तुत करना है।

शोध सांस्कृतिक अध्ययन की प्रविधि :- शोध अध्ययन में प्रायः दो प्रकार की प्रविधियाँ अपनायी जाती हैं। प्रथम के अन्तर्गत शोध सम्बन्धी तथ्यों परिस्थितियों तत्त्वों का एकीकरण कर उनका विश्लेषण कर एवं उनके उनूसुयूत तथ्यों सिद्धान्तों निष्कर्षो को प्रतिपादित किया जाता है। द्वितीय प्रविधि के अन्तर्गत शोध छात्र पहले एक पूर्व निर्धारित सिद्धान्तों की यथा सम्भव सत्यपरक परिकल्पना (हाइपोथोसिस) करता है। इन्हीं तथ्यों की पुष्टि वह अपने आलोच्य ग्रन्थ के उदाहरणों से करता है।

शोधकर्त्री ने प्रथम पद्धति का अवलम्बन लिया है। उसकी दृष्टि में यही सही वस्तुपरक वैज्ञानिक पद्धति है शोधकर्त्री ने मान्य विश्रुत आलोचनात्मक या शास्त्रीय ग्रन्थों के आलोक में महाभारत के तथ्यों का उल्लेख किया है। एवं उनसे निष्कर्ष निकाल कर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध विद्वानों के अध्ययनगत निष्कर्षों से अपने मत की पुष्टि या साम्य वैषम्य मत की पुष्टि की है। इस प्रकार शोधकर्त्री ने सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्णय कर विभिन्न सैद्धान्तिक ग्रन्थों से उसका स्वरूप निर्धारित किया है। और महाभारत के उदाहरण देकर आगमन और निगमन शैली का प्रयोग कर इस शोधकार्य को पूर्ण किया है।

महाभारत में प्रतिबिम्बित संस्कृति के अध्ययन की विधि

महाभारत की सार्वजनिक एवं सार्वकालिकता का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। साथ ही संस्कृति के स्वरूप को निर्धारित कर उसके समन्वित तत्त्वों का उल्लेख हो चुका है। इन्हीं तत्वों के आधार पर महाभारत में प्राप्त विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन हेतु मूलतः महाभारत के श्लोक एवं उसकी पुष्टि हेतु कुछ कथायें एवं विशिष्ट विद्वानों के उदाहरण दिये जायेगें संस्कृत के तत्त्वों को यदि मोटे तौर पर वर्गीकृत किया जाये तो अधिकांश तत्त्व या तो सामाजिक संरचना एवं संगठन, आर्थिक स्रोत साधन, राजनीतिक संगठन, धार्मिक एवं दार्शनिक तथा आध्यात्मिक मतों के अतर्गत आ जाते हैं। इसी को दृष्टिपत में रखकर शोध प्रबन्ध के अगले अध्यायों में सामाजिक क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले कारक तत्त्वों की व्याख्या की जायेगी।

सारांश यह है कि महाभारत ग्रन्थ सूचक शब्द होने के साथ ही साथ युद्ध जैसी घटना का भी सूचक है। इसे विकसनशील महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त है। इसमें कौरव–पाण्डवों की पारिवारिक इतिवृत्ति का वर्णन है। महाकवि व्यास ने अपनी कल्पना शक्ति के माध्यम से इस कथा को ऐसी प्रतिकात्मिकता के रूप में की गयी है। जिसमें जीव, जगत के सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों के जीव अनुभव विनियस्त हैं। व्यास पद या व्यक्ति का नाम है यह उतना ही विवादस्पद है जितना कि स्वयं महाभारत व्यास ने इसकी महत्ता निरूपित करते हुए इसे न भूतों न भविष्यति रूप में प्रस्तुत कर कहा है कि जो कुछ संसार में है वह महाभारत में है। जो महाभारत में नहीं तो कहीं नहीं। इस युद्ध की कथा को शान्ति रूप में वर्णित कर व्यास ने तद्‌युगीन सामाजिक जीवन की ऐसी झलक प्रस्तुत की है कि आज भी वह अपनी प्रासिंगता बनाये हुए हैं। शोधकर्त्री ने बहुश्रुत, बहुपठित विशालकाय कलेवर वाले महाकाव्य का सांस्कृतिक अध्ययन करने के पूर्व महाभारत का आर्थिक स्वरूप विस्तार रचनाकाल तथा उसमें चित्रित सांस्कृतिक रूप के लिए भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्णीत संस्कृति के लक्षणों को लिखा है। ये लक्षण मुख्यतः दो स्तर के हैं वाह या भौतिक स्तर और आन्तिरक स्तर वस्तुतः संस्कृति मानव जय यात्रा का एक चरण है। सोपान है। जिसके माध्यम से धर्म, दर्शन, कला सांसारिक जीवन यापन के उपस्कारक तत्त्वों का उल्लेख होता है। महाभारत की संक्षिप्त परवानुसार कथा देकर इसे रूपक रूप में उल्लिखित कर फलश्रवण का विवरण भी शोधकर्त्री ने दिया है। कहना नहीं होगा कि देशी विदेशी विद्वानों समीक्षकों एवं महाभारत के अध्ययन कर्त्ताओं द्वारा प्राप्त निष्कर्ष को आधार बनाकर महाभार के श्लोकों से पुष्टि कर उसके महात्व का मूल्यांकन इस अध्याय में किया गया है।

महाभारतकालीन सामाजिक संरचना, संगठन का संस्कृतिपरक अध्ययन

क— महाभारत में वर्ण व्यवस्था की स्थिति

ख— महाभारतक़ालीन वैवाहिक व्यवस्था

ग— महाभारतकालीन पारिवारिक जीवन

घ— महाभारत में वर्ण व्यवस्था एवं वर्णाश्रम धर्म कापालन

ड— महाभारत में नारी की दशा

च— महाभारत में वर्णित राजकीय शिक्षा का अन्य वर्गीय शिक्षा पर प्रभाव

छ— महाभारतकालीन रहन—सहन एवं भोजन व्यवस्था

ज— महाभारतकालीन दास प्रथा

झ— महाभारत में वर्णित वेशभूषा एवं आभूषण

अ— महाभारत में आमोद—प्रमोद की स्थिति

ट— भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन की स्थिति

ठ— आवागमन के साधनों का प्रयोग

अध्याय-द्वितीय

महाभारतकालीन सामाजिक संरचना, संगठन का संस्कृति परक अध्ययन

मूलतः मनुष्य सामाजिक प्राणी है पश्चिमी विचारकों ने समाज को व्यवस्थित करने के लिए अनेक सिद्धान्तों की अवधारणायें प्रस्तुत की हैं। वस्तुतः समाज को शिक्षित करना उसकी सुरक्षा उसके आर्थिक तत्त्वों का संतुलन रखना एवं समाज की सेवा करना ऐसे मूल तत्वों को केन्द्रबिन्दु में रखकर बौद्धिक सुरक्षा आर्थिक और सेवा व्यापार के लिए सामाजिक संरचना की परिकल्पना की हैं आगे चलकर पश्चिमी सभ्यता में इन व्यवस्थाओं के मूलकारक तत्त्व नष्ट होते गये जब कि भारतीय व्यवस्था में इन्हीं गुणों के आधार पर सामाजिक संरचना का जो ढ़ाचा खड़ा हुआ उसमें वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वर्ण व्यवस्था का मूलाधार बौद्धिकता सुरक्षा आर्थिक समानता सेवा सुश्रूषा हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति दैवी मानली गयी, इस व्यवस्था के गुण और दोषों का विश्लेषण करते हुये डॉ0 राधा कृष्णन् ने लिखा है कि भारतवर्ष में कुछ विशेष परिस्थितियों और कारणों से वर्ण विभाजन एक अत्यन्त सूक्ष्म और कठोर व्यवस्था के रूप में स्थापित हो गया आधुनिक काल में अधिकांश विचारक वर्ण व्यवस्था को भारतीय समाज का दोष मानते हैं किन्तु धर्म और संस्कृति की रक्षा में वर्ण व्यवस्था ने भारतीय समाज का अत्यन्त उपकार किया है इसी परिप्रेक्ष्य में धर्म एवं संस्कृति की संरक्षा में वर्ण व्यवस्था के योग का मूल्यांकन भी अपेक्ष है।[1] गीता में श्रीकृष्ण ने स्वयं लिखा है-"मैंने चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण-कर्म के आधार पर की है-चातुर्वर्ण्य 'मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः' सामाजिक जीवन इस काल में भाग्य की अपेक्षा कर्म-पौरुष पर विश्वास करता था। महाभारत में अनेकशः इस बात को प्रतिपादित किया गया है। पुरुषार्थ अधिक श्रेष्ठ है। "जिनके पास दैव-प्रदत्त उँगलियों वाले हाथ हैं, उन्हें और क्या चाहिए? निश्चय ही उनके लक्ष्य की सिद्धि होगी। जिनके पास हाथ हैं, उन्हीं के लिए मेरे मन में सच्ची सराहना है। तुम भले ही धन की ओर ताको, मैं तो इन हाथें की ओर देखता हूँ। पाणिलाभ से बढ़कर भी कोई दूसरा लाभ इस विश्व में नही है।[2]

(1) इण्डियन फिलॉसफी भाग-1-1/2 (2) म0भा0शा0 पर्व0, 170/11-12

महाभारत में वर्ण व्यवस्था की स्थिति

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति वृ धातु से हुई है। जिसका अर्थ है चुनना या वरण करना। ऋग्वेद में वर्ण अनेकार्थो शब्द है। जिसका एक अर्थ रंग भी है। प्राचीन मण्डलों में आर्यो एवं अनार्यो की त्वचा के रंग के आधार पर पृथक-पृथक दिखलाने के लिए गौर एवं श्याम रंगों के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[1] यद्यपि यह विवादस्पद सिद्धान्त है कि द्विजों का रंग गौर माना गया है। और शूद्रों का कृष्ण बाद में सामन्जस्य के कारण आर्यो में भी कृष्ण वर्ण के लोगों का होना स्वाभाविक था।[2] महाभारत में भी वर्ण शब्द का प्रयोग रंग के अर्थ में भी हुआ है। किन्तु इसका सम्बन्ध आर्य और अनार्य से न होकर चतुर्वर्ण्य से है।[3] महाभारत में जो वर्ण विभाजन की जो परम्परा मिलती है उसमें समाज को चार भागों में बाँटा है। मूलतः यह परिकल्पना ऋग्वेद (10/90) की अवधारणा पर अवलम्बित है। जिसमें समाज की एक विराट पुरुष के रूप में कल्पना की गयी है।

चीन :- (सभा पर्व 41/23, वन पर्व 177/12 एवं उद्योगकर्ा 19/15) में भी इसका उल्लेख हुआ है।

पारशव :- आदि पर्व (109/25) में विदुर को पारशव कहा गया है उनका विवाह पारशव राजा देवक की पुत्री से हुआ है।

फण्ड्र या पौण्ड्रक :- महाभारत में यह अनार्यों में परिगणित है। (द्रोण0 19/44, आश्वमेधिक0 29/15-16)

यवन :- महाभारत में यवन लोग शकों तथा अन्य अनार्यों के साथ वर्णित है। (सभापर्व 32/16-17, वनपर्व 254/18, उद्योग पर्व 19/21 भीष्म पर्व 20/13, द्रोण पर्व, 93/42 एवं कर्ण पर्व 73/19, शान्ति पर्व 65/13, स्त्री पर्व 22/11) ज्ञात होता है कि सिन्धु एवं सौवीर के राजा जयद्रथ के अन्तःपुर में कम्बोज एवं यवन स्त्रियाँ थीं। पाणिनि महाभाष्य (2/4/10, विष्णु पुराण 4/3/21 में यवनों की चर्चा हुई है।

सैरिन्ध्र- महाभारत में सैरिन्ध्री के रूप में द्रौपदी ने विराट-रानी की ये सेवाएँ की हैं-केशों को

(1) मोस्ट एसियण्ट आर्यन सोसायटी-डॉ0 आर0सी जैन, पृ0-109 (2) ओरिजेन्ट एण्ड डेबलप मेन्ट ऑफ कॉस्ट जी0के0 पिल्लै, पृ0-36 (3) जे0ए0ओ0एस0 भाग-13, पृ0-74

सँवारना, लेपन करना, माला बनाना (विराट पर्व 9/18-19)। इसी प्रकार दमयन्ती चेदिराज की माता की सैरिन्ध्री बनी थी (वन पर्व 65/68-70) आदि पर्व के अनुसार सैरिन्ध्र मृगों को मारकर राजाओं के अन्तःपुरों एवं छुटकारा पायी हुई नारियों की रखवाली करने अपनी जीविका चालाने वाली थी।

वर्ण :- अनुशासन पर्व (48/1) में उल्लेख है कि धन, लोभ, काम, वर्ण के अनिश्चय एवं वर्णों के अज्ञान से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। भगवद्गीता (1/41-43) नामक दार्शनिक ग्रन्थ में भी आया है-जब नारियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं, वर्ण संकरता उपजाति है।

(अनु0 33/21-23 के 35/17-18) ने शकों, यवनों कम्बोजों, द्रविड़ों, दरदों, शबरों, किरातों आदि को मूलतः क्षत्रिय माना है।

ब्राह्मण :- समाज के चारों वर्ण उस पुरुष के अंगों से उत्पन्न हुए हैं। उस आदि पुरुष के मुख से ब्राह्मणों का बाहु से क्षत्रियों का जंघाओं से वैश्यों का और पैरों से शूद्रों का उत्पन्न होना कहा गया है। महाभारत के भीष्म पर्व में भी यही बात कही गयी है।

(1) मुखतः सोऽसृजद् बाहुभ्यां क्षत्रियांस्तथा।
वैश्यांश्राप्यूरुतो राजञ्शूदान् वै पादतस्तथा।[1]

(2) ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्राह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च।।[1]

(3) वर्णानां परिचर्याथै त्रयाणां भरतवर्षभ।
वर्णश्चतुर्ण्यः पश्चात्तु पद्भयां शूद्रो विनिर्मितः।।[2]

(4) मुखजा ब्राह्मणास्तात बाहुजाः क्षत्रियाः स्मृताः।
ऊरुजा धनिनो राजन् यादजाः परिचारकाः।।[3]

महाभारत में यह कई बार आया है कि ब्राह्मण जन्म से पूज्य है।

जन्मैव महाभागे ब्राह्मणे नाम जायते।
नमस्यः सर्वभूतानामतिथिः प्रसृताग्रभुक्।। (अनु.35/1, वही 143/6)

(1) महा0 भा0 भीष्म पर्व आ0 67/18-19 (2) महा0 भा0 शान्ति पर्व 62/4-5 (3) वहीं शान्ति पर्व 296/6

किन्तु कई स्थलों पर जन्म पर आधारित जाति की भर्त्सना भी की गयी है।

सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता।

साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप।।[1]

महाभारत में द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा (द्रोण के पुत्र), कृपाचार्य (अश्वत्थामा के मामा) नामक योद्धा ब्राह्मण थे। शल्यपर्व (65/42) के अनुसार राजा की अरुता से ब्राह्मण को युद्ध करना चाहिए।

राज्ञो निपोगाद योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।

वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः।।[2]

इस प्रकार महाभारत में समाज की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त प्रतिपादित है इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन चारों वर्णों में सामान्य वर्ण के स्त्री पुरुष से उत्पन्न सन्तान की माता-पिता के वर्ण से ही परिचित होती थी। आधुनिक युग में वर्ण व्यवस्था को न स्वीकार कर भारतीय पश्चिमी विचारक इन्हें जाति मान लेते हैं यद्यपि गीता में भगवान् कृष्ण ने जन्मना वर्ण व्यवस्था को कर्मणा कहा है समाज में श्रम विभाजन के साथ-साथ कर्म विभाजन भी इसी रूप में प्रचलित था।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणाकर्म विभागशः।

तस्य कर्ताश्मपि मा विद्धथकर्तारमव्ययम्।।[3]

महाभारत (अनुशासन पर्व 61/19) आदि में ब्राह्मणों के सादे जीवन पर बल दिया गया और उन्हें धन संग्रह से दूर रहने को उद्वेलित किया गया है। इसमें ब्राह्मणों का बहुधा गुणगान किया है। आदि पर्व (28/3-4) के अनुसार ब्राह्मण जब क्रुद्ध कर दिया जाता है तो वह अग्नि, सूर्य, विष एवं शस्त्र हो जाता है; ब्राह्मण सभी जीवों का गुरु है। वन पर्व (303/16) का कहना है कि ब्राह्मण अति उच्च तेज एवं अति उच्च तप है; ब्राह्मणों को प्रणाम करने के कारण ही सूर्य स्वर्ग में विराजमान है। अनु0 (33/17) एवं शा0 (56/22) में भी ब्राह्मणों की महत्ता का वर्णन है।

अग्निरर्को विषं शस्त्रं विप्रो भवति कोपितः।

गुरुर्हि सर्वभूतानां ब्राह्मणः परिकीर्तितः।।[4]

---

(1) वन0 181/42-43, उद्योग 43/20 एवं 49, शा. 188/10, 189/4 एवं 8, वन. 216/14-15, 313/108-111 (2) शल्य पर्व 65/4 (3) गीता 4/13 (4) आदिपर्व 28/3-4, आदि पर्व 81/23

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में भी दैविक उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है।[1]

ब्राह्मणो हि परं तेजो ब्राह्मणो हि परं तपः।

ब्राह्मणानां नमस्कारैः सूर्यो दिवि विराजते।।[2]

यहाँ चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक के कर्म लक्षण और उनके सामाजिकीय योगदान तथा श्रेष्ठ या हीनत्व पर विचार किया जायेगा।

(क) ब्राह्मण के लक्षण एवं कर्त्तव्य :- महाभारत में यह कहा गया है, कि जन्म ना कर्म निश्चित होता है जिसका परित्याग नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ब्राह्मण श्रेष्ठ कहा गया है वह पूज्यनीय है व्यास ने अपने पुत्र शुक देव से ब्राह्मणों का महात्म्य स्थापित करते हुये ये कहा है कि बहुत से जन्मों के सुकर्मो के फलों के स्वरूप ही प्राणी ब्राह्मण कुल में जन्म लेता है। वेदाध्ययन, तपस्या उसके महत्त्वपूर्ण कर्म हैं।

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव।

मरणं मानुषो भावः परिवांदोऽस्तामिव।।[3]

योऽध्यापयेद धीयीत् यजेद् वा याजयीत वा।

दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मण विदुः।।

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुंगवः।

स्वाध्यायवानमत्तो वैत्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।।[4]

यद्यपि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण होता है और उसी के अनुरूप उसका संस्कार किया जाता है इस परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण के विस्तृत कार्यों का उल्लेख किया गया है जिसमें तपस्या, गुरुसेवा, ब्रह्मचर्य पालन, हवन, तपर्ण, अग्नियाधान, आदि प्रमुख है।

इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्यु तक ब्राह्मण के कर्मों का उल्लेख महाभारत में अनेक स्थानों पर हुआ है।

तपसा गुरुवृत्या च ब्रह्मचर्येण वा विभो।

देवतानां पितृणां चाप्यनृणो हननसूयकः।।

---

(1) वनपर्व 303 (2) ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/3, 6/4/4 शतपथ ब्राह्मण 14/4/2/3 वृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/11-15 (3) महा वनपर्व 313/50 (4) महा0 वनपर्व 206/36-37

वेदानधीत्यं नियतो दक्षिणामपवर्ज्य च।

अभ्यनुज्ञामथ प्राप्य समावर्तेत वै द्विजः।।

सभावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदार निरतोवसेत्।

अनसूः युर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च।।[1]

राजधर्मानुशासन खण्ड में वैश्यम्पायन ने ब्राह्मण धर्म का पालन करते हुये इन्द्रीसंयम, स्वाध्याय, अहिंसा और सब के प्रति मैत्रीभाव ब्राह्मण के धर्म या कर्म कहे गये हैं।

स्वाध्यायभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते।

तं चेद् द्विजमुपागच्छेद वर्तमानं स्वकर्मणि।।

अकुर्वाणं विकर्माणिशान्तं प्रज्ञानतर्पितम्।

कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद् यजेत च।

संविभज्य च भोक्तव्यं धेनं सद्भिरि तीर्यते।।

परिनिष्ठित कार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।

कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।।[2]

कौशिक ब्राह्मण और पतिव्रता उपाख्यान के अन्तर्गत ब्राह्मणों के लक्षण, गुण और कर्मों का विस्तृत विश्लेषण हुआ है। पतिव्रता स्त्री कौशिक को उपदेश करती हुई कहती है।

यः क्रोध मो हौ व्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

यो वदेदिह सत्यानि गुरुं संतोषयेत च।।

हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

जितेन्द्रियो धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शुचि।।

कामक्रोधौ वशौ यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

यस्य चात्मसमो लोका धर्मज्ञस्य मनस्विनः।।

सर्वधर्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

योऽध्यापयेदधीयते यजेद् वा याजयीत वा।।

---

(1) महा0 शा0 326/15-17 (2) महा0 शा0 60/9-12

दद्याद् वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः।

ब्रह्मचारी वदान्यो योऽधीयीत द्विजपुंगवः।।

स्वाध्यायवानमत्तो वैतं देवा ब्राह्मणं विदुः।

यद् ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्तयेत्।।

सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः।

धर्मे तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम्।।

इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम।[1]

इसी प्रकार भरद्वाज, भृगु संवाद में संस्कार से बने ब्राह्मण की षट् कर्मों की चर्चा की गयी है।

जात कर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः।

वेदाध्ययन सम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः।

शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियाः।

नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्चते।।

सत्यं दानमथाद्रोह आन्तशंस्यं त्रया घृणा।

तपश्च दृश्यते यत्र स ब्रह्मण इति स्मृतः।।[2]

महाभारत में यत्र-तत्र ब्राह्मण वृत्ति (शान्ति 76-78) की चर्चा उपलब्ध है। इस प्रकार महाभारत में अनेक कथाओं उपकथाओं के माध्यम् से ब्राह्मण के वैयक्तिक आचरण और सामाजिक कृत्यों की व्याख्या विभिद् रूपों में हुई है, हमें यह भी देखना चाहिए कि जो कथा उदाहरण रूप में दी गयी है, उनसे मेल खाते हैं। या नहीं? अश्वत्थामा जन्मना ब्राह्मण था लेकिन कर्म उसके क्षत्रिय के थे इसलिए भीम ने उसका वध नहीं किया।

जित्वा मुक्तोद्रोण पुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च।[3]

विश्वामित्र क्षत्रिय कुलोदभव थे, किन्तु वशिष्ठ के सामने उन्हें अपमानित होना पड़ा। निष्कर्ष यह है कि महाभारत में कहे गये सम, दम, आदि गुण न होने पर भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति असाधु ब्राह्मण माना जाता था/भीरू क्षत्रिय, चार्तुहीन वैश्व एवं प्रतिकूल आचरण करने

(1) महा0 शा0 206/33-39 (2) महा0 शा0 129/2-4 (3) शौ0 पर्व0 16/32

वाला वैश्व भी असाधु कहलाते थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जाता है, कि मनुष्य जिस वर्ण में पैदा होता है। वही उसका वर्ण होता था, कर्म चाहे जिस वर्ण का करें यहाँ हम ब्राह्मण विरुद्ध कर्म करने वाले निषिद्ध कर्म करने वाले का भक्षाभक्ष्य भोज्य की चर्चा कर ब्राह्मणत्व की महत्ता का वर्णन करेगें। महाभारत में ब्राह्मणों (अनु.33/11) के कई प्रकार बताये गये हैं।

(ख) ब्राह्मण के भक्ष्याभक्ष्य एवं निषिद्ध कर्म :- महाभारतकार ने ब्राह्मण की सर्वोच्च सत्ता प्रतिपादित करते हुये यह कहा है कि बाल से लेकर वृद्ध तक ब्राह्मण सम्मान समपूज्य है चाहे वह मूर्ख ही क्यों न हो।

येषां वृद्धाश्च, बालश्च सर्वः सम्मानमर्हति।[1]

ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण के लिए खाद्य पदार्थ एवं जीवनोपयोगी व्यवहारिक कर्मों के विधिनिषेधों का वर्णन भगवान वेदव्यास ने किया है। ब्राह्मणों के लिए बैल, मिट्टी, मत्स्य, कच्छक, हंस, गरुण, चक्रवाक, चतुष्पद्, जीव, अभक्ष्य कहे गये हैं।

अनड्वान मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च।।
अभक्ष्या ब्राह्मणैमत्स्याः शल्कैर्य वै विवर्जिताः।
चतुष्पात् कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्चये।।
भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवकाः।
काको मंद्गुश्च श्येनोलूकस्तथैव च।।
क्रव्यादा दष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्देष्टाश्च सर्वशः।।
प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच किंचिद्निर्दशम्।
अभोज्य चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम्।।[2]

इसी प्रकार युधिष्ठिर भीष्म संवाद में ब्राह्मणों के विधि निषेधों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वेदाभ्यास, यजनयाजन, दान, आदि विधि कर्म खेती, व्यापार, पशुपालन, दुष्चरित्रता, धर्महीनता, कुल्टा स्त्री से सम्बन्ध रखने वाली पिशुन्ता उसके निषिद्ध कर्म हैं।

---

(1) महा0 अनुशासन पर्व 151/19 (2) महा0 शा0 36/21-26

सेव्यं तु ब्रह्मा पटकर्म गृहस्थेन मनीषिणा।

कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते।।

तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य

दमः शौचमार्जवं चापि राजन्।

तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एवं

पुराराजन् ब्राह्मणावैनिसृष्टाः।

यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्यशीलः

सानुक्रोशः सर्वसहोनिराशीः

ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्

स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा।।

राज प्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा।

कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च क्विर्जयेत्।।

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मान्धु

र्दुश्चारित्रों यश्च धर्मादयेतः।

वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च

राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा।।

जपन् वेदानजपंश्चापि राजन्

समः शूर्द्रैर्दासवचापि भोज्यः।

एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति

राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये।।

निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ

हिंसात्मके व्यक्तधर्मस्व वृत्ते।

हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्

देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै।[1]

---

(1) महा0 शा0 306/2-8

२. क्षत्रिय वर्ण :- क्षत्रिय शब्द 'क्षत्र्' से उद्‌भूत है, जिसका अर्थ है रक्षा या शूरता।[1] ब्राह्मण वर्ण के धर्म और कर्त्तव्य की समीक्षा करते हुए कहा गया है कि वे विद्या, तप, साधन आदि में लीन रहते थे। ऐसे ब्राह्मण की रक्षा के लिए क्षात्र धर्म की कल्पना की गयी जिसकी उत्पत्ति विराट पुरुष की भुजाओं से हुई है। इस प्रकार क्षत्रिय का मूल धर्म रक्षा एवं राज्य की दण्ड शक्ति के द्वारा दुर्गुण को दूर कर रक्षा करना है।

अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्ड धारिणम्।
द्वितीयं वर्णम करोत् प्रजानामनु गुप्तये।।[2]

प्राचीन काल में राजा को लोग ईश्वर सदृश्य पूज्य मानते थे। ऐसे राजा के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए। महाभारतकार ने लिखा है कि इन्द्रिय संयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र अपराध के आधार पर दण्ड देना व्यवहार में न्याय की रक्षा करना क्षत्रिय राजा के परम धर्म हैं।

तस्य राज्ञः यरो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च।
अग्निहोत्र परिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च।।
यज्ञोपवीत धरणं यज्ञो धर्म क्रियास्तथा।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोद्यता।।
सम्यग्दण्डे स्थितिधर्मो धर्मो वेदक्रतुमोद्यता।
व्यवहार स्थिति धर्मः सत्यवाक्यरति स्तथा।।[3]

क्षत्रिय की परिभाषा करते हुए व्यास ने लिखा है-

ब्राह्मणनां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्चते।[4]

इस प्रकार जो मनुष्य क्षत्रियोचित युद्ध यदि कर्मों का सेवन करता, ब्राह्मणों को दान देता है। प्रजा से वह कर्ज लेकर उनकी रक्षा करता है। वह क्षत्रिय कहलाता है।

क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययन संगतः।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्चते,
वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः
वेदाध्ययन सम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।।[5]

---

(1) ऋग्वेद-8135, 16118 (2) महा0 शा0 पर्व 27/7 (3) महा0 अनु0 पर्व 141/49-51 (4) शा0 पर्व0 59/125 (5) महा0 शा0 पर्व0 5-6

जो स्त्री और साधु पुरुषों पर क्षमाभाव रखता है। वही क्षत्रिय है।

क्षतत्राता क्षताजीवन् क्षन्ता स्त्रीष्वपि साधुषु।

क्षत्रियः क्षितिमाप्नोति क्षिप्तं धर्म यशः श्रियः।।[1]

इस प्रकार मानधाता ने क्षत्रियों के कर्त्तव्यों की चर्चा करते हुए ये कहा है। कि युद्ध में प्राण त्याग, समस्त प्राणियों पर दया भाव, विशाद ग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्य को कष्ट से छुड़ाना प्रजा का पालन क्षात्र धर्म के लक्षण हैं।

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा। लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च।

विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां। क्षात्रं धर्मे विद्यते पार्थिवानाम्।।[2]

डुंडक ने रुर को उपदेश करते हुए यह कहा है, कि दण्ड धारण उग्रता धर्मशास्त्रानुसार प्रजापालन क्षत्रिय धर्म है।

दण्डधारणामुग्रतत्वं प्रजानां परिपालनम्।

तदिदं क्षत्रियस्यासीत् कर्म वैश्रणु मे रुरो।।[3]

भीष्मपर्व में कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश करते हुये। शूर वीरता, तेज, धैर्य, चातुर्य, युद्ध से पलायन न करना, दान देना, क्षत्र धर्म के स्वाभाविक कर्म है।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमश्विरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।[4]

संजय ने भी श्री कृष्ण से सुना है। कि क्षत्रिय, स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे वह तो दूसरों को यज्ञ करावे और न ही अध्यापन कार्य करे। इस प्रकार क्षत्रियों के विधि और निषेध कर्मों की चर्चा इस प्रकार की गयी है–

अधीयीत क्षत्रियोऽथो यजेत, यद्याद् दानं न तु याचेत किंचित्।

न याजयेन्नापि चाध्यापयति, एष् स्मृतः क्षत्रधर्मः पुराणः।

तथा राजन्यो रक्षणं वै प्रजानां।

कृत्वा धर्मेणा प्रमत्तोऽथ दत्त्वा, यज्ञैरिष्ट्वा सर्ववेदानधीत्य।

दारान् कृत्वा पुश्यकृदावसेद् गृहान।।[5]

---

(1) महा0 शान्ति पर्व अध्याय 197/4 (2) शान्ति पर्व 64/27 (3) आदि पर्व 11/17 (4) भीष्म पर्व 42/43 (5) महा0 उद्योग पर्व 29/23-24

अस्व्रित धारा पर चलने वाले क्षत्रियों की धर्म की भयंकरता का वर्णन व्यास ने इस प्रकार किया है-

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे विधनं मतम्।

विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममानुसार।

ब्राह्मणानां पतस्त्यागः प्रेत्य धर्म विधिः स्मृतः।

क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो।

क्षात्रधर्मी महारौट्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।

वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे।।[1]

क्षत्रियों के हृदय की कठोरता का जहाँ विधान किया गया है वहीं परोपजीवी होने का निषेध भी है।

(क) क्षत्रियस्य विधीयन्ते परस्वोव जीवनम्।

(ख) क्षत्रियस्य विशेषेण हृद्यं वज्रसंनिभम्।।[2]

हनुमान ने भी भीम को उपदेश करते हुए, क्षत्रिय धर्म में रक्षा के विधान की चर्चा की है।

क्षत्रधर्मोऽत्र कौन्तेय तव धर्मोऽत्र रक्षणम्।

स्वधर्म प्रतिष्ध्यस्व विनीतो नियतेन्द्रियः।।[3]

समाज के रक्षक क्षत्रियों के धर्म के सम्बन्ध में डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है,"क्षत्रियों का बल अन्धबल नहीं था। वह ज्ञान से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ बल था। इसीलिए क्षत्रियों के लिए बल साधना के साथ-साथ अध्ययन का भी विधान था ज्ञान के साधन और मान के साथ-साथ ज्ञान की रक्षा भी क्षत्रियों का प्रमुख धर्म था। ज्ञान का मान और रक्षण हैं। संस्कृति का रक्षण है।"[4] कुन्ती युधिष्ठिर को समझाती हुई कहती है; कि जो क्षत्रिय ब्राह्मण के कर्मों में सहायता करता है,वो उत्तम लोक को प्राप्त करता है।

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कहिंचित्।

क्षत्रियः स शुभाँल्लेकानाप्नुयादिति में मतिः।

---

(1) महा0 शा0 22/3-5 (2) महा0 शा0 22/7-9 (3) वन पर्व 151/37 (4) महाभारत में धर्म डॉ0 शकुन्तला रानी, पृ0-219

क्षत्रिस्येव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम्।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिश्च परत्र च।
वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियों भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजारज्जयते ध्रुवम्।
शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते।।[1]

कहा नहीं होगा कि रक्षा ही धर्म का कर्म है, रक्षा कर्म ही धर्म है, रक्षा कर्म धर्म का केतु है। यही धर्म का सेतु है और इस प्रकार क्षत्रिय चारों वर्णों की रक्षा का भार लेकर देश में सुख और शान्ति की स्थापना करता है। इस रक्षा कर्म के कारण ही राजा को शेष तीनों वर्णों द्वारा किये गये धर्म, कर्मों का कुछ अंश स्वतः ही प्राप्त हो जाता था, क्षत्रियों के पराक्रम से ही दुष्टों का दमन एवं समाज के इतर शत पुरुषों को साहस मिलता है। अपने अक्षयंश कीर्ति के लिए क्षत्रियों ने आत्महूति देने में संकोच नहीं करते थे। वस्तुतः युद्ध करना क्षत्रियों का प्रधान धर्म था। परोपकार करते हुए युद्ध में मृत्यु का वरण क्षत्रिय के लिए स्वर्ग प्राप्त के समान है। श्रीकृष्ण ने जरासंध से कहा था वेदाध्ययन स्वर्ग प्राप्ति का कारण है। परोपकार रूप महान यश भी स्वर्ग का हेतु है, तपस्या को स्वर्गलोक का साधन बताया गया है। परन्तु क्षत्रिय के लिए इन तीनों की अपेक्षा युद्ध में मृत्यु का कारण ही स्वर्ग प्राप्ति का अमोघ साधन है।

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्मं स्वर्गयोनिर्महद यशः।
स्र्वायोनिस्तपो युद्धे मुत्युः सोऽव्यभिचाखान्।।[2]

युद्ध में भयभीत पलायन करती हुई अपनी सेना को सम्बोधित करता हुआ। दुर्योधन यह कहता है कि दीर्घकाल तक पुण्य करने की अपेक्षा युद्ध में वीरगति प्राप्त कर स्वर्ग प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है।

नान्यत् कर्मास्ति पापीयः क्षत्रियस्य पलायनात्।
न युद्ध धर्माच्छेयान् टि पन्थाः स्वर्गस्य कौखाः।।
सुचिरेणार्जितां लोल्कान सद्यो युद्धात् समश्नुमते।[3]

(1) आदि पर्व 161/22-25 (2) महा0 सभापर्व 22/18 (3) शल्य पर्व 3/56-57

डॉ0 रघुवीर शास्त्री ने क्षत्रिय धर्म की व्याख्या वर्णानुसार करते हुए लिखा है, "इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षत्रिय धर्म महत्त्व के विशेषतः दो पहलू हैं। सैनिक और राजनीति इसीलिए हिन्दूराज्य में क्षत्रिय का वही महत्त्व है। जो देवताओं में इन्द्र का शस्त्र धारण कर रक्षा का उत्तरदायित्व संभालने के कारण ही उसको धर्मेन्द्र कहा गया है। जबकि ब्राह्मणों के धर्म को अग्निक और मैत्र।[1] महाभारत के रण क्षेत्र में संशय ग्रस्त अर्जुन को इसी क्षात्र धर्म का उपदेश श्रीकृष्ण ने कहा है कि दुःखी धृतराष्ट्र को विदुर ने यही समझाया था।

क्षत्रिय के लिए इस जगत में धर्मयुद्ध से बढ़कर स्वर्ग प्राप्ति का अन्य कोई दूसरा मार्ग नहीं है। धृतराष्ट्र के शोक को दूर करने के लिए विदुर का उपदेश इसी बात की पुष्टि करता है।

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुस्तेजस्विनो मिथः।
एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्ये पन्थानमुत्त मम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते
क्षत्रियास्ते महात्मनाः शूराः समिति शोभनाः।
आशिषः परमाः प्राप्ता न शोच्याः सर्व एवं हि।[2]

अभिमन्यु की मृत्यु पर व्यहला सुभद्रा को परितोष्य देते हुए। श्रीकृष्ण ने यही उपदेश किया था।

इस धर्म के साथ ही क्षत्रिय का दूसरा धर्म था सत्यपालन, सत्यसंघ होना, सत्य का परित्याग न करना आदिपर्व में भीष्म इसी सत्य की चर्चा सत्यवती से कहते हैं। भीष्म कहते हैं कि वे तीनों लोकों का राज्य छोड़ सकते हैं। लेकिन सत्य कथन नहीं पृथ्वी अपनी गंध छोड़ दे, जल रस का परित्याग कर दे, तेज, रूप, रस, वायु का परित्याग करदे; इन्द्र पराक्रम छोड़ दे, किन्तु मैं सत्य को नहीं छोड़ सकता।

परित्यजेयं त्रैलैक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन।।[3]

तात्पर्य यह है कि वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में ब्राह्मणों और क्षत्रियों की महत्ता सर्वाधिक है।

(1) महाभारत कालीन राज व्यवस्था डॉ0 रघुवीर शा0, पृ0-142 (2) स्त्री पर्व 2/17-19 (3) आदि पर्व 103/15

धर्म की रक्षा, धर्म का चिन्तन, यज्ञ आदि सर्वाधिक है। धर्म की रक्षा, धर्म का चिन्तन, यज्ञ आदि कर्म शस्त्र की क्षत्रच्छा छाया में ही सम्भव है। बल की अधिकता के कारण क्षत्रिय उदण्ड, उश्रृंखल, परिपीडक न बने। इसीलिए महाभारतकार में क्षत्रियों में ऐन्द्रिक अशक्ति का निषेध किया है। अपने पशुबल से राजा अराजक या अत्याचारी न बन जाये इस हेतु क्षत्रिय धर्म में रक्षा, कर्त्तव्य, निष्ठा, सत्यपालन, यज्ञादिक अनुष्ठान सम्पादन की सर्वत्र चर्चा की गयी है। इसीलिए महाभारत की मूल कथा क्षत्रियों का चरित्र हैं। उनके धर्म की विस्तृत चर्चा अंगोपांगों सहित की गयी है। शोधकर्त्री की दृष्टि में क्षत्रिय धर्म समाज के धर्म प्रासाद का वह स्तम्भ है जिसकी उपेक्षा न भूतकाल में थी,न भविष्य काल में होगी। राजा को समाज रक्षा हेतु दण्ड धारण करने का उपदेश कौटिल्य ने भी दिया है।[1]

डॉ0 राधेश्याम शर्मा ने महाभारत का अध्ययन कर यह प्रश्न उठाया है,कि क्या सभी क्षत्रिय सैनिक ही होते थे? क्या युद्ध सदैव लड़े जाते थे? यदि ऐसी बात नहीं थी तो वे जीवन यापन कैसे करते थे? शास्त्रीय सिद्धान्त हैं कि क्षत्रिय का काम और प्रशासन है परन्तु सभी क्षत्रिय न तो प्रशासक हो सकते थे। और न तो सदैव युद्ध ही लड़ सकते थे। केवल सैनिक वृत्ति से जीवन यापन होना भी सम्भव नहीं था। अतः वे कृषि और पशु पालन भी करते थे।[2]

3. वैश्य वर्ण :- 'विश' का अर्थ सर्व साधारण है। यह आर्यों का वह वर्ग था जो आर्थिक उत्पादन में लगा था। (ऋग्वेद-412814, 91252)। पहले कहा जा चुका है कि वैश्य द्विजों के अन्तर्गत आते हैं। द्विज का अर्थ है जिसका दो बार जन्म हो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, होते हैं। संस्कार अन्तर से उनका दुबारा जन्म होता है। धर्मशास्त्रों में वैश्यों का उतना अधिक मान नहीं हुआ जितना ब्राह्मण, क्षत्रियों का था। ऋग्वैदिक मंत्र में वैश्यों की उत्पत्ति उरु अर्थात जंघाओं से हुई है। वस्तुतः 'उरु' उद्योग के अवलम्ब हैं। महाभारत में उरु के स्थान पर उदर से इनकी उत्पत्ति कही गयी है।

मुखतो ब्राह्मणाः सृष्टास्तस्मात् ते वाग्विशारदाः।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टास्तस्मात् ते बाहुगार्विताः।।
उदरादुज्दता वैश्यास्तस्माद् वार्तोपजीविनः।[3]

---

(1) कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/3 (2) महाभारत में सामाजिक सिद्धान्त एवं संस्थायें, पृ0-35 (3) अनु0 पर्व 149/29-30

इसीलिए वे उदर पोषण के निमित्त कृषि, वाणिज्य वार्ता का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करते हैं। वैश्यों के कर्त्तव्यों के परिप्रेक्ष्यों में यह कहा गया है कि दूसरे वर्णों के लोग वैश्यों की सहायता से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं। पशुपालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्र कर्म, दान, अध्ययन, सदाचार, अतिथ्य सत्कार, शाम-दाम ये वैश्यों के सनातन धर्म हैं। उन्हें तिल, चन्दन और रस का विक्रय नहीं करना चाहिए।

तथैव देवि वैश्याश्च लोकयात्रहिताः स्मृताः।
अन्ये तानुपजीवन्ति प्रत्यक्षफलदा हिं ते।।
यदि न स्युस्तथा वैश्या न भवेयुस्तथा परे।
तिलान् गन्धान रसांचैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वणिक्पथमुपासीनो वैश्यः सत्यपथमाश्रितः।।[1]

इस सम्बन्ध में डॉ0 शकुन्तला रानी का मन्तव्य यह है कि "वर्ण व्यवस्था का विभाजन मूल रूप से श्रम का विभाजन था समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण के लिए बौद्धिक श्रम की आवश्यकता थी। यह ब्राह्मणों का धर्म था। समाज की रक्षा के लिए बाहु विक्रम की आवश्यकता थी। समाज पालन के लिए उत्पादन श्रम की आवश्यकता थी। यह वैश्यों का धर्म था।"[2] भृगु भरद्वाज संवाद में भी वैश्यों को वाणिज्य कृषि व पशुपालनरत वेदाध्ययन योग कहा गया है।

वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः।
वेदाध्ययन सम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः।।[3]

वैश्यों का सम्बन्ध मुख्यतः आर्थिक जीवन से है। कृषि गौ रक्षा वाणिज्य उनके कर्त्तव्य है। जिनमें लाभ और वैभव अधिक है। अतः इन्हें व्यवसाय न कहकर उद्योग कहा गया है। उद्योग में समान वितरण कम लाभ माना जाता है। जबकि व्यवसाय में श्रमकम और अधिक लाभ की सम्भावना मानी गयी है। इसीलिए वैश्यों को वेदाध्ययन योग माना गया था। उन्हें पवित्रता पूर्वक धनसंग्रह की अनुमति दी गयी थी।

---

(1) अनु0 पर्व 141/53-56 (2) महाभारत में धर्म डॉ0 शकुन्तला रानी, पृ0-224 (3) शान्ति पर्व 19/6

वैश्योऽधीत्य कृषिगोरक्ष्पण्यै, वित्तं चिन्वन् पालनयन्न प्रमत्तः।

प्रियं कुर्वन् ब्राह्मण क्षत्रियाणां, धर्मशीलः पुण्यकृदावसेद् गृहान।[1]

इस प्रकार वैश्यों की उत्पत्ति और उनके कर्म धर्म की चर्चा कर महाभारतकार वैश्यों के कर्त्तव्यों में विधि निषेध की भी चर्चा करते हैं। वैशम्पायन ने कहा है कि वैश्यगण बैलों द्वारा पृथ्वी पर दूसरों से खेती कराते हैं। दुर्बल अंगों वाले निष्क्रिय पशुओं को दान, घास देकर उनके जीवन की रक्षा करते थे। वृद्ध गाय, बैलों को व्यर्थ न समझकर वह धर्मानुसार इनकी सेवा करते थे।

कारयन्तः कृषि गोभिस्तथा क्षिताविह।

युज्जते धुरि नो गाश्च कृशांगश्चाप्यजीवयन्।।[2]

निषेधपरक कर्मों में कम तौलना वर्जित माना गया है।

न कूट मानैवर्णिजः पण्यं विक्रीणते तदा।।[3]

महाभारत के अनेक स्थलों में वैश्यों के लिए उद्योगशील और पशुपालन की चर्चा की गयी है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि पशुपालन से वैश्यों को आपार सुख प्राप्त होता है। उनका पालन वैश्य को पुत्रवत करना चाहिए,क्योंकि ये भार प्रजापत्य ने उन्हें ही सौंपा है।

वैश्यम्यापिहि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।

दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः।।

पितृवत् पालयेद् वैश्योयुक्तः सर्वान् पशूनिह।

विकर्मतद् भवेदन्यत् कर्मयत् स समाचरेत्।।

रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात्।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्टा परिददौ पशून।।[4]

पशुपालन करते हुए वैश्यों की जीविका वृत्ति का निर्धारण करते हुए महाभारतकार ने कहा है। यदि वैश्य दूध देने वाली गाय का छः गायों का एक वर्ष तक पालन करता है। तो वह उसके षष्ठांश वृत्तिरूप में पाने का अधिकारी है। इसी प्रकार पशुओं के अवशेषों से प्राप्तधन पर उसे सत्तमांस मिलना चाहिए।[5]

जो वैश्य कृषि कार्य सम्पादित करते थे। वे अपने नौकरों को सातवाँ भाग देते थे। इस

(1) उद्योग पर्व 29/25 (2) आदि पर्व 64/21 (3) आदि पर्व 64/22 (4) महा० शा० पर्व 60/21-23 (5) वहीं शा० पर्व 60/25-30

प्रकार वेदशास्त्रों का अध्ययन कर ब्राह्मण, क्षत्रिय था आश्रितजनों की समय-समय पर धन देकर सहायता करने वाला वैश्य मृत्योपरांत स्वर्ग का भोग करता है।

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च, धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं, प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते।।[1]

महाभारत में वैश्यों के लिए क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रम का विधान किया गया है।

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रम संश्रयम्।।[2]

इस सम्बन्ध में डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है "अर्थ के मोह में फँसा हुआ वैश्य कठिनता से वान्यप्रस्थ ग्रहण करता है। किन्तु कुछ सतपुरुषों वैश्यों में होते हैं। जो अर्थ का मोह त्याग कर अपनी सम्पूर्ण लक्ष्मी को जीवित ही पुत्र को सौंप कर अपना कंर्त्तव्य पूर्ण करके जंगल की राह लेते हैं। शेष जीवन को चिन्ताओं से मुक्त कर सुखमय बनाकर ईश्वर का ध्यान शान्तिपूर्वक करते हैं। और स्वर्ग में जाकर सुख सन्तोष प्राप्त करते हैं। वैश्यों के आर्थिक धर्म का विधान वर्ण व्यवस्था को अधिक सन्तुलित और यर्थाथवादी बनाता है।"[3]

४. शूद्र वर्ण :- इस वर्ण व्यवस्था का दोषपूर्ण या निकृष्टम् रूप शूद्रों की हीन और दीन दशा को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है। क्योंकि ब्राह्मण शीर्ष स्थान पर है। तो शूद्र चरण पर इसका कारण पदभ्याम् शूद्रो अजायत् है। उन्हें अस्पृश्य अछूत माना गया है। शूद्रों को सेवा धर्म करने वाला कहा गया है, उनके उपनयन आदि संस्कार भी नहीं होते थे। शूद्र फाँसी पाने वाले के परिधान, गहने एवं शैया ले सकते थे। शान्ति पर्व।40/29-32में कुछ इसी प्रकार का वर्णन है।

शूद्राश्च पादतः सृष्टास्तस्मात् ते परिचारकाः।
प्रजापतिहिं वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।[4]

यदि इन पंक्तियों का अर्थ समाज में इस प्रकार प्रचलित होता है कि जिस प्रकार शरीर का संचालन चरणों से होता है। उसी प्रकार समाज रूपी पुरुषों का संचालन चरणों से ही होता है तो शोधकर्त्री की यह उपपत्ति होती कि शूद्रों की ऐसी हीनतर अवस्था नहीं होती। शूद्रों का प्रमुख कर्म तीन वर्णों की सेवा करना है। जो शूद्र सत्यवादी जितेन्द्रिय अतिथि सत्कार कर्ता होता है।

(1) महा0 उद्योग पर्व 40/27 (2) शान्ति पर्व 63/15 (3) महाभारत में धर्म, पृ0-313 (4) महा0 अनु0 पर्व 141/29-30

उसे महान तपस्वी कहा गया है–

शूद्रधर्मः परोनित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः
शुश्रूपुरतिथिं प्राप्तं तपः संचिनुते महत्।
नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूरकः
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत बुद्धिमान।
तथैव शूद्रा विहिताः सर्वधर्मप्रसाधकाः
शूद्राश्चयदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते।।
त्रयः पूर्वे शूद्रमूलाः सर्वे कर्मकराः स्मृताः।
ब्राह्मणादिषु शुश्रूषा दासधर्म इति स्मृतः।।
वार्ता च कारुकर्माणि शिल्पं नाटयं तथैव च।
अहिंसकः शुभाचारो दैवतद्विजवन्दकः।।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः स्वधर्मेणोपयुज्यते।
एवमादि तथान्यच्च शूद्रधर्मइति स्मृतः।।
एतत् ते सर्वमाख्यातं चातुर्वर्ण्यस्य शोभने।
एकै कस्येह सुभगे किमन्यच्छोतुमिच्छसि।।[1]

श्रीकृष्ण ने संजय से शूद्रों के लिए कहा है शूद्र ब्राह्मणों की सेवा तथा वन्दना करे वेदों का स्वाध्याय न करे यज्ञ इसके लिए निषेध है। उद्योगी और आलस्य रहित होकर अपने कल्याण की चेष्टा करें।

परिचर्या चन्दनं ब्राह्मणानां, नाधीयीत प्रतिषिद्धोऽस्य यज्ञः।
नित्योत्थितो भूतयेऽतन्द्रितः स्या, देवं स्मृतः शूद्रधर्मः पुराणः।।[2]

इसी प्रकार विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा है कि शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य की न्याय पूर्वक सेवाकर संतुष्ट करता है तो वह पापमुक्त होकर स्वर्ग को प्राप्त होता है।

---

(1) महा0 शा0 60/2, वन0 150/36 (2) उद्योग पर्व 19/26

ब्रह्मं क्षत्रं वैश्यवर्णे च शूद्रः, क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः।

तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपापू, स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङक्ते।।[1]

महाभारत में शूद्रों के विधिविहित कर्मों के साथ निषिद्ध कर्म रूप में धन संग्रह की चर्चा की गयी है।

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन।

पापीयान् हि धनं लब्धवावशे कुर्यात् गरीयसः।[2]

महाभारत में शूद्रों के धर्म का उल्लेख करते हुए ये कहा गया है कि यदि स्वामी के धन का नाश हो जाये तो शूद्र को अपने कुटुम्ब पालन से बचे धन के द्वारा स्वामी का भरण पोषण करना चाहिए।[3] यद्यपि शूद्रों का स्थान चरण कहे गये हैं। और उन्हें सेवा भाव कर्त्तव्य रूप में नियत किया गया है। उन्हें धार्मिक कृत्यों से बहिष्कृत किया गया है। फिर भी बहुत से ऐसे शूद्र महाभारत में मिलते हैं जिके आचरण श्रेष्ठ पुरुष के समान है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि धर्मात्मा शूद्र राजाज्ञा लेकर किसी भी धर्म सम्बन्धी कृत्यों को सम्पादित कर सकता है।

राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वी धार्मिकः।

तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यश्च तस्योपजीवनम्।।[4]

ऐसा सदाचारी जितेन्द्रिय शूद्र संन्यास आश्रम को छोड़कर शेष सभी आश्रमों को विहित वो कर सकता है।

शूश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतान कर्मणः

अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते।।

अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा

आश्रमा विहिता सर्वे वर्जयित्वा निराशिपम्।।[5]

पुरुषार्थ चतुष्ट्य की दृष्टि से भी शूद्रों के धार्मिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की विस्तृत चर्चा हुई है। भगवान श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा है। जो शूद्र त्रयवर्णिक सेवक है। सत्य, शौच का पालन कर्ता है। परदारगामी नहीं है। और जीवों को अभय दान देता है। उस शूद्र को स्वर्ग प्राप्त होता है।

---

(1) उद्योग पर्व 40/28 (2) शान्ति पर्व 60/30 एवं अद्भुत भारत-मि0 वाशन-पृ0-144 (3) शान्ति पर्व 60/35-36 (4) शान्ति पर्व 60/31 (5) शान्ति पर्व 63/12-13

त्रयाणामपि वर्णानां शुश्रूषानिरतः सदा।
विशेषतस्तु विप्राणां दासवद् यस्तु तिष्ठति।।
अयाचित प्रदाता च सत्यशौच समन्वितः।
गुरुदेवार्चनरतः परदारविवर्जितः।।
परपीडामकृत्वैव भृत्यवर्गं विभर्ति यः।
शूद्रोऽपि स्वर्गमाप्नोति जीवानाम भयप्रदः।।[1]

यद्यपि शूद्रों को वेदाध्ययन करना मना था, किन्तु वे इतिहास (महाभारत आदि) एवं पुराण सुन सकते थे। महाभारत (शा0 328/49) ने लिखा है कि चारों हैं कि चारों वर्ण किसी ब्राह्मण से सुन सकते हैं।

समाज में शूद्रों के स्थान के सम्बन्ध में पहले भी विवाद था और ये आज भी चला आ रहा है। महाभारत में धार्मिक सदाचारी पवित्र कर्मों से युक्त शूद्र भी ब्राह्मण के सामने वन्दनीय माना गया है।

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।[2]
कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत स्वयम्।।
स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः।।[3]

तात्पर्य यह है कि भारतीय ऋषियों ने गुण, कर्म और स्वभाव के कारण मानव समाज में पायी जाने वाली पृथक्ताओं को एक साँचे में ढालने का अनेकसर्गिक और गर्त प्रयास नहीं किया। वर्ण विशेष में जन्म लेकर भिन्न कर्म को अपनाने वाले अनेक पात्रों के भी वर्ण महाभारत की कथा में विद्यमान है। जाति-पाति के भेद, खान-पान तथा विवाह सम्बन्धी विशेषतायें या दुर्गुण महाभारतकालीन समाज में कट्टर रूप में व्याप्त नहीं थे। अनेक ब्राह्मणों तथा अन्य जातियों ने अनुलोम और प्रतिलोम विवाह भी किये और उनकी संतानों ने गौरव और सम्मान के पदों को प्राप्त किया। विदुर युयूत्स व्यास, पराशर आदि की माताएँ निम्न वर्ग से थीं। आचार्य

(1) आश्वमेधिक पर्व 63/2 (2) महा0 शा0 328/49, आदि0 62/22 (3) अनुशासन पर्व 141/48-49

द्रोण ब्राह्मण होते हुए भी महारथी थे। कर्ण अवैध संतान और अराजन्य होते हुए भी कलिंग देश के राजा बने। अतः वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि महाभारत युग में समाज को व्यवहारिक, गतिशील बनाने के लिए चतुर्वर्ण्य की व्यवस्था उसके स्वरूप धर्म, कर्त्तव्य विधि निषेधों के सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा है। किन्तु व्यवहारिक रूप में नितान्त व्यक्तिगत जीवन में सारल्य, रिजुता, सदाचार, संतोष स्वधर्मपालन या श्रेष्ठ चरित्र को उत्तम माना गया है। जिनके आधार पर कोई भी वर्ण का व्यक्ति समाज में श्रेष्ठ पद ही नहीं प्राप्त करता था। अपितु उसे स्वर्ग या मोक्ष की भी प्राप्ति होती थी। वर्ण विभाजन की दृष्टि से महाभारत के सैद्धान्तिक वाक्य श्रम पर आधारित है। जिसके मूल में वैदिक और उपनिषद, स्मृतियों का प्रभाव है। किन्तु व्यवहारिक जीवन में महाभारतकार ने व्यक्तिशील को अधिक महत्त्व दिया है। शोधकर्त्री का यह विश्वास है, कि किसी भी देश या समाज में सम्यंग व्यवस्था हेतु कुछ विधि विधान या निषेधों का होना अनिवार्य होता है। क्योंकि मनुष्य के सामान्य होते हुए भी सब में एक जैसी प्रतिभा और प्रवृत्ति सम्भव नहीं अतः महाभारत के दृष्टि को अपनाकर आज का शूद्रवर्ण अपनी ही उन्नति नहीं करेगा। अपितु समाज में परिव्याप्त, वर्ण, वर्ग, जाति गति, विद्वेश्य की असमानता को दूर कर सकता है।

महाभारत में तो वर्ण धर्म सम्बन्धी सिद्धान्त अनेक स्थानों पर उपलब्ध हो जाते हैं। वर्ण संबंधी चर्चा महाभारत में (शान्ति 60 तथा 297) और वर्णसंकर का उल्लेख शान्ति 65, 297 तथा अनुशासन पर्व 48-49 पर द्रष्ट्व्य है।

अतः पूर्वोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्मों के अनुसार ही उनका विभाजन हो जाता है। लेकिन जब समाज के सभी विधान टूट जायें, दस्यु, चोर, डाकू आदि बढ़ जायें तो सभी वर्णों को आयुध ग्रहण करना चाहिए। (शा0 75/19) समाज में छुआ-छूत का विधान था। लेकिन महाभारत में यह प्राप्त हुआ है कि जहाँ एक ओर नियम की कट्टरता थी तो दूसरी ओर उसका निदान भी किया जाता है। ब्राह्मण को शिक्षण और पूजन संबंधी कार्य सौंपा जाता था और क्षत्रिय राज्य की सुरक्षा में तत्पर्य रहते थे। सभी वर्गों के अपने-अपने कार्य क्षेत्र अलग-अलग थे। महाभारत में कहीं-कहीं छुआ-छूत का विधान है। और यत्र-तत्र सज्जस्य का ही द्रष्ट्र्व्य होता है। सभी वर्णों का अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल प्राप्त होता है। उस समय कट्टरता भी प्रदर्शित होता है। बड़ों का सम्मान होता था।

महाभारतकालीन वैवाहिक व्यवस्था

काम भावना मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है। भारतीय सांस्कृतिक जीवन में इसे पुरुषार्थ चतुष्ट्य में स्थान दिया गया है। मनुष्य और पशुओं में यह काम समान रूप से दिखाई देता है। मुक्त कामतृप्ति अमर्यादित जीवन के प्रतीक है। तो मर्यादित काम भावना उसकी सृजनशीलता सौन्दर्य वृद्धि सांस्कृति दृष्टि पारस्परिक सहयोग की आधार शिला है। आदि काल में मानव पशु था। अतः काम और यौन सम्बन्धों का अमर्यादित रूप स्वाभाविक माना गया किन्तु ज्यों-ज्यों सामाजिकता, सांस्कृतिक श्रेष्ठता और बृद्धिमत्ता आती गयी। वह सभ्य से सभ्यतर होता गया कहना नहीं होगा कि विवाह यौन क्षुधा तृप्ति का एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कृत्य है। यौन इच्छा की तृप्ती के लिए पुरुष स्त्री के इस आकर्षण को विवाह द्वारा नियन्त्रित किया गया। वैस्टमार्क ने लिखा है कि, "विवाह स्त्री एवं पुरुष का एक ऐसा सम्मिलन है। जिसे किसी संस्कार के द्वारा सम्पन्न करके स्वीकृति प्रदान की जाती है। यह एक ऐसी सामाजिक संस्था है। जो पुरुष एवं नारी के उन सम्बन्धों की ओर संकेत करती है। जो प्रथा या कानून द्वारा मान्य है।"[1] प्रसिद्ध मनोवेत्ता हेब्लॉक हेलिसकर का मत है कि "विवाह उन दो व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों को कहते हैं जो एक दूसरे से यौनी सम्बन्ध एवं सामाजिक सहानुभूति के बन्धनों से अबद्धय है। और यदि सम्भव हो तो वे इन बन्धनों को अनिश्चित काल तक चलाने के लिए इच्छुक हों।"[2] समाज में विवाह प्रथा कब से चली आ रही है। इस विषय में अन्तिम से कहना कुछ कठिन है। यद्यपि पशु-पक्षियों में स्वेराचार को ही प्राकृति रूप देखने को मिलता है। सुदूर पूर्ववर्तीकाल में सम्भवतः उत्तरकुरु में यह प्रथा चालू रही है। इसी प्रकार महाभारत में उद्दालक श्वेतकेतु की घटना से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्वकाल में स्वेराचार पुरुषों में भी था। श्वेतकेतु ने यह नियम बनाया कि अब से मनुष्य समाज में कोई भी यौनी व्यापार में स्वच्छन्द आचरण को प्रस्थें नहीं देगा। प्रकार दीर्घतमा ने एक पतित का विधान किया।

महाभारत काल में आठों प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। जिसमें आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच विवाहों को अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता था। शाल्य की भगनी माद्री का पाण्डु से आसुर विवाह सुभद्रा और अर्जुन, अम्बिका और विचित्रवीर्य से राक्षस विवाह हुए थे। हिडम्बा

(1) हिस्ट्री ऑफ हियूमन मैरिज, पृ0-26, (2) सेक्स एण्ड मैरिज, पृ0-52

से भीम का विवाह या दुष्यन्त का शकुन्तला से गान्धर्व विवाह था। इस युग में पत्नी को अर्धफल मिलता था। वह भरण–पोषण के लिए पति पर निर्भर थी इसी से पति का नाम भर्ता पड़ा है। शान्तिपर्व में भीष्म पितामह ने यह बात स्थापित करते हुए लिखा है कि संसार में स्त्री के समान कोई बन्धु और धर्म संग्रह में सहायक नहीं है।

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्म संग्रहे।।[1]

इसी प्रकार विदुर ने उपदेश किया है कि स्त्रियाँ घर की लक्ष्मी हैं। शोभा है अतः उनका सम्मान करना चाहिए।

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद् रक्ष्या विशेषतः।।[2]

भीष्म पुरुषों को यह शिक्षा देता है कि स्त्री से धर्म और वृद्धि का कार्य पूर्ण होता है। इसलिए उनका सम्मान अवश्य करना चाहिए। पुरुष की परिचर्या स्त्री के ही अधीन है। प्रजा उत्पत्ति, प्रजा पोषण और संसार में प्रेम पत्नी से ही मिलता है। इसलिए पत्नी का सम्मान करना चाहिए।

भार्यापत्योर्हि सम्बन्धः स्त्रीपुंसोः स्वल्प एवतु।
रतिः साधारणो धर्म इति चाह स पार्थिवः।।[3]

इसी सन्दर्भ में स्त्रियों के लालन–पालन की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है। युवावस्था में पति रक्षक होता है। और वृद्धावस्था में पुत्रगण उसकी रक्षा करते हैं। सत्कार करने से स्त्री लक्ष्मी स्वरूपा बन जाती है।

श्रिय एताः स्त्रियों नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत।।[4]

वस्तुतः भार्या ही मनुष्य की धर्म, अर्थ, काम प्राप्ति का प्रधान साधन है। पतिव्रता भार्या की सहायता से पुरुष त्रिवर्ग का एक साथ उपभोग कर सकता है।

बात यह है कि पति–पत्नी के प्रणय में विश्व के कल्याण का दायित्व निहित है। इन्द्रिय

(1) शान्ति पर्व 145/16 (2) उद्योग पर्व 38/11 (3) अनुशान पर्व 45/9 (4) वहीं 46/15

तृप्ति या वासना हेतु विवाह के कर्त्तव्य का निर्धारण नहीं हुआ था। महाभारत में इस हेतु प्रयुक्त शब्दों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है भार्या–भर्ता, जाया, दारा, धात्री, जननी, अम्बा, सुश्रु आदि नामों से उसे अभेद किया जाता है।

जैसे :-

(1) भरणाद्धि स्त्रियों भर्ता पालनाद्धि पतिस्तथा।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः।।

(2) भर्तव्यत्वेन भांर्या च कोनु मां तारयिष्यति।।
भार्यो पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाःकवयो विदुः।।[1]

<u>विवाह की अवस्था का निर्णय</u> :- महाभारत में वर–कन्या की उम्र के सम्बन्ध में संक्षिप्त उल्लेख है। यद्यपि अजातर रजसिका, अनागत यौवना, कुमारी के विवाह का विधान था। किन्तु महाभारत में प्रमुख विवाहों में से इस सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती है। दमयन्ती, सावित्री, शकुन्तला, दिव्याणी, शर्मिष्ठा, कुन्ती, माद्री, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका इत्यादि सभी युवती स्त्रियाँ हैं। बालिका नहीं हैं। यद्यपि उसी युग में युवती विवाह का प्रचलन था। तब भी घर में अविवाहिता व्यस्क कन्या की चिन्ता माता–पिता बहुत करते थे।

वैदर्भी तु तथायुक्त युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम।।[2]

पितृ ग्रह में ऋतुमती या रजस्वला होने के बाद तक कन्या की प्रतीक्षा करनी चाहिए। कि पिता उसके लिए उपयुक्त वर की खोज करता है। या नहीं इसके बाद स्त्री को पति चयन की स्वतन्त्रता है। देता है।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारर्जयेत्।।[3]

वर–कन्या की अवस्था में भी पर्याप्त अवस्था के अन्तर का उल्लेख महाभारत में मिलता है। इसे हम बाल विवाह या नग्निका विवाह कह सकते हैं। कहा गया है कि तीस वर्ष का

---

(1) शान्ति पर्व 266/37–52, आदि पर्व 74/37 (2) वनपर्व 96/30 (3) अनुशासन पर्व 44/16

पुरुष दस वर्ष की कन्या अथवा 21 वर्ष का पुरुष सात वर्ष की कुमारी से विवाह करें।

त्रिंशद्वर्षो दशवर्षो भार्या विन्देत नग्निकाम्।

एक विंशति वर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्।।[1]

महाभारत में यत्र-तत्र बाल-विवाह भी हो जाते थे।

विवाह के प्रकार एवं पात्रता :- पूर्व में लिखा जा चुका है कि अत्यन्त प्राचीन काल में विवाह के आठ प्रकार प्रचलित थे। आदि पर्व में लिखा है-

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः।

तेषां धर्म्यान् यथापूर्व मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।[2]

(१) ब्रह्म-ब्राह्म विवाह :- वर की इच्छा बुद्धि वंश के वारे में पता लगाकर सचरित्र वर को कन्या प्रदान करना ब्राह्म विवाह होता है।

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च।

सद्भिरेवं प्रदातब्या कन्या गुणयुते वरे।।[3]

(२) दैव विवाह :-यज्ञ में ऋत्विक को यदि कन्यादान किया जाये तो उस विवाह को दैव विवाह कहते हैं।

(3) आर्ष विवाह :-कन्या के शुल्क के रूप में वर से दो गाये लेकर कन्यादान करने को आर्ष विवाह कहते हैं। कहीं एक गाय और एक बैल की भी चर्चा है।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदा हुर्मृषैव तत्।[4]

(४) राजापत्य विवाह :-वर को धन सम्पत्ति से संतुष्ट कर कन्या सम्प्रदान प्रजापत्य विवाह कहलाता है।

(५) आसुर विवाह :-कन्यादाता को बहुत सा धन देकर या बन्धु बांधवों को लोभ में डालकर कन्या को क्रय किया जाता है। इसे आसुर विवाह कहते हैं।

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोम्य च बान्धवान्।

असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः।।[5]

---

(1) अनुशासन पर्व 44/14 (2) आदि पर्व 73/8-9 (3) अनुशासन 44/3 (4) अनु0 45/20 (5) वहीं 44/7

महाभारत में माद्री का विवाह इसी आसुर विवाह का उदाहरण है।

(६) गान्धर्व विवाह :- वर-कन्या के परस्पर प्रणय के फलस्वरूप सम्पन्न विवाह गान्धर्व विवाह है।

अभिप्रेता च या भस्य तस्मै देया युधिष्ठिर।

गान्धर्वमिति तं धर्म प्राहुर्वेदविदो जनाः।।[1]

स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हो इस प्रकार एकान्त में मन्त्रहीन सम्बन्ध को गान्धर्व विवाह कहा गया है।

सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः।[2]

दुष्यन्त शकुन्तला का विवाह गान्धर्व-प्रण्य विवाह था।

(७) राक्षस विवाह :- जो कन्या पक्ष वालों पर अमानुषीय अत्याचार कर रौद्र करते हुए कन्या को बलपूर्वक हरण करता है वो राक्षस विवाह होता है।

हत्वा छित्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदर्ती गृहात्।

प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधि रुच्यते।।[3]

महाभारत में सुभद्रा हरण, रुक्मिणी-हरण, दुर्योधन कलिंगराज की कन्या-हरण राक्षस विवाह का उदाहरण है।

(८) पैशाच विवाह :- सुप्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ या असवधान दशा में बलपूर्वक रमण करना पैशाच विवाह है। तात्पर्य यह है कि महाभारत में उक्त अष्ट विधि वाहों का सामाजिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाये तो पता लगेगा कि ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्रजापत्य, विवाह ब्राह्मण के लिए उत्तम है। दुष्यन्त शकुन्तल को समझाता हुआ कहता है कि प्रथम छः विवाह क्षत्रिय के लिए धर्मानुकूल है। राजाओं के लिए राक्षस विवाह का भी विधान है। वैश्यों और शूद्रों में आसुर विवाह ग्राह्य है। पैशाच और आसुर विवाह करणीय नहीं कहे गये।

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय।

षऽानुपूर्व्याक्षत्रस्य विद्धि धर्म्यनिन्दिते।।

---

(1) वही 44/6 (2) आदिपर्व 73/27 (3) अनुशासन पर्व 44/8

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यो द्वौ स्मृताविह।।[1]
पैशाच आसरुश्चैव न कर्त्तव्यों कदाचन।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता।।[2]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि सिद्धान्त या आदर्श की चर्चा नीति शास्त्र सम्मत है। किन्तु समाज में व्यवहारिक रूप कुछ और दिखाई देता है। जैसे दमयन्ती के स्वयंवर में ब्राह्म एवं गान्धर्व विवाह का मिश्रण था। रुक्मिणि के विवाह में राक्षस और गन्धर्व मिश्रित था। तो सुभद्रा के विवाह में राक्षस एवं प्रजापत्य विधियाँ मिश्रित थीं। क्षत्रियों में गन्धर्व और राक्षस विवाह प्रचलित थे। यद्यपि उसे निन्दनी ही माना गया है। भीष्म द्वारा विचित्र वीर्य के लिए अम्बा, अम्बालिका आदि का हरण, दुर्योधन का चित्रागंद की कन्या हरण सुभद्रा और रुक्मिणी भी मिश्रित विवाह विद होने के कारण।

विवाह में शास्त्रीय विधि निषेध :- महाभारत में अनेक स्त्रियों के लिए लिखित है कि शुभ लक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करना चाहिए। यदि इन लक्षणों की हवेलना की गयी तो वर-वधु को कष्ट मिलता है। इस हेतु पितृवंश और मातामहवंश को देखा जाता था। हीनांगी, अधिकांगी, प्रब्रिजता, अन्याशक्ता, पिंगलवर्णा, चर्म रोग ग्रस्ता कन्या निन्दनीय मानी गयी है। इसी प्रकार वर के लिए भी शुभ लक्षण देखे जाने का उल्लेख महाभारत में है। गोत्र की दृष्टि से भी कन्या के विवाह का उल्लेख है। असपिंडा, मातुरस गोत्र विवाह वर्जित है।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितु।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्म मनुरब्रवीत।।[3]

समानगोत्र या प्रवर का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वर अपने वंश या नाना के वंश में विवाह नहीं कर सकता नाना की पाँच पीढ़ी और पिता की सात नीचे या ऊपर विवाह निषिद्ध थे। किन्तु अर्जुन ने सुभद्रा से सहदेव ने भद्रराज कन्या से, शिशुपाल ने भद्रा से, एवं परीक्षित ने उत्तर की कन्या से विवाह किया था। और वंशावली की दृष्टि से सभी कन्यायें मामा की पुत्रियाँ थी। जैसा कि शिशुपाल के सम्बन्ध में यह बात व्यक्त की गयी है-

(1) वहीं 44/10-11 (2) आदि पर्व 73/10-12 (3) अनुशासन पर्व 44/18

एष मायाप्रतिच्छन्नः करुषार्थे तपस्विनीम्।
जहार भद्रां वैशाली मातुलस्य नृशंसकृत्।।
पितृष्वासुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम्।
दिष्टया हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते।।[1]

सहोदर भाईयों में जेष्ठ के अविवाहित रहते कनिष्ठ विवाह नहीं कर सकता यदि ऐसा विवाह सम्पन्न हुआ तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता था। जो इस नियम का उलघंन करता था तो उसे परिवेत्ता और अविवाहिता जेष्ठ को परिक्ती कहा जाता है। इसके प्रायश्चित हेतु चान्द्रायण व्रत करने का उल्लेख भी महाभारत में किया गया है–

परिवित्तिः परिवेत्ता या चैव परिविद्यते।
पाणिग्रहास्त्वधर्मेण सर्वे ते पतिताः स्मृताः।।
चरेयुः सर्व एवैते वीरहा यद् वृतं चरेत्।
चान्द्रायणं चरेन्मासं कृच्छ्रं वा पापशुद्धये।।[2]

यद्यपि युधिष्ठिर से विवाह के पूर्व भीमसेन ने हिडिम्बा से विवाह किया था। किन्तु इसमें कुन्ती की अनुमति थी। इसी प्रकार ससुर की वे जेष्ठा कन्या विवाह से पहले कनिष्ठा का पाणिग्रहण करना प्रतिनिषिद्ध था। जो ऐसा विवाह करता था। उसे अग्रे धीषू कहा जाता था। महाभारत के अध्ययन से विवाह सम्बन्धी एक नियम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कि भ्रातहीना कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे पिण्डदान की समस्या उत्पन्न होगी। गुरूकन्या से भी विवाह वर्जित था। कच्च देवयानी के सम्वाद् से ये पता लगता है गुरू पुत्री धर्मतः भगनी होती है। महाभारत में ऋषि उद्दालक ने शिष्य को एवं आचार्य गौतम ने शिष्य उत्तांक को कन्यादान की थी।

(1) तं वै विप्रः पर्यचरत् सशिष्यस्तां
च ज्ञात्वा परिचर्या गुरूः सः।
तस्मै प्रादात् सद्य एवं श्रुतं च
भार्या च वै दुहितरं स्वां सुजाताम्।।

(1) सभापर्व 44/11-12 (2) शान्ति पर्व 165/68-69

ददानि पत्नी कन्यां च स्वां ते दुहितरं द्विज।

ततस्तां प्रतिजग्राह युवा भूत्वा यशस्विनीम्।

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातो गुरुपत्नीमथा ब्रवीत्।।[1]

महाभारत के प्रारम्भ में यदि हास्ति को जो कही गयी थी वो विवाह प्रकरण में भी दिखाई देती है। विमाता की बहिन से विवाह धर्म विरुद्ध और नीति, आचार्य विरुद्ध है। भीमसेन ने अपनी विमाता माद्री की बहिन से विवाह किया था। जैसा कि इस श्लोक से प्रकट होता है-

सा ह्यागते गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयो:।

कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्ठा संन्यपतन भुवि।।[2]

वर्ण की दृष्टि से विवाह के विधि निषेध महाभारत में लिखित है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य की कन्या को पत्नी रूप में ग्रहण कर सकता है। क्षत्रिय सवर्ण व वैश्य की कन्या को वैश्य स्ववर्ण वैश्य की कन्या को, शूद्र केवल शूद्र की कन्या को ग्रहण कर सकता है। यद्यपि धन, विभाजन से स्ववर्ण विवाह की महत्ता को स्वीकार किया गया है। एक बात और इस विषय में कथनीय है। कि महाभारत काल में स्त्रियों को स्वतन्त्रता तो अवश्य थी। किन्तु उनके आचरण को समाज तुच्छ दृष्टि से देखता था। दुष्यन्त-शकुन्तला, पराशर-सप्तवती, सूर्य-कुन्ती, ऐसे ही उदाहरण हैं। समाज में शुल्क लेकर कन्या देना विक्रय माना गया है। और उसे गर्हित कहा गया है-

यो मनुष्यः स्वकं पुत्रं विक्रीय धनमिच्छति।

कन्यां वा जीवितार्थाय यः शुल्केन प्रयच्छति।।

सप्तावरे महाघोरे निरये कालसाह्ये।

स्वेदं मूत्रं पुरीषं च तस्मिन् मूठः समश्नुते।।[3]

इस प्रकार विवाह सम्बन्धी महाभारत के समस्त प्रकरणों पर विचार करते हुए ये कहा जा सकता है, कि महाभारत में समाज के संचालन हेतु आदर्शमय या नीतियुक्त सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो किया गया है। परन्तु विकल्प रूप में इन सिद्धान्तों के उदाहरण भी पर्याप्त रूप में उपलब्ध होते हैं। समाज का संचालन संगठन इन्हीं विधिनिषेधों से चलते हैं। और सामाजिक यात्रा इसी प्रकार चलती है। अष्ट विधि विवाहों उनकी पात्रता पर प्रकाश डालने के पश्चात् संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि महाभारत में वर्णित विवाह की प्रतिक्रिया का क्या स्वरूप रहा है।

---

(1) वन पर्व 131/9 (2) वहीं 24/12 (3) अनुशासन पर्व 45/18-19

(1) आश्वमेधिक पर्व 55/23-24

महाभारत कालीन पारिवारिक जीवन

पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है। कि सामाजिक संगठन को संशक्त बनाने के लिए समाज में विधि निषेधों का महत्वपूर्ण स्थान है। पारिवारिक दशा के सन्दर्भ में विवाह नामक संस्था की चर्चा करते हुए ये कहा गया है। कि परिवार सभी सामाजिक संस्थाओं में सार्वभौंम संस्था है।

आदिमकालीन समाज में समाजशास्त्रियों की ये धारणाबद्ध मूल है। कि उस समय समाज व्यवस्था या पारिवारिक व्यवस्था नगण्य थी। किन्तु इधर नये शोधों से मत का खण्डन किया जा चुका है। क्योंकि आदिमकाल में भी परिवार के विकास के मूल में मानवीय प्रवृत्तियाँ रही हैं। यहाँ कहा जा सकता है कि परिवार की उत्पत्ति न होकर इसका विकास हुआ है। मैकाइवर ने परिवार की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है-

(1) यौन आवश्यकताओं की पूर्ति।

(2) संतान उत्पत्ति पालन-पोषण एवं समाजीकरण।

(3) पारस्परिक सहयोग।[1]

वह परिवार की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि परिवार यौन सम्बन्धों से परिप्लावित समूह है। जो लव होते हुए भी सन्तानोत्पत्ति एवं उनके पालन-पोषण के लिए सक्षम होता है।[2]

उसके अनुसार विवाह एक संस्था एवं परिवार एक समिति है। पश्चिमी विचारक वर्गेश एवं लॉक के अनुसार परिवार एक ऐसा समूह है जो विवाह रक्त अथवा दत्तक सम्बन्धों द्वारा संगठित होता है। इस प्रकार एक कुटुम्ब की रचना होती है। जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र एवं पुत्री तथा भाई एवं बहन के बीच उनके सामाजिक कार्यों के क्षेत्र में अन्तर क्रिया एवं अन्तर संचार होता है। जिससे या तो एक सामान्य संस्कृति का जन्म होता है। अथवा उसमें निरन्तंता आती है।[3]

इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई है। जो व्यक्ति चरित्र निर्माण एवं सामाजिक सुदृढ़ता को शक्तिशाली बनाये रखती है। परिवार में ही मनुष्य का जन्म होता है। उसी में वह पारस्परिक स्नेह सहानुभूति सहयोग और एकता का पाठ सीख कर अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। प्रसिद्ध विद्वान प्रभु ने लिखा है। कि व्यक्ति

(1) सोसाइटी मैकाइवर पृ0-263 (2) वहीं, पृ0-268 (3) दि फेमली वर्गेश एण्ड लांक, पृ0-8

का सामाजीकरण परिवार से आरम्भ होता है। उससे ही व्यक्ति को प्राथमिक व्यवहारों का रूपमान (पैर्टन) एवं आचरण का प्रतिमान (स्टैन्डर) उसमें से ही मिलता है। उचित-अनुचित का ज्ञान नैतिक प्रवृत्ति स्नेह सहानभूति का प्रारम्भिक ज्ञान, पारिवारिक पर्यावरण में ही आरम्भ होता है।[1] मनोविज्ञान की दृष्टि से भी परिवार की महत्ता सिद्ध करते हुए ये कहा जा सकता है कि बालक अपने सम्पूर्ण व्यक्तितत्व एवं चरित्र की विशेषताओं को अपने जीवन के प्रारम्भिक पाँच वर्षों में सीखता है। और ये विशेषताएँ मौलिक परिवारिक पर्यावरण के अनुसार होगी।[2]

यंगवी इसी मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि परिवार के मध्य शारीरिक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय शक्तियों का संगम होता है। और वे व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने की सहायता देती है।[3] भारतीय समाज शास्त्रीयों ने भी मानवीय मूल्यों संस्कृतियों का सृजन नैतिक मूल्यों का संरक्षण में परिवार को महत्वपूर्ण इकाई माना है। डॉ0 राधा कुंमुद मुखर्जी का मन्तव्य है। कि मनुष्य की मूल्यभूत वृत्तियों हितों एवं मूल्यों में समानता एवं स्थिरता परिलक्षित होती है। मूल्य एवं उसकी पूर्ति एवं पद्यति दोनों बहुत दूर तक प्राथमिक समूहों जिनमें हम मुख्य रूप से परिवार, जाति, गोत्र को सम्मलित कर सकते के द्वारा बहुत दूर तक प्रभावित एवं परिवर्तित होती है।[4]

तात्पर्य यह है कि शारीरिक सुरक्षा मानसिक विकास नैतिक मूल्यों संरक्षण एवं परिवर्तन शिक्षा, सुरक्षा, धार्मिक निर्देशन आदि मूल्यों संरक्षण एवं परिवर्तन शिक्षा, सुरक्षा, धार्मिक निर्देशन आदि की शिक्षा की दृष्टि से परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है।

परिवार में प्रत्येक गृहस्थ को माता-पिता, स्त्री, पुत्र परिजनों के साथ रहना पड़ता है। और परिवार को सुदृढ़ आधार देने के लिए इन सबका योगदान महत्वपूर्ण है। आश्रम विभाग के वर्णन एवं विवाहों के परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक महत्ता कुछ सकल्पना व्यक्त की गयी है। किन्तु आगे निम्न पंक्तियों में परिवार की इकाई के अन्तर्गत आने वाले सम्बन्धों के स्वरूप और उनका विश्लेषण महाभारत के आधार पर किया जा रहा है।

माता-पिता :-गुरूजन तीर्थ के समान पूज्य होते हैं।

तीर्थानां गुरवस्तीर्थे चोक्षाणां हृदयं शुचि।[5]

---

(1) हिन्दू सोसल आँगनाइजेशन-डॉ0 प्रभु, पृ0-240 (2) पर्सनल्टी ए साइक्लौजिक इन्टर प्रिटेशन, पृ0-125 (3) सोसल साइक्लॉजी यंग, पृ0-274 (4) दि सौंसल स्टेचर ऑफ बैलू, पृ0-202 (5) अनु0 पर्व 162/47

इनके गुरुजनों में माता–पिता और गुरु आते हैं। जो पुत्र माता–पिता के आदेश का पालन करता है। उसे ही यथार्थ में पुत्र कहा जाता है।

मातापित्रोर्वचनावृद्धितः पश्यश्च यः सुतः।
स पुत्रः पुत्रवद् पश्च वर्तते पितृमातृषु।।[1]

माता पुत्र को नौ महीने गर्भ में रखती है। असहनीय यन्त्रणा सहकर उसका पालन–पोषण करती है। अतः माता–पिता की आशा को पूर्ण कर इस लोक और परलोक में पुत्र सुख का भोक्ता होता है। अतः मन, वचन, कर्म से पुत्र को इनकी सेवा करनी चाहिए। यद्यपि महाभारत में माता–पिता की श्रेष्टता के बारे में मतैक्य नहीं फिर भी इतना कहा जा सकता है कि पिता गार्ह्पत्य अग्नि के माता दक्षिण अग्नि के एवं आचार्य अवह्नी अग्नि के समान ह़ोता है। अतः तीनों की सेवा करने से मनुष्य को इहलोक–परलोक ब्रह्मलोक की प्राि्त होती है।

पिता वैगार्हपत्योऽग्निमाताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी।।
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रील्लेकांश्च विजेष्यसि।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम।।
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि।।
सभ्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत।
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मे च सुमहत्फलम्।।[2]

महाभारत में भीष्म एवं परशुराम के उदाहरण हैं। जिन्होंने पिता की आज्ञा का अक्षांशा पालन कर यश के भागी बने थे। कृष्ण ने भी नारद से कहा है कि–

माता पित्रोर्गुरुषु च सम्यग् वर्तन्ति ये सदा।
यथा एवं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः।।[3]

<u>गुरुजनों की प्रीति अर्जित करना श्रेष्ठ धर्म है</u> :- ऋषि अर्ष्टिश्रेड का युधिष्ठिर के प्रति दिए गये उपदेश में इस बात की पुष्टि की गई है, कि जो व्यक्ति माता–पिता, अग्नि, गुरू, वृद्ध को प्रसन्न करता है उसे इलहोक और परलोक सहज ही मिल जाते हैं।

माता पित्रोश्च ते वृत्तिः कश्चिद् पार्थ न सीदति।

---

(1) आदि पर्व 85/25 (2) शान्ति पर्व 108/7–9 (3) अनुशासन पर्व 31/35

कश्चित् ते गुरवः सर्वे वृद्धा वैद्याश्च पूजिताः।

कच्चिन्न कुरुषे भावं पार्थ पापेषु कर्मसु।।

पिता माता तथैवाग्नि र्गुरुरात्मां च पञ्चमः।

यस्यैते पूजितः पार्थ तस्या लोकावुभौ जितौ।[1]

कुन्ती ने कर्ण को यही उपदेश किया था कि माता-पिता को संतुष्ट करना पुत्र का धर्म है।

एतद् धर्मफलं नराणां धर्मनिश्चये।

यत् तुष्यत्यस्य पितरोमाता चाप्येकदर्शिनी।।[2]

युधिष्ठिर से भीष्म ने माता-पिता आदि के पूजन से जिस धर्म की प्रतीत होती है। उसका उल्लेख इस प्रकार किया है-

माता पित्रोः पूजते यो धर्मस्तमपि में श्रृणु।

शूश्रुषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।

मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च

तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लो के स्थानमर्चितम्।

न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान।।[3]

भीष्म की मृत्यु पर विजय और धर्म व्याध की माता-पिता के प्रति भक्ति के उदाहरण महाभारत में दिए हैं। जिसका निष्कर्ष यह है कि समाज में माता-पिता और गुरु की सेवा पुत्र का अन्नधर्म है।

गुरुजनों के प्रति आचरण :- महाभारत में कहा गया है कि सुबह उठने पर सबसे पहले माता-पिता और गुरुजनों के चरण-स्पर्श कर प्रणाम करना चाहिए।

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्।।[4]

अपने से बड़ों के आने पर उठकर उनका सम्मान करने का उपदेश विदुर ने दिया है।

ऊर्ध्वे प्राणा झुत्क्रामान्ति यूनः स्थविर आयति।

प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् पतिपद्यते।।[5]

---

(1) वनपर्व 149/6-14 (2) उद्योग पर्व 145/7 (3) अनुशासन पर्व 75/39-41 (4) अनु0 पर्व 104/43 (5) उद्योग पर्व 38/1

इस प्रकार हम देखते हैं कि पारिवारिक इकाई के रूप में श्रेष्ठ आर्दरार्ध पूज्य व्यक्ति की सेवा सम्मान करने का विधान नीति वाक्यों उपदेशों और सिद्धान्त के रूप में पात्रों के व्यवहार से यह प्रकट किया गया है कि पिता समस्त देवताओं का समिष्ट स्वरूप होता है। और माता देवाताओं, मर्त्सवासी सर्वभूत की समिष्ट स्वरूप होती है। पिता ही धर्म है। पिता ही स्वर्ग है पिता ही तपस्या है। अतैव इनके परितुष्ट होने पर सब देवताओं की संतुष्टि हो जाती है।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।

पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवता।।

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृ समा गतिः।

नास्ति मातृ समं त्राणं नास्ति मातृ समा प्रिया।।

देवतानां समावायमेकस्यं पितरं विदुः।

मर्त्यानां देवतानां च स्नेहादभ्येति मातरम्।।[1]

भ्रातृत्व प्रेम :- माता-पिता के बाद पारिवारिक इकाई में पुत्र और उसके भाइयों का स्थान आता है। जेष्ठ भ्राता और अनुजों का सम्बन्ध महाभारत में पाण्डुओं के उदाहरण से पूर्णतया स्पष्ट है। कि वह युधिष्ठिर का समुचित आदर और सम्मान करते थे। अनुशासन पर्व में ज्येष्ठ और कनिष्ठ सम्बन्धों का निरूपण नीति और समाजशास्त्र की दृष्टि से हुआ है। बड़ा भाई गुरु के समान होता है, छोटों पर उसे स्नेह वात्सल्य प्रदान करना चाहिए, और कनिष्ठ भ्राता अपने बड़े का यथोचित सम्मान करें। और इस प्रकार का उपदेश भी इसमें युधिष्ठिर से किया है। ज्येष्ठ की नीति से परिवारिक उन्नति होती है। कुटिल पूर्ण आचरण करने पर वह ज्येष्ठ पद का अधिकारी भी रहता।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।

हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते।।

अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः।

अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः।।[2]

अनुशासन पर्व में बृहस्पति ने युधिष्ठिर से कहा कि बड़ा भाई, पिता के समान आदरणीय

(1) शान्ति पर्व 366/21-43 (2) अनुशासन पर्व 105/6-7

होता है।

ज्येष्ठं पितृसमं चापि भ्रातरं योऽवमन्यते।[1]

भाई एवं बहनों के सम्बन्ध में :- माता-पिता की दृष्टि में स्नेह सम्बन्धों के आधार पर पुत्र-पुत्री में कोई अन्तर नहीं करा गया। किन्तु आर्थिक अथवा उत्तराधार के प्रश्न पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है, कि सामाजिक दृष्टि से बड़ी बहिन माता के समान होती है।

ज्येष्ठां मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।।[2]

जो मनुष्य बड़ी बहिन, माता-पिता के साथ शत्रुवत व्यवहार करते हैं। उन्हें नरक की प्राप्ति होती है।

ज्येष्ठां स्वसारं पितरं मातरं च।
यथा शत्रुं मदामत्ताश्चरन्ति।।[3]

कृष्ण और सुभद्रा के आदर्श प्रेम की बृहत् प्रशंसा महाभारत में की गयी है। विधवा बहिन का भरण-पोषण और उसकी देखभाल करनी चाहिए। यही आदर्श परिवार की व्यवस्था है। यद्यपि सौतेले भाई, गरुड़ और नागों की शत्रुता का भी उल्लेख महाभारत में हुआ है। भाभी एवं छोटे भाई की पत्नी के सम्बन्ध महाभारत में सम्पूर्ण समाज और उसकी लघुत्तम इकाई परिवार के संगठित ढाँचे को सुदृढ़ करने हेतु प्रत्येक पक्ष की सम्यक् समपरीक्षा की गयी है। जिसमें कहा गया है कि बड़े भाई की पत्नी को माता के समान माना जाता था। और बड़े भाई की पत्नी अपने देवर से स्नेह करती थी। बड़े भाई को छोटे भाई के शयन कक्ष में जाना निषिद्ध था। धृतराष्ट्र और कुन्ती के प्रति जो स्नेह आश्रमवासित पर्व में दिखाया गया है। वह सचमुच में अनुकरणीय रहा है। अपने से बड़े को आदर सूचक शब्दों से सम्बोधन करना चाहिए। पाण्डव और धृतराष्ट्र, भीष्म आदि के सम्बन्धों से इनके आदर्श रूप की व्याख्या हुई है। यद्यपि दुर्योधन अथवा कौरव के साथ पाण्डवों का विद्वेष और उसके परिणाम स्वरूप महाभारत जैसे युद्ध का होना इस वैमनस्व को द्वैतित करता है। तथापि गन्धर्वो द्वारा दुर्योधन को पकड़ लेने पर युधिष्ठिर ने उसे मुक्त कराने हेतु अर्जुन को भेजा था। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ज्ञाति के प्रति दूसरे ज्ञाति का आदर्शमय व्यवहार किस प्रकार होना चाहिए।

---

(1) अनु0 पर्व 111/87 (2) वीं 105/19 (3) वहीं 101/17

परस्परविरोधे हि वयं पञ्च च ते शतम्।
अन्यैः सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्।।[1]

इस प्रकार कुटुम्बी जनों में दलबन्दी होने पर कुल के प्रधान के सम्यक व्याख्या शान्ति पर्व में की गयी है। नारद ने कहा है-

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मानांसि च।।[2]

तात्पर्य यह है कि परिवार समाज की प्राथमिक इकाई है। पारस्परिक लगाव सहानुभूति न्याय एक दूसरे के सुख एवं प्रसन्नता के लिए अपने सुख का परित्याग इन परिवारिक मूल्यों की व्याख्या महाभारत में हुई है। क्योंकि यही मूल अन्तिम रूप से मानवीय मूल आदर्शों में परिणित हुए हैं। परिवार में जैविक कार्य अर्थात् सन्तानोत्पत्ति, आर्थिक कार्य अर्थात् धनार्जन एवं उपभोग, सामाजिक स्तर का निर्धारण सुरक्षा, सहानुभूति आदि सद्गुणों से परिवार को श्रेष्ठ माना गया है। महाभारत में संयुक्त परिवार के विघटन की कथा है। लेकिन प्रत्येक परिवार में गृहस्थ आश्रम को महत्वपूर्ण पद प्राप्त है। इस पारिवारिक प्रणाली में बंधकर व्यक्ति अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, चातुर्वर्ण्य की प्राप्ति करता है। इसीलिए ये अत्यन्त प्राचीन काल से सुगठित रूप से चला आ रहा है। परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी, ससुर, दमाद, भाई-बहिन एवं अन्य पारिवारिक ज्ञाति वर्ग के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक उदाहरण देकर इनके आदर्श रूप की परिकल्पना की गयी है। और पदानुसार उपदेश उदाहरण नीति वाक्यों से उसे सुदृढ़ किया गया है। इस परिवार में भी सबसे लघुत्तम और महत्वपूर्ण इकाई पति-पत्नी की है। जिसकी व्याख्या यहाँ अपेक्षित है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध :- परिवार के मूल में पति-पत्नी के मधुर सम्बन्ध वैवाहिक रूप में मिलते हैं। विवाह प्रकरण में इस पर कुछ टिप्पणी करते हुए कहा गया है। कि पति-पत्नी के प्रति कोमल, और मधुर वाणी व्यवहार करें। पत्नियों की पूजा और जहाँ सम्मान नहीं होता वहाँ धार्मिक क्रियायें निष्फल कही गयी हैं। शकुन्तला पत्नी का महत्त्व निरूपित करते हुए कहती है कि पत्नी पुरुष का आधा भाग है। श्रेष्ठतम् सखा है। प्रियवंदा पत्नियाँ एकान्त में

(1) शान्ति पर्व 80/41 (2) शान्ति पर्व 81/22

पति की मित्र होती हैं। धर्म कार्यों में पिता और दुःख के समय माता होती है। अत्यन्त क्रुध होने पर भी पत्नियों का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिए।

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता।।
अर्धे भार्या मनुष्यष्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्यामूलं तरिष्यतः।।
भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्बिताः।।
सखायः प्रविविक्तितेषु भवन्त्येताः प्रियंवदा।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः।।
कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै।
यःसदारःस विश्वास्यस्तस्माद द्वाराः परागतिः।।
संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम्।
भार्येवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता।।
प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते।
पूर्व मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति।।
एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहण मिष्यते।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिह लोके परत्र च।।
आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद भार्यो नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम्।।
(अन्तरात्मैव स्र्वस्य पुत्रनाम्नोच्यते सदा।
गती रूपं च चेष्टा च आवर्ता लक्षणनि च।
पितृणां यानिं दृश्यन्ते पुत्राणां सन्ति तानि च।
तेषां शीला चारगुणास्तत्सम्पर्काच्छुभाशुभाः।।)
भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम्।
हादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गे प्राप्येव पुण्यकृत्।।

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु धर्मार्ताः सलिलेष्विव।।
(विप्रवासकृशां दीना नरा मलिनवाससः।
तेऽपि स्वदारांस्तुष्यन्ति दरिद्रा धनलाभवत्।।)
सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।
रति प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्त मवेक्ष्य हि।
(आत्मनोऽर्धमिति श्रौतं सारक्षति धनं प्रजाः।
शरीरं लोकयात्रां वै धर्मं स्वर्ग मृषीन् पितृन्।)
आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम्।।
प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः।
पितुराश्लिष्येतऽंगानि किमस्त्यभ्यधिक ततः।।[1]

भीष्म ने कबूतर एवं कबूतरी के प्रसंग में पतिव्रता स्त्री की महिमा का विशद् वर्णन किया है।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणी हीनमरण्य सदृशं मतम।।
वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठिति तद् गृहम।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम्।।
धर्मार्थ कामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वसकारिका।।
भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठयते।
असहायस्य लोकेऽस्मिलोकयात्रा सहायिनी।।
तथा रोगाभि भूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम्।।
नास्ति भार्यासमो बन्धुनास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्म संग्रहे।।
यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम्।।[2]

---

(1) आदि पर्व 74/40-53 (2) शान्ति पर्व 144/6-17

महाभारत में वर्णव्यवस्था एवं वर्णाश्रम धर्म का पालन

आश्रम शब्द 'श्रम' धातु से बना है। जिसका अर्थ है। प्रयत्न करना परन्तु इसमें 'आ' लगने से इसका अर्थ है। विश्राम या विराम स्थल हो जाता है। गैडेन ने लिखा है–कि व्यक्ति अपने चर्म लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न करता है। उसमें विराम के लिए कई स्थान हैं। व्यक्ति का जीवन क्रमशः आश्रमों के नियमों के पालन से विशुद्ध होता था। तथा वह अन्त में ब्रह्मलोक के लिए योग्य हो जाता है।[1] डॉ0 रघुवीर शास्त्री ने लिखा है कि वर्ण व्यवस्था चार पूर्ण सामाजिक वर्गों में विभाजित होने वाली एक संस्था है और ऐसे समाज में एक और संगठन की भावना को सुदृढ़ करने वाली एक और संस्था को आर्य प्रतिभा ने जन्म दिया और यह संस्था थी आश्रम व्यवस्था।[2] भारतीय चिन्तन मनीषा ने श्रम को महत्वपूर्ण मानकर उसे ही जीवन का उद्योग, जीवन का धर्म, उसका मर्म और उसका कर्त्तव्य माना है। 'अ' उपसर्ग लगा देने से 'अ' समान्तात् समय जैसी विपत्तिकर ने जीवन काल को चार भागों में विभक्त किया है। क्योंकि काल ही जीवन का मर्म काल ही जीवन मृत्यु है। काल के अनुसार ही जीवन का विकास होता है। इस काल को जो एक समानमान लेता है। वो काल का तिरष्कार कर देता है, इसीलिए जीवन की पूर्णायु को सौ वर्ष की कल्पना कर 25–25 वर्षों के चार आश्रमों की परिकल्पना की गयी है। जैसा कि सुखमय भट्टाचार्य ने लिखा है कि "समाज की स्थिति व कृमोन्नति के निमित्त प्राचीन भारत में चतुराश्रम की प्रतिष्ठा की गयी थी। प्रत्येक का व्यक्तिगत जीवन सुंगठित होकर मोक्ष की ओर अग्रसर हो इस उद्देश्य को लेकर ही शायद चतुराश्रम का उद्देश्य दिया गया है। भारतीय सामाजिक धर्म की स्थापना चतुर्वण्य एवं व्यक्तिगत जीवन धर्म की स्थापना चार आश्रमों पर हुई है।[3] ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास है। इस आश्रम की व्यवस्था भगवान ने स्वयं की है। इन आश्रमों के उद्देश्य के लिए इन आश्रमों की महात्मता के सम्बन्ध में डॉ0 शकुन्तला रानी का अभिमत है। कि "अनेक रूपःता नवीनता परिवर्तन कालक्रम की उपयुक्तता आदि अनेक दृष्टियों से आश्रमों की व्यवस्था मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की अत्यन्त संतुलित और सामांजस्यपूर्ण योजना है।[4] यहाँ हम प्रत्येक आश्रम के धर्म, लक्षण और कर्त्तव्यों की सोदाहरण चर्चा करेगें। आश्रम व्यवस्था का प्रचलन विवादस्पद है। क्योंकि ऋग्वेद

---

(1) दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद, पृ.367 पर उधृत (2) महाभारत कालीन राजव्यवस्था, पृ0–48 (3) महाभारतकालीन समाज, पृ0–101 (4) माभारत में धर्म, पृ0–332

में आश्रमों का व्यवस्थित रूप में उल्लेख नहीं है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं मुनि का वर्ण है।[1] तैतिरीय संहिता में चारों आश्रमों का उल्लेख तो है। पर उनमें क्रमबद्धता नहीं है।[2] प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने इसे बुद्ध के पश्चात माना है।[3] यह गौरी शंकर का अनुमान है कि आश्रम व्यवस्था का क्रमिक विरूपण ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकाल में हुआ था।[4]

(१) ब्रह्मचर्य आश्रम :-यह दो शब्दों से बना है ब्रह्म+चर्य। ब्रह्म का अर्थ है ईश्वर या आध्यात्मिक ज्ञान। वेदों को ब्रह्म कहा जाता है। चर्य का अर्थ है चर्या करना, प्रयत्न करना। अतः ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का वह काल है जिसमें व्यक्ति आध्यात्मिक ज्ञान के लिए यत्नशील रहता है। यह जीवन का प्रथम पर्व है। जीवन प्रसार की यह नींव है। इसी अवस्था में बालक शारीरिक शक्ति और मानसिक विकास को प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य जीवन ही गृहस्थ जीवन का द्वार है। प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी के वेषभूषा साधारण जनों से भिन्न होती थी। मूज की मेखला, जटा, यज्ञोपवीत, वेद, स्वाध्यायरत निर्लोम होकर नियमों का पालन करता था।

मेखला च भवेन्मॉजी जटी नित्योदकस्तथा।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धों नियमव्रतः।।[5]

महेश्वर ने पार्वती से कहा है। कि भैक्ष्याचार्य ब्रह्मचारी का परमधर्म है। धर्मरहस्य, श्रवण, यज्ञोपवीत धारण, वेदोत्व्रत पालन, हवन और गुरु सेवा ब्रह्मचारी का परम् धर्म है।

भौक्षाचर्या परोधर्मा नित्ययज्ञोपवीतिता।
रहस्य श्रवणं धर्मो वेदव्रत निषेवणम्।
अग्निकार्य तथा धर्मो गुरुकार्य प्रसाधनम्।[6]

ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य लक्ष्य विद्योपार्जन है। ब्रह्मचारी की परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि इन्द्री संयम, ब्रतरत कर्म में प्रवृत्त ब्रह्म में स्थित व्यक्ति ही ब्रह्मचारी है।

कामचारी तु कामेन य इन्द्रिय सुखेरतः।
ब्रह्मचारी सदैवैष य इन्द्रियजयेरतः।
अपेतव्रत कर्मा तु केवलं ब्रह्माणि स्थितः।
ब्रह्मभूतश्च रॅंल्लोके ब्रह्मचारी भवत्ययम्।।

---

(1) ऋग्वेद 10/09/5, 7/56/8 (2) तैतिरीय सहिता 6/2/75 (3) पञ्जलिकालीन भारत पृ. 167 (4) भारतीय संस्कृति पृ. 65 (5) आश्वमेधिक पर्व 46/6 (6) अनुशासन पर्व 141/35 1/2-35

ब्रह्मैव समिधस्तस्य ब्रह्माग्नि र्ब्रह्मसम्भवः।

आपे ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म स ब्रह्मणि समाहितः।।

एतदेवेदृशं सूक्ष्मं ब्रह्मचर्ये विदुर्बुधाः।

विदित्या चान्वपद्यन्त क्षेत्रज्ञेनानुदर्शिताः।।[1]

इस प्रकार ब्रह्मवत आचरण करने वाला ब्रह्मचारी, ब्रह्मव्रत का चिन्तन करने वाला ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मा ही उसकी समिधा, ब्रह्म ही उसकी अग्नि है। ब्रह्म से ही वह उत्पन्न है। ब्रह्म ही गुरु है। उसकी चित्त वृत्तियाँ ब्रह्म में ही लीन रहती है। उसमें राग दोष, मोह आदि का अभाव रहता है। यही ब्रह्मचर्य है। उसके हाथ में वेल या पलास का दण्ड रहता है। वह नित्य देवताओं का तर्पण करता है।

पूताभिश्च तथैवाभ्दिः सदा दैवततर्पणम्।

भावेन नियतः कुर्वन् ब्रह्मचारी प्रशस्यते।।[2]

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य :-महाभारतकार ने ब्रह्मचारी स्वरूप धर्म ब्रह्मचर्य आश्रम में नियत कर्मों के साथ उसके कर्त्तव्यों की भी व्याख्या की है। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य गुरु की सेवा करके ज्ञानार्जन करना होता है। भिक्षाटन में मिले समस्त पदार्थों को गुरु के प्रति समर्पित करना वेद मंत्रों का चिन्तन, अभीष्ट मंत्रों का जाप, जितेन्द्रीय गुरु में वाप करने वाला होना चाहिए। भीष्म ने युधिष्ठिर को ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है।

स्मरन्ने को जपन्नेकः सर्वानेकों युधिष्ठिर।

एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपंकवान।

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।

परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा।।[3]

ययाति ने भी गुरु शिष्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्मचारी कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। कि गुरु के अवाहन पर शिष्य उसके समीप जाकर पढ़े। जितेन्द्रीय धैर्यवान सावधान, स्वाध्याय शील और ब्रह्ममुहूत में जागरण करने वाला ब्रह्मचारी सिद्धि को प्राप्त करता है।

---

(1) आश्वमेधिक पर्व 26/15-18 (2) आश्वमधिक पर्व 46/7 (3) शान्ति पर्व 61/17-18

आहूताध्यायी गुरूकर्मस्वचोद्यः, पूर्वोत्थायी चरमं चोपरायी।

मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमन्तः। स्वाध्याय शीलः सिध्यति ब्रह्मचारी।।[1]

ब्रह्मचारी विद्याददाति विनयम् का साक्षात् प्रतिमूर्ति होता है। वो मानसिक रूप से ब्राह्मण तो कायिक रूप से सेवक होता है। अतः ब्रह्मचारी को गुरू के कार्य में कुशल होना चाहिए।

जघन्यशायी पूर्वे स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।

यच्च शिष्येण कर्त्तव्यं कार्ये दासेन वा पुनः।।

कृतमित्येव तत्सर्वे कृत्वा तिष्ठेत पार्श्वतः।

किंकर सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविदः।।

कर्मातिशेषेण गुरावध्येतव्यं वुभूषता।

दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत।।

शुचिदक्षो गुणोपेतो ब्रूयादिष्टमिवान्तरा।

चक्षुषा गुरुमव्यग्रो निरीक्षेत जितेन्द्रिय।।[2]

इसी प्रकार ब्रह्मचारियों के लिए गुरु के समीप रहकर जो शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख है। उसके चार चरण बताये गये हैं। धृतराष्ट्र के पूँछने पर सनत्सुजात ने इन चरणों की व्याख्या इस प्रकार की है–

गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत, स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिर प्रमन्तः।

मानं न कुयन्निादधीत रोष्, मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पादः।।

शिष्य वृत्तिकृमेणैव विद्यामाप्नोतियः शुचिः।

ब्रह्मचर्य व्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते।।

आचार्यस्य प्रियं कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि।

कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते।।

समागुरौ यथा वृत्ति गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत्।

तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयं पाद उच्यते।।

---

(1) आदि पर्व 91/2 (2) शान्ति पर्व 242/17-20

आचार्येणात्मकृतं विजानन्, ज्ञात्वा चार्थे भावितोऽस्मीत्यनेन।

यन्मन्यते तं प्रति हृष्टबुद्धिः, स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः।

नाचार्यस्यानपाकृत्य प्रवासं, प्राज्ञः कुर्वीतं नैतदहं करोमि।

इतीव मन्येत न भाषयेत, स वै चतुर्थो ब्रह्मचर्यस्य पादः।[1]

अर्थात् महाभारत में ब्रह्मचर्य आश्रम के चार चरणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है। कि ब्रह्मचारी गुरु को नित्य प्रणाम करो। बाह्याभ्यान्तर स्वच्छता रखें। अप्रमाद रहकर स्वाध्याय करें। निराभिमानी क्रोधी न हों यह ब्रह्मचर्य व्रत का प्रथम चरण है। द्वितीय चरण में प्राण पण से मनसा, वाचा, कर्मणा से आचार्य का प्रिय कार्य करें। गुरु पत्नी और गुरु पुत्र के साथ सम्मान का व्यवहार करें। तृतीय चरण में कृतज्ञता से आचार्य की प्रसन्नता का ध्यान रखें। एवं चतुर्थ चरण में गुरु दक्षणा कृतज्ञता पूर्वक अर्पित करें। इस प्रकार जो लोग आचार्य के आश्रम में प्रवेश करें उनके अन्ततंरग भक्त होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं। वे देहान्तरवाद योग रूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं। सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र से यही कहा है–

आचार्येयोनिमिह ये प्रविश्य, भूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्य चरन्ति।

इहैव ते शास्कारा भवन्ति, प्रहाय देहं परमं यान्ति योगम्।।[2]

इस प्रकार वेद व्यास ने ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत आने वाले चातुर्वण्य ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य अकर्त्तव्य ब्रह्मचर्य के चार चरण और ब्रह्मचर्य से अमृत प्राप्त का उल्लेख किया है। साथ ही आमरण ब्रह्मचर्य या नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का गुणगान बहुत रूपों में हुआ है। उसके तेज से पाप राशि भस्म हो जाती है। और मनुष्य इससे शीघ्र जीवी बनता है।

(क) उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम्।[3]

नैष्ठिक ब्रह्मचारी पर पितृऋण नहीं रहता भीष्म सुलभा और शिवा इसी श्रेणी के हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचारी गुरु की अनुमति से यथाशक्ति दक्षिणा देकर अपने घर लौट आता है। यही यथावर्तन है। समावर्तन के बाद विवाह से पूर्व ब्रह्मचारी को स्नातक कहा जाता था। जो तीन प्रकार के होते थे–विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्यागतस्नातक।

महाभारत में आश्रम सम्बन्धी चर्चा अधिकांश प्राप्त होती है। आश्रमधर्म (शान्ति0 61,243–246)

---

(1) उद्योग पर्व 44/10–15 (2) उद्योग पर्व 44/6 (3) अनुशासन पर्व 7/14

गृहस्थ आश्रम :- जीवन यापन एवं लोक कल्याण की शिक्षा लेकर ब्रह्मचारी के लोक सेवा के क्षेत्र में उतरने को गृहस्थ आश्रम के नाम से अभीत किया जाता था। इस सम्बन्ध में डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है। "गृहस्थ आश्रम जीवन का दूसरा पर्व है। ब्रह्मचर्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित गृहस्थाश्रम ही मानवीय जीवन की कृतार्थता का प्रमुख पीठ है। ब्रह्मचर्य आश्रम में उपार्जित शक्ति के उपयोग और शील के व्यवहार का यही अवसर है।"[1] गृहस्थाश्रम का सम्बन्ध विवाह या स्त्री से है। इसलिए पति-पत्नी का स्नेह और आदर पूर्ण सम्बन्ध कल्याण का मार्ग है। अतः कल्याणकामी व्यक्ति को स्त्रियों की पूजा करनी चाहिए। इसी समय ही गृहस्थ देवयज्ञ, ऋषि यज्ञ, पितृयज्ञ, नृियज्ञ, भूतयज्ञ, इत्यादि पंचयज्ञों का पालन करता है। इसी आश्रम को ही सभी धर्मों का मूल कहा गया है। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से कहा है-

गृहस्थस्त्वेष धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्चते।
यत्र पककषायो हि दान्तः सर्वत्र सिध्यति।।[2]

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर ही द्विज को गौ, क्षेत्र, धन, दारा, पुत्र, भृत्य आदि से सुख प्राप्त होता था। अतः इस प्रकार मनुष्य को एक ही आश्रम अर्थ, धर्म, काम तीनों की सिद्धि हो जाती थी। उसके कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए भीष्म ने कहा है। जो गृहस्थ वेदों का अध्ययन पूर्ण करके शुभ कर्मों का अनुष्ठान करें विवाहित पत्नी के गर्भ में सन्तान उत्पन्न कर न्यायोचित रूप से भोगों को भोगता है। वह उत्तम गृहस्थ धर्म का पालन करता है। अपनी स्त्री में अनुराग रखने वाला, सन्तुष्ट रहने वाला, ऋतु काल में पत्नी से समागम करने वाला षटता और कुटिलता से दूर रहने वाला जितेन्द्रीय गृहस्थ सब आश्रमों को भोजन देकर सन्तुष्ट करता रहता है। वह गृहस्थ श्रेष्ठ है।

अधीत्य वेदान् कृतसर्व कृत्यः, संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद दुश्चरं यो, गार्हस्थ्यधर्म मुनि धर्मजुष्टम्।।
स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी, नियोगसेवी न शठो न जिव्हाः।
मितारानो देवरतः कृतज्ञः, सत्यो मृदुश्चान्तशंसः क्षमावान्।।

---

(1) महाभरत में धर्म, पृ0-336 (2) शान्ति पर्व 234/6

दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो, ह्यन्नस्यदाता सततं द्विजेभ्यः।

अमत्सरी सर्वलिंगप्रदाता, वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात्

अथात्र नारायणगीतमाहु, महर्षयस्तात महानुभावाः।,

महार्थमत्यन्ततपः प्रयुक्तं, पदुच्यमानं हि मया निबोध।।[1]

गृहस्थ के लिए महाभारत में चार प्रकार की जीविका वृत्ति का उल्लेख है-

(1) कुशूल धान्य - प्रचुर धन संचय करना।

(2) कुम्भ धान्य - अल्प धन का संचय।

(3) अश्वस्तन - भविष्य के लिए धन या खाद्य का संचय न करना।

(4) कपोती वृत्ति - खेत से धन कण बीन कर जीविका वृत्ति का निर्वाह करना।

गृहस्थ वृत्तयश्चैव चतस्त्रः कविभिः स्मृताः।.

कु सूलधान्यः प्रथमः कुम्भ धान्यस्त्वन्तरम्

अश्वस्तनोऽथ कपोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत्।

तेषां परः परो ज्यायान् धर्मतो धर्मजित्तमः।।[2]

इस प्रकार कुशूल्य धान्य वाले गृहस्थ को यजन, याजन, षष्ठकर्म दूसरी श्रेणी वाले को तीन कर्म तीसरी श्रेणी वाले को दो कर्म तथा चतुर्थ श्रेणी वाले गृहस्थ ब्राह्मण को वेदाध्ययन करना चाहिए। ब्राह्मणों के उपलक्षणों से गृहस्थ धर्म को वर्णन करते हुए व्यास ने कहा है कि गृहस्थ के लिए शास्त्रों में अनेक नियम बताये गये हैं। उसे भोजन मात्र अपने लिए नहीं बनाना चाहिए। दिन में नहीं सोना चाहिए, दो बार भोजन करना चाहिए। ऋतु काल के सिवा अन्य समय में स्त्री समागम करना चाहिए उसके द्वार पर अतिथि के रूप में वेदपरांगत विद्वान, स्नातक श्रोत्रिय, हव्य, काव्य, तपस्वी ब्राह्मण आ जाये जो गृहस्थ को इनका सत्कार करना चाहिए।

न भुज्जीतान्तरा काले नान्ततावाह्येत् स्त्रियम्।

नास्यानश्रन् गृहे विप्रो वसेत् कश्चिद् पूजितः।।

तथास्यातिथयः पूज्या हव्यक व्यावहा सदा।

वेदविद्याव्रत स्नाताः श्रोत्रिया वेदपारगाः।

तेषां हव्यं च काव्यं चाप्यर्हणार्थे विधीयते।।[3]

---

(1) शान्ति पर्व 61/10-13 (2) शान्ति पर्व 243/2-3 (3) शान्ति पर्व 243/7-9

वस्तुतः अतिथि पूजन गृहस्थ का सर्वोच्च धर्म है। इससे बड़ा कोई अन्य धर्म नहीं है। ययाति अष्टावकृ से कहते हैं–

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत, दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं, सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी।।[1]

अग्नि पुत्रं सुदर्शन ओभुगती की कथा कहकर व्यास ने ये प्रतिपादित किया है। कि यदि अतिथि उसकी पत्नी का शरीर भी मागता है। तो सच्चे गृहस्थ पालक को उसकी पूर्ति करनी चाहिए। ऐसा गृहस्थ मृत्यु को भी जीत लेता है।

व्यक्तेर्ष्यस्त्यक्तमन्युश्च स्मयमानोऽब्रवीदिदम्।
गृहस्थस्य हि धर्मोऽगयः सम्प्राप्तातिथिपूजनम।।[2]

सुरतान्तवाद ब्राह्मण वेषधारी धर्म उसे मृत्यु को वश में करने का वरदान देता है।

मृत्युरात्मा च लोकश्च जिता भूतानि पच्च च।
बुद्धि; कालोमनो व्योम कामक्रोधौ तथैव च।।[3]

श्रीवासव सम्वाद् में ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिए गृहस्थ के अनेक उपाय बताये गये हैं। जिनमें स्वधर्म का अनुष्ठान धैर्य, शीलतादान, अध्यन, यज्ञ, देवताओं पितरों की पूजा, अतिथि सत्कार, होम, सत्यवादिता श्रद्धा, अनुसुइया, अनीर्षा, सारल्य, प्रफल्ता, आश्रितों का भरण–पोषण, तप शीलता, अहिंसा, परस्त्री वर्जन ऋत्वाभिगमन, उत्साह, अनाहकार, करुणा सत्य प्रियता, दक्ष्यमार्जव, वृद्ध सेवा प्रमुख है।

स्वधर्म मनुतिष्ठत्सु धैर्यादवलितेषु च।
स्वर्ग मार्गा भिरामेषु सत्वेषु निरता ह्यहम्।।
दानाध्ययनयज्ञेज्यापितृदैव पूजनम्।
गुरुणामतिथीनां च तेषां सत्यमर्वतः।।
सुमम्मृष्ट गृहाश्चासन् जितस्त्री का हुताग्नयः।
गुरुशुश्रूषका दान्ता ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः।।

(1) आदि पर्व 91/3 (2) अनुशासन पर्व 2/68–69 (3) अनुशासन पर्व 2/90

नित्यंदानं तथा दाक्ष्यमार्जवं चैव नित्यदा।

उत्साहोऽथानहंकारः परमं सौहदं क्षमा।।

सत्यं दानं तपः शौचं कारुघयं बागनिष्ठुरा।

मित्रेषु चानभिद्रोहः सर्व तेष्वभवत् प्रभो।।[1]

वेदव्यास का यह मन्तव्य है। कि गृहस्थ पुरुष का बड़ा भाई, पिता, पत्नी, पुत्र अपनी शरीर सेवकगण अपनी छाया के समान होते हैं। इसलिए गृहिस्थक सुखशान्ति के लिए मनुष्य को शुभकर्म करना चाहिए। ऐसा शुभकर्म शुभाचरण वाला गृहस्थ विष्णुलोक अथवा श्रेष्ठ गति को प्राप्त होता है।

स चक्रधर लोकानां सहशीमाप्नुयाद गतिम्।

जितेन्द्रियाणामथवा गतिरेषा विधीयतै।।

स्वर्गलोको गृहस्थानामुदारमनसां हितः।

स्वर्गो विमानसंयुक्तो, वेददृष्टः सुपुष्पितः।।

स्वर्ग लोको गृहस्थानां प्रतिष्ठा नियतात्मानाम्।

ब्रह्मणा विहिता योनिरेषा यस्माद् विधीयते।

द्वितीयं क्रमशः प्राप्य स्वर्गलोके महीयते।।[2]

कहना नहीं होगा कि महाभारत की दृष्टि में गृहस्थ धर्म समाज की रीढ़ है। मूलधर्म है। इस धर्म से ही ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी अपनी जीविका का ही निर्वाह करते हैं। मोहाशक्ति से दूर जितेन्द्रिय, यज्ञ, दान आदि कर्ता गृहस्थ देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण एवं मानव ऋण से उऋण ऋण रहित होता है। अतः उसके कर्त्तव्यों विधि निषेधों का विस्तृत वर्णन विभिन्न सम्वादों उपाख्यानों में वर्णित है। अतिथि सत्कार उसका मूल कर्त्तव्य है। यज्ञ सम्पादन समाज सेवा है। वैक्तिक जीवन में अनेक गुणों का वह आधार है। जीवन गृहस्थ धर्म का विधिवत पालन करने वाला व्यक्ति स्वर्ग और अपवर्ग दोनों को सहज ही प्राप्त कर लेता है।

वानप्रस्थ आश्रम :- अनासक्त रहकर गृहस्थ आश्रम में त्यागमय भोग का आदर्श उपस्थित कर मानव को परोपद्देश्य आत्मसत्कार की दिशा में अग्रसर कराने के लिए वानप्रस्थ

(1) शान्ति पर्व 228/29-31-46-47 (2) शान्ति पर्व 243/26-28

आश्रम का नियम विदित था।[1] ढलती वय में मनुष्य पूर्णकाम और आप्तकाम हो जाता है। उसके पुत्र अब गृहस्थ धर्म में दीक्षित हो चुके होते हैं। अतः अपने जीवन को अध्यात्मिक दिशा की ओर मोड़ने के लिए जिस सोपान में वह प्रवेश करता है। उसे वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं। मनुष्य की विचार शीतला आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति समाज में सन्तुलन बनाने के लिए वानप्रस्थ आश्रम की अत्यन्त आवश्यकता है। डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है–"वानप्रस्थ आश्रम का अभिप्राय गृहस्थ के पूर्ण होने पर वन का प्रस्थान करना है। जीवन का यह तीसरा पर्व भारतीय जीवन व्यवस्था की एक अद्भुत कल्पना है। गृहस्थ जीवन में परितृप्ती और प्रकृति का अनुभव करने वाले उत्साही व्यक्तियों के लिए यह एक नये जीवन का सन्देश है। साथ ही समाज के लिए ज्ञान और गुणों से लाभ उठाने का भी अवसर है।"[2] कहना नहीं होगा कि हिन्दु वर्ण व्यवस्था को सुसंगठित प्रकृतिशील और समाज में सौ मनुष्य रखने के लिए यह अद्भुत और लोकोत्तर आश्रम है। क्योंकि इस अवस्था में मनुष्य परिवार की संकुचित सीमाओं, जाग्रतिक मिथ्यामोह, स्वार्थो के संकुचित दायरों से ऊपर उठकर सामाजिक क्षेत्र में साधना और सेवा का अवसर प्राप्त कर जीवन को पूर्ण और अपने लक्ष्य को सार्थक करता है। वस्तुतः वानप्रस्थ आश्रम, ब्रह्मचर्य आश्रम की नूतन परिवेश में पुनावृत्ति है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम में उसने जो ज्ञानार्जन किया है। जिसका व्यवहारिक उपयोग गृहस्थिक जीवन में किया है। उन अनुभूतियों का वितरण उन्मुक्त भाव से वानप्रस्थ आश्रम में ही रहकर वह करता है। इसका अभिधेय अर्थ है कि वानप्रस्थी एकाएक संन्यस्थ जीवन नहीं व्यतीत कर सकता अतः यह आश्रम उसकी पूर्व पीठिका है। वह वन में कुटिया बनाकर अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर जीवन–यापन करता है। पत्नी यदि चाहे तो उसके साथ रह सकती है। भारत वर्ष में विद्या की अभूपूर्व जो उन्नति हुई है। उसका मूल वानप्रस्थ आश्रम ही है। महेश्वर उमा सम्वाद में कहा गया है कि वानप्रस्थ मुनिउपवास में तत्पर्य रहें जितेन्द्रिय बने सुचिता आचार्य धर्म का पालन कर धर्म चिन्तन करे उसे सदैव वन में ही रहना चाहिए। नीमार और फल मुनि का सेवन करना चाहिए चीर और वल्कल छाल धारण कर प्रतिदिन अग्निहोत्र करना चाहिए।

त्रिकालमभिषेकं च पितृदेवार्चनं तथा।

अग्निहोत्र परिस्पन्द इष्टिहोमविधि स्तथा।।

---

(1) महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनायें- डॉ0 कामेश्वर नाथ मिश्र, पृ0–33 (2) महाभारत में धर्म, पृ0–340–341

योगचर्याकृतैः सिद्धैः कामक्रोध विवर्जितैः।

वरिशय्यामुयासद्भिर्वीरस्थानोपसेविभिः।।

चीरवल्कलसंवीतै मृगचर्मनिवासिभिः।

कार्या यात्रा यथाकालं यथाधर्मे यथाविधि।।

वन नित्यैर्वन स्थैर्वनगोचरैः।

वनं गुरुमिवासाद्य वस्तव्यं वन जीविभिः।।

तेषां होम क्रिया धर्मः पच्चयज्ञनिषेवणम्।

भागं च पच्चयज्ञस्य वेदोक्तस्यामुपालनम्।।[1]

महाभारतकार ने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने के कुछ शारीरिक लक्षण भी दिये गये हैं। इसे जीवन की तृतीय अवस्था भी कहा गया है। जब शरीर के बाल सफेद हो जायें शरीर में झुर्रियाँ दिखाई देने लगें, एवं पुत्र के पुत्र भी हो जाये ये ही वानप्रस्थ में प्रवेश का उपयुक्त समय है।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।

अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदा श्रयेत्।।

तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत्।

तानेवाग्नीन् परिचरेद् यजमानो दिवौकसः।।[2]

वानप्रस्थ आश्रम पुरुषों के लिए तो आवश्यक है। किन्तु पुरुषों के लिए विकल्प है। इसमें निषेध यह है कि पति-पत्नी गृहस्थ आश्रम की भाँति नहीं रह सकेगें उन्हें त्याग, संयम, जितेन्द्रीय एवं ब्रह्मचारी के रूप में रहना पड़ेगा। वानप्रस्थी अपने साथ गृहयी अग्नि यज्ञ के लिए ले जाता है। तो महाभारत में चार प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख वानप्रस्थ के सन्दर्भ किया है। सद्य संचय, मासिक संचय, वार्षिक संचय, द्वादश वार्षिक संचय यह कहा है।

वानप्रस्थाश्रमेऽप्येताश्चस्तो वृत्तयः स्मृताः।

सद्यः प्रक्षालकाः केचित् केचिन्मासिक संचयाः।।

---

(1) अनुशासन पर्व-142/6-14 (2) शान्ति पर्व 244/4-5

वार्षिकं संचयं केचित् केचिद् द्वादशवार्षिकम्।

कुर्वन्त्यतिथिपूजार्थे यज्ञतन्त्रार्थमेव वा।।[1]

वानप्रस्थ का उद्देश्य अत्यन्त कृच्छ्रसाधना द्वारा चित्त शुद्धि करना है। वस्तृतः परमात्मा दर्शन की यह पूर्व पीठिका है। धृतराष्ट्र, गान्धारी, कुन्ती, विदुर व संजय के वानप्रस्थ ग्रहण का चित्रण आश्रम वासित् पर्व में हुआ है। धृतराष्ट्र ने वल्कल वस्त्र पहन कर अग्निहोत्र की आग लेकर वन की ओर प्रस्थान किया था।

अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिन संवृतः।

वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः।।[2]

धृतराष्ट्र, गान्धारी सहित गंगातट पर निवास करने लगे कुशासन पर सोना और विधि अग्निहोम करने लगे ऐसा विदुर और गान्धारी ने भी किया था।

संध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भरत।

विदुर संजयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः।।[3]

वानप्रस्थी को स्वर्ग किस प्रकार मिलता है। इसका वर्णन भी महाभारत में हुआ है। वह आहार–विहार को नियमित रखकर स्वालम्बी बन पापः से दूर रहे ऐसा मुनि ही मोक्ष को प्राप्त होता है। ऐसा ययाति ने अष्टक को समझाया था।

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो, दाता परेम्यो न परोपतापी।

तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां, वसन्नरण्ये निताहार चेष्टः।।[4]

विगतमान द्वन्द्वों से परे मौनालम्बन कर मुनि परलोक पर विजय प्राप्त करता है।

तपया कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिरोणितः।

स च लोकमिमं जित्वां लोकं विजयते परम्।।

सदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिमौनं समास्थितः।

अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम्।।[5]

पाप से भय करने वाला स्वधर्म पर स्थित रहने वाला मुनि सुख स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

---

(1) शान्ति पर्व 243/8–9 (2) आश्रमवासित पर्व 15/3 (3) वहीं 18/18–19 (4) आदि पर्व 91/4 (5) वहीं 91/16–17

पापानां कर्मणां नित्यं विभियाद् यस्तुमानवः।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते।।[4]

तात्पर्य यह है कि शरीर को पवित्र रखने वाला कुशलता से धर्म का पालन करने वाला चित्त को एकाग्र कर जितेन्द्रिय वानप्रस्थी उत्तम लोक को प्राप्त कर फिर से जन्म नहीं धारण करता।

चर्मवल्कल संवासी सायं प्रातरुपस्पृरोत्।
अरण्यगोचरो नित्यं न ग्रामं प्रविशेत पुनः।।
अर्चयन्नतिथीन् काले दद्याच्चापि प्रतिश्रयम्।
फल पत्रा वरैर्भूलैः श्यामाकेन च वर्तयन्।।
प्रवृत्तमृदक वायुं सर्वे वानेयमाश्रयेत्।
प्राश्रीयादानुपूर्व्येण यथादीक्षमतन्द्रितः।।
समूलफल भिक्षाभिरचैदतिथि मागतम्।
यद्भक्ष्यं स्यात् ततो दद्याद् भिक्षां नित्यमतन्द्रितः।।
देवतातिथिपूर्वे च सदा प्राश्रीत वाग्यतः।
अस्पर्धितमनाश्चैव लध्वाशी देवतात्रयः।।
दान्तो मैत्रः क्षमायुक्तः केशाञ्श्मश्रु च धारयन्।
जुहृन् स्वाध्यायशीलश्च सत्यधर्मपरायणः।।
शुचिदेहः सदा दक्षो वननित्यः समाहितः।
एवं युक्तो जयेत् स्वर्गं वान प्रस्थो जितेन्द्रियः।।[1]

सारांश यह है कि महाभारत में वानप्रस्थ के स्वरूप उसको ग्रहण करने का समय वानप्रस्थी के धर्म उसकी प्रमुख चार वृत्तियों और उसके उद्देश्यों का सूक्ष्मोत्तर वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि वृद्धावस्था के आगमन या इन्द्रियों के शिथिल होने पर संस्कारों से उपचारित साग्नि वानप्रस्थी जितेन्द्रिय ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ आदि यज्ञों को कर मृगचर्म या वल्कल वस्त्रधारण कर एक बार भोजन कर अतिथि सत्कार कर परोपकारी, स्वालम्बी, पुण्यकर्ता

(1) वहीं 92/4 (2) अश्वमेधिका पर्व 46/10-16

वानप्रस्थी स्वर्ग प्राप्त करता है। अगस्त, सप्तऋषिगण, मधुछन्दा, धृतराष्ट्र आदि ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार किया था। महाभारत की ये भी अवधारणा है। कि ये वानप्रस्थी मृत्यु उपरान्त तारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।

संन्यास आश्रम :- यह जीवन का अन्तिम आश्रम है। जिसका अर्थ है। सामान्य रूप से सर्वास्य त्याग संन्यास जीवन मुक्ति का पर्यव्य है। अब उसके लिए कोई कर्म शेष नहीं रह जाता संन्यासी अपने वर्ण के सभी चिन्हों से मुक्त हो जाता है। वह एक दण्ड और कमण्डल लेकर स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करता है। ययाति ने सन्यस्त व्यक्ति के लिए कुछ नियमों का उल्लेख इस प्रकार किया है।

अशिल्प ज़ीवी गुणवांश्चैव नित्यं, जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः।

अनोकशायी लघुरल्प प्रचार, श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षुः।।[1]

ब्रह्मा जी ने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, आर्यजौ, अक्रोध, असूर्या, इन्द्रिय दमर, अपिशून्यता का उल्लेख इस प्रकार किया है।

उपस्पृशेदुद्धताभिराद्भिश्च पुरुष सदा

अहिंसा ब्रह्मचर्ये च सत्यमार्जवमेव च

अष्टस्वेतेषु युक्तः स्याद् व्रतेषु नियतेन्द्रियः।।[2]

संन्यासी को केशलोम, नखकटाकर सन्यास में प्रवेश करना चाहिए। उसे अनाग्नि भी कहते हैं। जब संसार की सभी वस्तुओं से उसका वैराग्य हो जाये या मन इनमें उपराम हो जाये तभी व्यक्ति को संन्यासी बनना चाहिए। उसे वृक्ष के मूल में सोना चाहिए और सभी प्राणियों की उपेक्षा करनी चाहिए।

कपालं वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता।

उपेक्षा सर्वभूतानामेतावद् भिक्षुलक्षणम्।।[3]

मठ, घर और अग्नि का निषेध कर मात्र भिक्षा हेतु संन्यासी को गाँव जाना चाहिए उसे अनिकेत इसीलिए कहा जाता है।

एकश्चरति यः पश्चन् न जहाति न हीयते।

अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नार्थ माश्रयेत्।।[4]

---

(1) आदि पर्व 91/5 (2) अश्वमेधिका पर्व 46/28-30 (3) शान्ति पर्व 32/7 (4) शान्ति पर्व 32/5

संन्यासी अशिल्प जीवी सम, दम आदि गुणों से युक्त अपरिग्रही और जितेन्द्रिय हो। इसी प्रकार सन्यास आश्रम को सनातन धर्म मानकर सन्तोष त्याग ब्रह्म साक्षात् कार्य की वृत्ति का उल्लेख कपिल ने किया है।

संतोषमूलस्त्यागात्मा ज्ञानाधिष्टानमुच्यते।
अपवर्गमतिर्नित्यो यतिधर्मः सनातनः।।[1]

संन्यासी को आत्माराम कहा जाता है। भीष्म ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जो आत्मा का यजन करता है। आत्मरत होकर आत्मा में ही क्रीड़ा करता है। अग्निहोत्र की अग्नियो को आत्मा में आरोपित कर संग्रह परित्याग वृत्ति का आश्रम लें। यही सन्यास का धर्म है।

आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्म क्रीड़ात्मसंश्रयः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य व्यक्त्वा सर्वपरिग्रहान्।।[2]

महाभारत में चार प्रकार के संन्यासियों का उल्लेख है। कुटीचक, बहुदक, हंस और परमहंस।

चतुर्विधा भिक्षावस्ते कुटीचक बहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात् स उत्तमः।।[3]

शब्द कल्पवृद्धों में इन चारों की व्याख्या वैरवनास सूत्र के अनुसार इस प्रकार की गयी है-

तत्रकुटीचका गौतमभारद्वाजयाज्ञवल्क्यहारीत प्रभृतीना-
माश्रमेष्वष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्ग मोक्षमेव प्रार्थयन्ते।।

बहूदकास्तिदण्ड कमण्डलु काषाय धातु वस्त्र ग्रहण वेष धारिणों ब्रह्मर्षि गृहेषु चान्येषु साधुवृत्तेषु मांस लवणयर्युजितान्नं वर्जयन्तः सप्तागारेषु भैक्षं कृत्वा मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। हंसानाम ग्रामे चैकरात्रं नगरे पंचरात्रं बसन्तस्तदुपरि न वसन्तो गोमूत्रगोमया हारिणो वा मासोपवासिनो वा नित्यचान्द्रायण व्रतिनो नित्यमुत्थानमेव प्रार्थयन्ते। परमहंसा नाम वृक्षैक-मूले शून्यागारे श्मशाने वा वासिनः साम्बरा वा दिगम्बरा वा।

न तेषां धर्माधर्मो सत्यानृते शुद्ध च शुद्धयादि द्धैतम्।
सर्वसमाः सर्वात्मानः समलोष्टकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरण कुर्वन्ति।।[4]

---

(1) शान्ति पर्व 270/31 (2) शान्ति पर्व 244/24 (3) अनुशासन पर्व 141/89 (4) वेखानस सूत्र अ० 8-9 शब्द कल्पद्रुम पर अधिदृत

तात्पर्य यह है कि आरम्भ में मनुष्य मन को संयम करने के लिए पुत्रों के द्वारा कुटी बनाकर उनके ही अन्न से जीवन व्यतीत करता हुआ मोक्ष प्राप्त में लीन रहता है। बहुतक गेरूए रंग के वस्त्र धारण करता है। और सात श्रेष्ठ ब्राह्मण से भिक्षान् ग्रहण करता है। जो अपना घर नगर छोड़ बाहर बिहार करता है। वह तीसरे प्रकार का सन्यासी हंस कहलाता है। परमहंस संन्यासी को किसी का ध्यान नहीं रहता है। वह तो पूर्ण ब्रह्मलीन की अवस्था पर पहुँच जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर संन्यासी श्रेष्ठ माने जाते हैं। परमहंस के धर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले परमात्मा का कभी त्रोधान नहीं होता यह द्वन्द्वातीत अवस्था है। अजर, अमर व अविनाशी पद है। निष्कर्ष यह है कि जो संन्यासी जितेन्द्रिय इन्द्रियों के विषय, पंच महाभूत मन बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष इन सब का विचार करके सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होता है। वह अपने चर्म पुरुषार्थ स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थश्च महाभूतानि पञ्च च।
मनो बुद्धिश्हंकार भव्यक्तं पुरुषं तथा।
एतत् सर्वे प्रसंख्याय यथावत् तत्वनिश्चयात्।
ततः स्वर्गमवाप्नोति विमुक्तः सर्वबन्धनैः।।[1]

ब्रह्मा ने कच्छवृत्ति की तरह इन्द्रियों को अन्तरमुखी करने का मुख्य लक्षण कहा है। मन, इन्द्रिय, बुद्धि को निःचेष्ट कर सम्पूर्ण तत्त्वों को प्राप्त कर निस्प्रभाव से ज्ञान प्राप्त करने के लिए दत्तचिन्त रहने का उल्लेख किया है। कौपीनधारी संन्यासी एकान्त स्थान में बैठकर सब प्रकार की अशक्तियों से छूट कर पंचकोश से रहित मोक्षोपयोगी श्रवण मन निधित्यासन, निराहार रहकर स्थाणु की तरह रहता है। उसे सनातन धर्म का मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

स्थाणु भूतो निराहारो मोक्षदृष्टेन कर्मणा।
परिव्रजेति यो युक्तस्तस्य धर्मः सनातनः।।
न चैकत्र समासक्तो न चैकपुलिनेशयः।।
एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्ग मनुयातीमं पदं तस्य स विद्यते।।[2]

---

(1) आश्वमेधिक पर्व 46/54-55 (2) अनुशासन पर्व 141/86-88

कहना नहीं होगा कि शरीर की भाँति समाज के संचालन हेतु चातुर्वण्य व्यवस्था और आश्रम के स्वरूप लक्षण, विधि निषेध आदि का व्यवहारिक और सैद्धान्तिक विवेचन महाभारत में हुआ है। इस विवेचन में सामाजिकता और उच्यता का विशेष ध्यान रखा गया है। वर्ण व्यवस्था, विद्या रक्षा, व्यवसाय और सेवा के अनुरूप बनाये गये हैं। इस वर्ण को धर्मानुसार आश्रमों से जोड़ कर सामाजिक सर्मस्ता की परिकल्पना ऋषियों ने की थी। वर्ण व्यवस्था में कुछ आपत्तियाँ आज के सन्दर्भ में लगायी जाती हैं किन्तु आश्रम व्यवस्था भारतीय प्रतिभा की अतिच्य कल्पना है। सफल और सुन्दर जीवन के लिए आयु कि गति के साथ जीवन के आदर्श मूल दृष्टि तथा कर्त्तव्य बदलने के लिए इन्हें व्यवहारिक रूप दिया गया है। ब्रह्मचर्य शक्ति और सांस्कृतिक धर्म फलीभूत होते हैं। वानप्रस्थ सन्यास की पूर्व पीठिका है। जो जीवनान्द का सेतु है। इन्द्रिय संयम, स्त्रियों के लिए व्रत मानवीय और सामाजिक धर्मो की आंवश्यकता और उनका परिपालन महाभारतकार का एकमात्र उद्देश्य रहा है। वर्ण और चतुराश्रम की व्याख्या के सम्बन में सुखमय भट्टाचार्य ने ठीक ही लिखा है–

"कर्मपटु ग्रहस्थ बनने के लिए ब्रह्मचर्य की उपयोगिता कितनी अधिक है। यह सहज ही में समझा जा सकता है। विहित कर्मो के अनुष्ठान से ग्रहस्थ आश्रम सर्वाअपेक्षा मधुर बनाया जा सकता है। सब आश्रमों में एक ऐसा अच्छेद्य योगसूत्र देखने को मिलता है कि उस सूत्र के कहीं से भी छिन्न होते ही जीवन का मूल्यसुर ठीक से झंकृत नहीं होगा। और मानव जीवन का उद्देश्य व्यर्थ हो जायेगा।"[1]

यद्यपि महाभारत में वर्ण और आश्रम के विरुद्ध आचरण करने वाले उसके विधि निषेधों का पालन न करने वाले व्यक्तियों की भी चर्चा है। द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृष्ण इत्यादि सहित अनेक ऐसे उदाहरण है। जिनके कार्य वर्ण और आश्रम से कुछ विपरीत से दिखते हैं। अतः इसका यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि महाभारत काल तक वर्ण आश्रम व्यवस्था कुछ शिथिल हाो रही थी यह तरे युद्धकाल और या संकटापन परिस्थितियों के कारण ही उनका जीवन इस प्रकार ढल गया कि काल के महायुद्ध में बाकी व्यवस्था छोड़कर निश्चित कर्त्तव्य में लगना ही उनका धर्म बन गया फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ,

(1) महाभारत कालीन समाज, पृ0–114

वानप्रस्थ एवं संन्यासी निष्ठापूर्वक यदि अपने धर्म का पालन करेगें तो उन्हें परमगति निश्चित मिलेगी। व्यास ने लिखा है कि जो इन आश्रमों का रागद्वेष से रहित होकर इन आश्रमों का पालन करेगा उसे परमात्मा की प्राप्ति निश्चित रूप से होती है–

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक।
यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमा गतिम्।।
एकोवाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद यथाविधि।
अकामद्वेष संयुक्तः स परत्र विधियते।।
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।।
एतामारुहा निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते।।[1]

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उम्र के आधार पर और जन्म के पश्चात् से मनुष्य की क्रिया प्रारम्भ हो जाती थी। उसी आधार पर पूर्व कालीन युग से ही यह विभाजन हो चुका था कि मानव अपनी जिस–जिस अवस्था में आये उसी के अनुरूप आश्रमों को ग्रहण करता जाये, शायद यही विधि का विधान महाभारत में वर्णित है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम इत्यादि आश्रमों का विधान स्थिति अनुरूप ही था। आश्रम व्यवस्था में कई वस्तुएँ निषिद्ध एवं कई वस्तुएँ स्वीकृति का भी वर्णन है। महाभारतकाल सभी प्रकार की व्यवस्थाओं का वर्णन हुआ है। और प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों के अपने वर्ण के आधार पर ही कर्त्तव्य द्रष्टव्य हुये। कई विद्वान ने भी अपने तर्क पूर्ण तथ्यों आश्रम–व्यवस्था को सिद्ध किया है।

---

(1) शान्ति पर्व 242/13–15

महाभारत काल में नारी की दशा

पहले कहा जा चुका है कि स्त्री के विभिद रूप होते हैं। कन्या, पत्नी, माँ, दासी, बहिन इत्यादि विवाह के अन्तर्गत नारीदशा का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। यहाँ विशेष रूप से कन्या, पत्नी, रक्षण, तारन, स्त्रीत्व महिमा निन्दा विनियोग इत्यादि की दृष्टि से उनकी दशा का अध्ययन विश्लेषण प्रस्तुत किया जायेगा।

महाभारतकाल में कन्याओं के प्रति अधिक स्नेह का उल्लेख मिलता है। शुक्राचार्य अपनी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करने के लिए अपने प्राणों को संकट में डाल दिया था।

दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हिमे।
प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र स्थितम्।।[1]

अब पुत्र पिता को अपनी सम्पत्ति कन्या को ही देने का विधान महाभारत में कहा गया है। भीष्म ने लिखा है कि माता को दहेज में जो धन मिलता है। उस पर कन्या को ही अधिकार है।

मातुश्च यौतकं यत्स्यात् कुमारीभाग एवं सः।
दौहित्र् एवतद् रिक्थमपुत्रस्य पितुर्हरेत्।।[2]

अलंकृत कन्यायें मांगलिक कही गयी हैं। उनका दर्शन शुभांकर कहा गया है। महाभारत में कन्याओं के अक्षत योनित्व का विशेष महत्व वर्णित है। यद्यपि सत्यवती अम्बा, द्रौपदी, माध्वी आदि को समागमों के पश्चात् भी कन्या रूप प्राप्त रहा है।

भार्या रक्षण के रूप में अस्मर्थ व्यक्ति को नरकगामी कहा गया है। सम्पूर्ण महाभारत में पत्नी रक्षा मूलकारक रूप में वर्णित है। यद्यपि अपवाद् स्वरूप पत्नी तारण का ही उल्लेख मिलता है। स्त्रीवध, ब्रह्महत्या के समान पाप कहा गया है।

प्राय: पश्चिमी भारतीय धर्म, दर्शन[3] और समाज पर यह आक्षेप करते हैं। कि भारतीय समाज में नारी की स्थिति दासी के समान थी। यह कथन सर्वांश सत्य नहीं है। द्रौपदी, शकुन्तला, लोपामुद्रा आदि के उदाहरणों से ये कहा जा सकता है इस नारियों ने अपने कान्ता समित उपदेश अथवा अवरानुकूल कठोर वचन कहकर पति पर अपना वर्चस्व दिखाया है। स्त्रियों के प्रति

(1) आद्रिक पर्व 80/9-10 (2) अनुशासन पर्व 45/12 (3) महाभारत अनुशासन पर्व 126/26

विचारों के सम्बन्ध में कुछ बातें विचारणीय हैं। जैसे सहमरण पति के मरने पर उस स्त्री की बड़ी प्रशंसा की जाती थी। जो पति के चिता के साथ ही उस अग्नि में जल जाये माद्री, देवकी, भद्रा, रोहणी, मंदिरा इत्यादि स्त्रियों ने पति के साथ सहगमन किया था। कृष्ण के देह त्यागने पर अनेक पट रानियों ने चिता में जलकर सती महिमा को गौरान्वित किया था।

पूर्वमृतं च भर्त्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति।[1]

मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी।[2]

तं देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा।

अन्वारोहन्त च तदा भर्त्तारं योयितां वराः।।[3]

तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वरांगना।

ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चस्तुः पति लोकगाः।।[4]

रुक्मिणी त्वय गान्धारी शैव्या हैमवती सती।

देवी जाम्बवती चैव विविशुजतिवेदसम्।।[5]

यद्यपि महाभारत में स्त्रियों को बहुत सम्मान प्राप्त था। फिर भी हीन विचार वाले वक्तव्यों की कमी नहीं है। कहा गया है कि सौ जीवा वाला व्यक्ति सौ वर्ष तक, नारी निन्दा या उसके अवगुणों का वर्णन करे तब भी वह सम्पूर्ण दोषों का कथन नहीं कर सकता।

यदि जिव्हा सहस्रं स्याजीवेच्च शरदां शतम्।

अनन्य कर्मा स्त्री दोषाननुक्त्वा निधनं ब्रजेता।।[6]

नारद ने कामाभूत नारियों की निन्दा करते हुए कहा है कि वे कुबड़े, अन्धे, मूर्ख और दुराचारी व्यक्ति से भी संयुक्त हो जाती है।

अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते चान्ये कुष्जान्ध जड़ वामनैः।

पंशुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कृत्सिताः नमः।।[7]

भीष्म का भी अयरयादित्व नारियों के प्रति इसी प्रकार के विचार थे। उनकी धारणा थी। कि पतित्व करने के लिए ही स्त्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। वे जलती हूई आग माया विश्व और सर्प के समान हैं। कामान्धता को लेकर महाभारतकार ने स्त्रियों के प्रति अनेक निन्दक शब्द लिखे हैं।

---

(1) आदि पर्व 74/6 (2) वहीं 125/31 (3) मौ0 पर्व 7/18 (4) वहीं 7/24 (5) वहीं 7/73 (6) महा0 शान्ति पर्व 112/74/9 (7) महा0 अनुशासन 13/38/2002

न स्त्रीभ्यः किञ्चदन्यद् वै पापीयस्तरमस्ति।
स्त्रियों हि मूलं दोषाणां तथा त्वमपि वेत्थ ह।।
असद्धर्मस्त्वयं स्त्रीणामस्माकं भवति प्रभो।
पापीयसो नरान् यद् वैलज्जां व्यक्वा भजामहे।।
अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात् परिजनस्य च।
मर्यादायाममर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु।।
अन्तकः पवनो मृत्यु पातालं वऽवामुखम्।
क्षरधारा विषं सर्वो व हिरित्येकतः स्त्रियः।।[1]

महाभारत में आये हुए समस्त नारी पात्र उच्च कुल से सम्बद्ध हैं, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजवंश से सम्बद्ध हैं, अतः जनसाधारण समाज में नारी की वास्तविक स्थिति का पाचिय हमें इस काव्य से नहीं मिलता है; फिर भी इतना सत्य है कि नारी तत्कालीन समाज के गृहस्थ ही गहलक्ष्मी थी, उसके सम्पूर्ण अधिकार उसे प्राप्त थे नारी और पुरुष का कर्मक्षेत्र भिन्न था, फिर भी वे एक दूसरे के पूरक थे, एक दूसरे की सहायता दोनों को अपेक्षित थी। दोनों पति-पत्नियों को जन्मान्तर का साथी माना जाता था।

रामायण काल के समाज की तरह महाभारतकालीन पिता कन्या के जन्म को कष्टकारी नहीं मानते थे, पुत्र एवं कन्या में बहुत अन्तर नहीं माना जाता था- **"यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।"** पुत्र की भाँति कन्या के भी नाना विध संस्कार किये जाते थे, राजा शान्तुन ने वन में प्राप्त कृप तथा कृपी नामक बालकों के समस्त संस्कार पूर्ण किये थे-

"क्रियाश्च तस्या मुदिश्चक्रे स नृपसत्तमः"।

लड़कियों के अपने माता-पिता के गृह में नाना प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, यद्यपि इन लड़कियों को शिक्षा-संस्था में जाते हुए नहीं देखा जाता है फिर भी उनकी विद्वता, ज्ञान, तर्कशक्ति, व्यावहारिक ज्ञान, राजनीतिक तथा अन्य शास्त्रों से उनका परिचय जगह-जगह प्रतिबिम्बित होता है। इस काल की नारियों में शकुन्तला, सावित्री, शिवा, विदुला, गौतमी, आचार्या, अरुन्धती, दमदन्ती आदि जितनी भी नारियाँ हैं और इनसे सम्बद्ध उपाख्यान हैं, उनसे यही प्रतिध्वनित होता

(1) अनुशासन पर्व 38/12-14-16-29

है कि ये सभी विदुषी थीं, इन्होंने शास्त्रज्ञान के साथ धर्म और राजनीति में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। गंगा, सत्यवती, गांधारी, कुन्ती भी शिक्षित थीं, उनका चरित्र महान था। द्रोपदी ने विधिवत बृहस्पति से राजनीति की शिक्षा ली थी, उसे जो विशेषण-पंडित, पतिव्रता, धर्मज्ञा, धर्म दर्शिनी आदि दिये गये हैं, वे उसके पांडित्य के द्योतक हैं। द्रौपदी तो समस्त राज-व्यवस्था का सूत्र अपने हाथ में रखती थी, दास-दासियों पर नजर रखती थी, राजकोष के आय-व्यय वह हिसाब रखती थी। उत्तरा ने भी गीत, नृत्य और वाद्य की शिक्षा ग्रहण की थी। इस काल की नारी का प्रधान गुण चरित्र माना जाता था, वे पुरुष की वास्तविक संगिनी थी, वे अपने सहयोग से पुरुष की गति को आगे बढ़ाती थीं वे वास्तव में पूर्ण मनुष्यत्व का परिचायक हैं। इस काल में दत्तक पुत्र की तरह कन्यायें भी गोद ले ली जाती थीं, यदुश्रेष्ठ सूर ने अपनी कन्या 'प्रथा' अपने भाई कुन्ती भोज को दे दी थी, कुन्ती भोज ने उसका धूमधाम से स्वयंवर कराकर विवाह किया था, इस प्रसंग में ज्ञात होता है कि कन्या समाज में पुत्र की तरह सम्मानित थीं।

पितृगृह में कन्यायें अपने माता-पिता के कार्य में सहयोग देती थीं; धीवर कन्या सत्यवती इसका उदाहरण है। कुन्ती, शकुन्तला आदि अतिथियों की अभ्यर्थना करती थीं।

कन्या संन्यासिनी नहीं हो सकती थी, विवाहिता नारी ही संन्यास ले सकती थी। शल्यपर्व के सारस्वतोपाखन में कहा गया है कि कुणिर्गर्ग ऋषि की कन्या वृद्धावस्था तक तपस्या में लीन रहीं, जीर्णकाया का त्यागकर परलोक गमन की इच्छा होने पर नारद ने कहा था कि-तुम तो असंकृता (अविवाहिता) हो, तुम्हें किसी अच्छे लोक में स्थान नहीं मिलेगा-

असंस्कृतयाः कन्यायाः कुतो लोकस्तवानघे।[1]

महाभारत काल की नारी पूर्ण स्वतन्त्र और स्वच्छन्द नहीं थीं। उस पर नियन्त्रण रखा जाता था-वाल्यावस्था में उसे पिता के, यौवन में पति के एवं वृद्धावस्था में पुत्र की देखरेख में रहना पड़ता था-

पितारक्षति कौमारे भर्त्तारक्षति यौवने।
पुत्राश्च स्थाचिरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।[2]
नास्ति त्रिलोके स्त्री काचित् या वै स्वातन्त्र्यमर्हति।[3]
प्रजापति मतं ह्येतन्न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।[4]

---

(1) शल्य पर्व 52/10 2) अनु0 46/14 (3) अनु0 20/20 (4) अनु0 20/14

किन्तु जो कन्यायें चिर कौमार्थ व्रत लेते थीं, उनके लिए यह नियम नहीं था। महाभारत काल में विवाहिता स्त्री का पिता के घर में रहना निन्दित माना जाता था, लोग उसे अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, किन्तु सन्तानहीन विधवा पिता के यहाँ रह सकती थी।

इस काल में पातिव्रत्य और सतीत्व पर बहुत जोर दिया जाता था, इसीलिए महाभारत में सतीत्व धर्म का व्यापक वर्णन किया गया है। इस व्रत का पालन करते हुए सावित्री, दमयन्ती, शकुन्तला, गांधारी, द्रोपदी, सत्यभामा, सुभद्रा आदि के चरित्र देखे जा सकते हैं। सतीत्व धर्म के पालन से नारी का चरित्र उज्जवल होता था, तभी वास्तव में वह गृहलक्ष्मी बन पाती थी, आशय यह है कि इस काल में पातिव्रत्य धर्म को नारी जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता था, इसकी सफलता में ही नारी जीवन की सार्थकता थी।

महाभारत में नारी के भार्या रूप की अत्यन्त प्रशंसा की गयी है–भार्या ही मनुष्य का आधा अंग है, भार्या श्रेष्ठ सखी है, भार्या ही धर्म, अर्थ और काम की मूल है। जिसकी भार्या साध्वी एवं पतिव्रता हो, वे धन्य होते हैं। धर्म, अर्थ एवं काम ये तीनों भार्या के अधीन हैं, हर कार्य में भार्या पुरुष की परम् सहायक है। जिसके घर में साध्वी प्रियंवदा भार्या का अभाव हो, उसके लिए घर और जंगल दोनों एक समान हैं। पत्नी की साधुता से ही पुरुष का जीवन मधुर हो उठता है। धर्म, अर्थ, काम, सन्तान, पितृ तृप्ति आदि पत्नी के अधीन हैं। भार्या के प्रति सद्व्यवहार मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है–

अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रिया युताः।[1]
धर्मकामार्थ कार्यणि शुश्रुता कुलसन्ततिः।
दारेष्वधीनो धर्मश्च पितृणामात्मनस्तथा।[2]
श्रियः एताः स्त्रियो नाम सत्कार्याभूतिमिच्छता।[3]

महाभारतकाल की नारी रामायण काल की तरह युद्धभूमि में नहीं जाती है। वह कहीं योद्धा–वेश में दृष्टिगत नहीं होती है, वह तो केवल परिवार अधिक से अधिक शिविर के

(1) आदि पर्व 74/41–42 (2) अश्व0 90/47 (3) अनु0 46/15

अन्तःपुर तक ही दृष्टिगत होती है। हाँ, अपवाद के रूप में एक शिखण्डी अवश्य युद्धभूमि में दृष्टिगत होती है। यही नहीं, इस काल की नारी सभा–समितियों में भी पुरुष में अलग ही बैठती है। इस प्रकार अलग–अलग बैठने की अवस्था का उल्लेख आदि पर्व 134/12 में हुआ है।

महाभारत काल में स्त्री जाति पूज्या मानी जाती थी, यह भी विश्वास था कि जहाँ नारियों का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, जहाँ वे सम्मानित नहीं होतीं, वहीं कोई आयोजन सफल नहीं होता है–

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
अपूजिताश्व यत्रैता सर्वास्तत्रफलाः क्रिया।।[1]

हर परिवार में गृहलक्ष्मियों का सम्मान होता था, द्रौपदी के सम्बन्ध में युधिष्ठिर का यह वाक्य धर्मपत्नी के महत्त्व की घोषणा करता है, यही उस काल का आदर्श है–"वह द्रौपदी हमारी प्रिय भार्या है, प्राणों से अधिक प्रिय है, माता की तरह पालन करने योग्य है और ज्येष्ठा बहन की तरह पूज्य है–

इयं हि नः प्रिया भार्या प्राणेध्योऽपि गरीयसी।
नातेव परिपाल्या च पूज्या ज्येष्ठेव च स्वसा।।[2]

महाभारत काल की नारी पति के साथ सोमरस का भी कर लिया करती थी–पीतः **सोमो यथाविधिः** (आश्रम 17/17)। सोम क्या था, यह विवाद का विषय है।

वृद्धावस्था में नारी वानप्रस्थ आश्रम में भी प्रवेश करती थी, सत्यवती, कुन्ती, गांधारी और सत्यभाभा उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है, (आदि. 128/12 तथा आ. 17/20, 15/2)

महाभारत काल में स्त्रियों को सम्पत्ति की तरह विवाह के दहेज में (आदि 198/16), श्राद्ध में दिये जाने वाले धन के रूप में (आश्रम 14/4), सम्मानार्थ उपहार में (अश्व. 85/18) दान दिया जाता था। राजसूय यज्ञ में निमन्त्रित ब्राह्मणों को दक्षिणा में स्वर्ण के साथ स्त्रियाँ भी दी गई थी–

रुक्मस्य योषिताञ्चैव धर्मराजः पृथग्वदौ।[3]

किन्तु दान देने की यह प्रथा केवल राजा–महाराजाओं तक ही सीमित थी, सम्भवतः जन सामान्य में यह परम्परा प्रचलित नहीं थी।

---

(1) अनु0 45/5–6 (2) वि0 3/17 (3) सभा0 33/52

महाभारत काल में नारियों के अपहरण भी हो जाते थे, वृष्णि और अन्धक कुल की विधवा स्त्रियों को अर्जुन जब हस्तिनापुर ला रहे थे, लुटेरों ने आक्रमण कर उनका अपहरण किया था।

विधवाओं का स्थान :- इस काल में विधवा स्त्रियाँ सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करती थीं, सत्यवती, कुन्ती, उत्तरा आदि इसकी उदाहरण हैं किन्तु साधारण व्यक्तियों की विधवा स्त्रियाँ सम्मानपूर्वक समाज में नहीं रह सकती थीं, आदि पर्व (158/12) में एक ब्राह्मण पत्नी कहती है कि जमीन पर पड़े मांस के टुकड़ों पर जिस तरह गिद्धों की लोलुप दृष्टि रहती है, पति हीना नारी भी उसी तरह अनेकों की अभिलषित होती है–

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगा।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियं।।[1]

आज की तरह महाभारत काल में माध्यवी स्त्री की यह कामना थी कि वह पति पुत्र के रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हो, आज भी सधवा पुत्रवती की मृत्यु को सौभाग्य का फल माना जाता है।

महाभारत में लिखा है कि विधवाओं का परिवार में सम्मान किया जाना चाहिए। सत्वती, कुन्ती, उत्तरा, दुर्योधन आदि की पत्नियाँ इसके उदाहरण हैं। अपवाद स्वरूप एक आदि स्तम्बों को छोड़ दिया जाये तो समाज में विधवाओं को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

धर्शिता नारी की दशा :- नारी से बलात्कार करने की प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। ऐसी नारी को धर्शिता नारी कहा जाता है। सतीत्व हरण करने वाले स्वेच्छाचारी धर्शको की कलुष्यिता दृष्टि से प्राप्त व्यस्का युवती की रक्षा सतर्क होकर करना चाहिए। महाभारत कालीन समाज के लेखक "सुखमय भट्टाचार्य" ने लिखा है कि जो नारियाँ नर पशुओं के बलात्कार से पीड़ित होती थीं समाज उनकी किसी भी प्रकार की निन्दा नहीं करता था। ऐसे मौके पर परिवार के पुरुष ही अपनी अक्षतमा के लिए अपराधी माने जाते थे। धर्शिता नारी के प्रति समाज की दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण होती थी।[2] इस सन्दर्भ में एक बात और विचारिणी है कि महाभारतकालीन नारी ये कामना करती थी। कि वो पति के समक्ष ही पंचत्व को प्राप्त हो जाये। और ये आकांक्षा

(1) आदि पर्व 158/12 (2) महाभारत कालीन समाज अनु0 पुष्पा जैन, पृ0–82

आज भी हिन्दु नारी के सौभाग्य का सूचक है। महाभारतकार ने लिखा है–

ब्युष्टिरेषां परा स्त्रीणां पूर्वे भर्त्तुः परां गतिम्।

गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्रामिति धर्मविदो विदुः।।[1]

सारांश यह है कि महाभारतकालीन समाज में नारी को रक्षिणयाँ, सहधार्मिणी अनेक अधिकार सम्पन्न बताया गया है। उसके पातिक धर्म की प्रशंसा, सम्बन्धी सूक्तियाँ महाभारत में सर्वत्र विद्यमान हैं। उच्चवर्ग की महिलाओं का समाज में निम्नवर्ग की महिलाओं से अधिक अधिकार प्राप्त थे। महाभारत में आये हुए समस्त नारी पात्र उच्च कुल से सम्बद्ध हैं, वे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राजवंश से सम्बद्ध है, अतः जन साधारण समाज में नारी की वास्तविकता स्थिति का परिचय हमें इस काव्य से नहीं मिलता है; फिर भी इतना सत्य है कि नारी तत्कालीन समाज के गृहस्थ की गृहलक्ष्मी थी, उसके सम्पूर्ण अधिकार उसे प्राप्त थे नारी और पुरुष का धर्मक्षेत्र भिन्न था, फिर भी वे एक दूसरे के पूरक थे एक दूसरे की सहायता दोनों को अपेक्षित थी। दोनों पति–पत्नियों को जन्म जन्मान्तर का साथी माना जाता था। सतीत्व की दृष्टि से भी नारियों को ऋषि और योगियों से श्रेष्ठ कहा गया है। इतना अवश्य है कि चंचला या कामुक्ता की दृष्टि से नारी की निन्दा की गयी है। अन्य स्त्रियों के प्रति आदर और उदारता का भाव महाभारत में वर्णित है। सम्पूर्ण महाभारत में नारियों की कथा और सिद्धान्त वाक्यों को देखकर यह निरभ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि उस युग में नारी वेदशास्त्र का अध्ययन, ब्रह्मचारिणी, तपस्वनी पिता के अर्थ की अधिकारिणी पिता और पुत्र से रक्षित थी। उसका महत्त्व सुगृहिणी के रूप में सर्वोच्च था। वह पर्यान्त पर्यंक पर रति अप्सरा, भोजन में माता कार्य में मंत्री के समान रूप वाली थी। उसकी रक्षा पुरुष मात्र का दायित्व था।

आशय यह है कि महाभारत काल की नारी पुरुष के विकास की एक मात्र आधार मानी जाती थी, उसका कार्य कुशलता पर ही पुरुष का सम्पूर्ण विकास होता था, इसके उदाहरणों से महाभारत भरा पड़ा है।

कुल मिलाकर महाभारत काल में नारी की स्थिति सम्मानजनक परिवार की गृहलक्ष्मी और समाज के कल्याण की आधार शिला के रूप में थी।

---

(1) आदि पर्व, 158/22

महाभारत में वर्णित राजकीय शिक्षा का अन्य वर्गीय शिक्षा पर प्रभाव

प्राक्कतन् भारत में वैदिक शिक्षा और ब्राह्मणों को शिक्षक रूप में स्वीकार किया गया था। ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों की समीक्षा करते हुए, पहले कहा जा चुका है। कि अध्यापन उनका विशेष धर्म या कर्त्तव्य था। महाभारत में भी इसी परम्परा का उल्लेख मिलता है। विद्यार्थी ब्रह्मचर्य का पालन कर शिक्षा प्राप्त करता था। ययाति, भीष्म, धृतराष्ट्र सभी ने बाल्यकाल में शिक्षा प्राप्त की है। अनुमान यह लगाया जा सकता है कि ब्राह्मण बालक पाँच वर्ष से आठ, क्षत्रियों का आठ से ग्यारह और वैश्य का बारह साल के अन्दर शिक्षा प्राप्त करने का विधान रहा होगा। त्रिवर्णो की शिक्षा का उल्लेख सब जगह मिलता है। विदुर, लोमहर्षण, संजय, सौती वेद शास्त्रज्ञ थे। इससे सिद्ध होता है। कि महाभारत युगीन समाज में शूद्र संतान भी वेदज्ञ होते थे।

शिक्षणीय विषय :- आश्रमों में सभी को वेद वेदांग अन्वीक्षकी वार्ता दण्डनीति थी। शिक्षण योग्य विषय कहें गये हैं। शान्ति पर्व में कहा गया है कि-

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः।।[1]

ब्राह्मणों के लिए वेद वेदांगों का स्वाध्याय था नित्य पाठ कि चर्चा महाभारत में की गयी है। क्षत्रियों के लिए आवश्यक विद्याओं में हस्ति सूत्र, अश्व सूत्र, रक्षा सूत्र, धर्नुवेद सूत्र, नागर, शास्त्र विशेष रूप से अधीतव्य विषय थे। नारद ने युधिष्ठिर से इनकी चर्चा करते हुए लिखा है।

हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो।
कच्चिदभ्यष्यते सम्यग् गृहे ते भरर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै सन्त्रसूत्रं च नागरम्।।[2]

महाभारत कालीन विशिष्ट आश्रम :- महाभारत की कथा और उसमें उपलब्ध वर्गों से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय आश्रम शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। वान्यप्रस्थ तपस्वी, सामान्य गृहस्थ, जन कोलाहल से दूर गुरु के आश्रम में उनके कुल परिवार के सदस्य की भाँति रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इन शिक्षा केन्द्रों में वर्ण विश्वामित्र,

(1) शान्ति पर्व 59/33 (2) सभा पर्व 5/121-122

वशिष्ठ, परशुराम, व्यास आदि के आश्रम बहुत प्रसिद्ध थे। द्रोण भी पहले आश्रम स्थापित करते रहते थे। द्रोण, कर्ण, राजर्षि, भीम ने इन्हीं आश्रमों में निवास कर शिक्षा प्राप्त की थी। आश्रमों में विशिष्ठ आश्रम अध्यात्म एवं वेद विद्या के लिए विख्यात थे। तो परशुराम आश्रम, शस्त्र शिक्षण के लिए प्रसिद्ध था। शुरु के इन आश्रमों में रहकर शिष्य शस्त्र एवं शस्त्र की शिक्षा तो प्राप्त ही करता था। गुरु कुल के सदस्य के कारण आश्रम में होने वाली खेती बाड़ी, गो पालन आदि भी शिष्य को करना पड़ता था। धौम्य उपंमन्यु, आरुणी आदि के उदाहरण महाभारत में दिये गये हैं।

नगरीय शिक्षा :- महाभारत के अध्ययन से यह बात सामने आती है कि धनाड्य वर्ण के लोग अपने पुत्रों-पुत्रियों की शिक्षण हेतु नगर में ही व्यवस्था करते थे। द्रोणाचार्य इसके स्पष्ट उदाहरण हैं कि उन्होंने हस्तिनापुर में आश्रम बनाकर कौरव और पाण्डवों को शिक्षा देते थे। कृपाचार्य पूर्व ही शान्तनु के संरक्षण में रहकर राज्य पुत्रों को शिक्षा देते रहे हैं। द्रोण के आश्रम में कर्ण, एकलव्य ऐसे उदाहरण हैं। जिन्हें कौलीन्य न होने के कारण राज्य पुत्रों के साथ शिक्षा देने के लिए द्रोणाचार्य ने अस्वीकार कर दिया था।

शिष्यों की परीक्षा :- सोने को जिस तरह आग में तपाकर उसकी शुद्धता की परीक्षा की जाती थी। उसी प्रकार शिष्य की परीक्षा की जाती थी। उसी प्रकार शिष्य की परीक्षा का विधान महाभारत में उपलब्ध होता है। भीष्म ने इस विषय में कहा है कि विद्यार्थी को विद्याध्ययन से पूर्व उसके चरित्र की परीक्षा करनी चाहिए-

नायरीक्षिततत्व चारित्रे विद्या देया कर्थचन।
यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेद् निकर्षणैः।
परीक्षेत् तथा शिष्यानी क्षेद् कुलगुणादिभिः।[1]

नगर में रहने वाले शिक्षकों व आचार्य की आजीवन पर्यन्त व्यवस्था राजा से अपेक्षित थी। भीष्म ने उपदेश किया था कि राजा को ऋत्विक और ऋषियों के समान आचार्य को सम्मानित कर नगर में बसाना चाहिए।[2]

युधिष्ठिर ने भी खाण्डवप्रस्थ बसाते सर्ववेद्विद् वेदनपाग्द् बहुभाषाविद् ब्राह्मणों को

(1) शान्ति पर्व 327/45-46 (2) शान्ति पर्व 87/7-18

स्थान दिया था।[1] प्रायः प्रत्येक जनपद की राजधानी में विद्ध विद्या का केन्द्र हुआ करते थे। जहाँ रण विद्या विशारद् अपने-अपने गुप्त प्रयोगों का अभ्यास करते थे।

नारी शिक्षा :- महाभारतकालीन समाज में नारियों की दशा और दिशा पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है। कि वो गृह दीप्ति है, उनके जीवन की सफलता रति और पुत्र उत्पादन मात्र था अतः न तो ब्राह्मणों की भाँति वेद पाठ करना पड़ता था, और न ही क्षत्रियों की भाँति शस्त्र ज्ञान की आवश्यकता थी, उनका ज्ञान वर्धन समागत अतिथियों, ऋषियों, मुनियों अथवा कुटुम्ब की वृद्धाओं से होता था। विदुला[2], गान्धारी[3], कुन्ती[4], द्रोपदी[5] आदि स्त्रियों के उदाहरण से इतना निभ्रान्त रूप से कहा जा सकता है, कि उन्हें गार्हस्थिक, नैतिक नियमों, पति-पुत्रों की शास्त्रीय नियम के ज्ञान देने की सामर्थय उनमें थी। पति प्रसादन, रति सम्पादन हेतु जिस ललित कला की आवश्यकता स्त्रियों को होती है। उसकी शिक्षा राजाओं द्वारा की जाती थी। विराट की राजधानी में नृत्यागार बनाया था। जिसमें पुरकन्यायें नृत्यगान सीखती थी।[6]

उपदेश श्रवण एवं शिक्षा :- महाभारत अध्ययन से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि, मुनि, तपस्वी, विशिष्ट विद्वान अतिथि रूप में ग्राम्य या नगर में पहुँचकर अथित्स सेवा स्वीकार करने के बाद परिवार जनों को धर्म, नीति, अध्यात्म विद्या का उपदेश करते थे। इस उपदेश का एक मात्र अधिकारी यद्यपि ब्राह्मण होता था। किन्तु स्वधर्म निष्ठ व्याध[7] एवं एक वर्णिक को उपदेश रूप में उल्लेख कर यह कहा गया है, कि हीन जाति के व्यक्ति भी उपदेशक हो सकते हैं।

शिक्षा विधि :- वेद को श्रुति कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरुपरम्परा वेदों का मौखिक श्रवण कर छात्र वर्ग अभ्यास से उन्हें कण्ठस्थ करते थे। विद्याभ्यास लेखन पर आधारित नहीं था। गुरुमुख से ज्ञान की प्राप्ति होती थी। जनक ने कहा है।

न विना गुरू सम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः।।[8]

किन्तु महाभारत में ऐसी अनुश्रुतियाँ मिलती हैं। जिससे लेखन कला पर प्रकाश मिलता है। जैसे व्यास बोले गये महाभारत का लेखन गणेश जी ने किया है। महाभारत के समापन पर ये कहा गया है कि महाभारत ग्रन्थ जिस गृहस्थ के घर में होगा उन्हें हर काम में सफलता मिलेगी।

---

(1) आदि पर्व 199/37 (2) उद्योग पर्व 131-134 (3) उद्योग पर्व 67/9-10 (4) वहीं 130-135 (5) आदि पर्व 68/62 (6) विराट पर्व 121/3 (7) वन पर्व अ0 206 (8) शान्ति पर्व 326/22

भारतं श्रृणुयान्नित्यं भारतं परिकीतेयेत्।
भारतं भवने यस्य तस्य हस्तगतो जयः।।
भारतं परमं पुण्यं भारते विविधाः कथाः।
भारतं सेव्यते देवैर्भारतं परमं पदम्।।[1]

विद्यार्थी के शत्रु :- महाभारत में शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में ये कहा गया है। कि छात्र को शिक्षा ग्रहण के मध्य तीन शत्रुओं को जीतना पड़ता है-

(1) उपदेश श्रवण की अनिच्छा, शूच्छीय विषय की अल्पकाल में अधिकृत करने की आतुरता और (3) ज्ञानी होने का दम इसी प्रकार विद्यार्थी के लिए आलस्य अहंकार और सुख प्राप्त की लालसा वर्जित कहे गये।

अशुश्रूषां त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।
अलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथा त्यागित्वमेव च।
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः।।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वात्यजेत् सुखम्।।[2]

शिक्षा के सन्दर्भ में छात्र के वेष-भूषा पर ही महाभारतकार ने टिप्पणी की है। प्रायः शस्त्र शिक्षा लेने वाले विद्यार्थी को मृगचर्म धारण करने का उल्लेख अनेक बार किया गया है। जटा बढ़ाकर छात्र को स्निग्ध पदार्थों से दूर रहने का विधान कहा गया है। इसी शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत अनाध्याय (अवकाश) दूसरों की भी चर्चा की गयी है। युद्ध विग्रहों के समय प्राकृतिक आपदाओं में अनध्याय होता था। शान्ति पर्व में व्यास ने अनाध्याय के कारणों की विस्तृत चर्चा की है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है-

ततोऽनध्यायं इति तं व्यासः पुत्र मवारयत्।
शुको वारिमात्रस्तु कौतुहलंसमन्वितः।
तस्माद् ब्रह्मविदों वेदान् नाधीयन्तेऽति वायति।[3]

(1) महाभारत श्रवणविधि 1/89-90 (2) शान्ति पर्व 328/25, 56/1 (3) शान्ति पर्व 328/25, 56/1

शिक्षा एवं गुरुदक्षिण :- छात्र से अपेक्षा की जाती थी, कि समावर्तन संस्कार के पूर्व गुरु ऋण से उऋण होने के लिए गुरु दक्षिणा दे। उतंग ने गौतम से पूछा था-

गुर्वर्थे कं प्रयच्छामि ब्रूहि त्वं द्विजसत्तम।
तमुपाहव्य गच्छेयमनुज्ञातस्त्वया विभो।
दक्षिणा परितोषो वै गुरुणां सभिदरुच्यते।
तव ह्याचरतो ब्रहांस्तुष्टोऽहं वै न संशयः।[1]

महाभारत में उत्तांक आचार्य देवशर्मा के शिष्य, विपुल, कौरव, पाण्डव, अर्जुन, एकलव्य, गालव आदि के उदाहरणों से गुरुदक्षिणा के विधि रूप दिखाई देते हैं। एकलव्य का अगूंठा दान, कौरव- पाण्डवों द्वारा पंञ्चाल राज्य द्रुपद का बन्दी रूप में लाना विपुल द्वारा स्वर्गीय पुष्प का आनयन इसी दक्षिणा के उदाहरण हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में राजाओं का योगदान :- महाभारत के माध्यम से ये पता लगता है कि गुरु एवं शिष्य तपोमय जीवन व्यतीत करते थे। उनकी न्यूनतम् आवश्यकतायें थी। भिक्षाटन एवं अग्रहारों से आश्रम की व्यवस्था पूर्ण हो जाती थी। फिर भी राजा समय-समय पर इन आश्रमों को दान देकर अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता था। राजकीय संरक्षण में ब्राह्मणों को गाँव या आश्रमों में वसा कर उसकी आय का दान देना अग्रहार कहलाता था।[2] यज्ञ के समय राजा ब्राह्मणों के साथ शिक्षकों को भी पुष्पफल धनराशि देता था। शान्तिपर्व में कहा गया है कि रत्न, गो, स्वर्ण मणि, कम्बल, अलंकार आदि का दान राजा करता था-

आश्रमेषु यथाकालं चेलभाजन भोजनम्।
सदैवोपाहरे द्राजा सत्कृत्यानमन्य च।।[3]
सुवर्ण राजतं चैव मणीनथ च मौक्तिकम्।
वज्रान्महाधनांश्चैव वैडूयोजिनरांकवान्।।
रत्नशशीन् विनिक्षिप्य दक्षिणार्थे सभारत।[4]

महाभारत में कुछ प्रसिद्ध विद्यापीठों का उल्लेख है। जिसमें मिथला, बद्रीका आश्रम, नैमिषा आरण्य ऐसे विश्रुत आश्रम थे। जहाँ ऋषि मुनियों के साथ राजा भी पहुँचकर पतियों से नीतिगत कर्त्तव्य, धर्म और व्यवहार की शिक्षा प्राप्त करते थे।

---

(1) आश्वमेधिक पर्व 46/20-21 (2) एज्यूकेशन एण्ड एशियन्ट इण्डिया-ए0एस0 अल्तेकर, पृ0-92 (3) शान्ति पर्व 87/28 (4) वहीं 165/17-18

निष्कर्ष यह है कि वर्णाश्रम के साथ शिक्षा का अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध था। नृपति वर्ण इन आश्रमों को भय मुक्त तो करते ही थे। समय-समय पर यज्ञ सम्पन्न कराकर दान द्वारा इनकी आर्थिक या लोक कल्याणकारी योजनाओं का क्रियान्वयन करते थे। सभाओं में कथाओं का आयोजन कर जन सामान्य को शिक्षित किया जाता था। राजा स्वयं अपनी ज्ञान पिपाशा की पूर्ति हेतु आश्रम पहुँचते थे। इन आश्रमों में शस्त्र-शास्त्र के सौद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप मिलते हैं। जिनसे निकल कर स्नातक राजकीय सेवा या स्वतन्त्र जीवन यापन करते हुए यशस्वी बने हुए हैं। सम्पूर्ण महाभारत में शिक्षा की विधियाँ उसके विषयों छात्र जीवन सम्बन्धी विधि निषेधों गुरु ऋण से उऋण होने की घटनाओं का पर्याप्त उल्लेख है। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारतकालीन समाज में चारों वर्ण शिक्षित होते थे। तीन वर्णों में जन्म लेने वाले या हीन व्यवसाय करने वाले व्यक्ति भी विद्वान वेद परांगत नीति विशारद् और सच्चा उपदेशक होता था। स्त्रियों की शिक्षा ग्राहस्थिक विधिनिषेध एवं ललित कलाओं में परांगत होने का उल्लेख महाभारत में मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि महाभारत कालीन समाज में शिक्षा की दृष्टि से समाज अत्यन्त समुन्नत था। आश्रम नगर ग्रामों में शिक्षा की व्यवस्था थी विभिन्न कथाओं तीर्थायांकन शास्त्रों पर वाद विवाद महाभारत में मिलता है।

महाभारत के सम्पूर्ण तथ्यों और शोधकर्त्री का स्वमन्तव्य है कि व्यक्ति और समाज इस संसार में रहते हुए, कभी भी गुरु ऋण से उऋण नहीं हो सकता है। गुरु तो वो शक्ति है जो व्यक्ति को जीवन रूपी मार्ग का पथ प्रदर्शन करती है। गुरु के द्वारा ही सम्पूर्ण शिक्षा रूपी सागर से पार हो जाते हैं।

महाभारतकालीन रहन-सहन एवं भोजन व्यवस्था

रहन–सहन की दृष्टि से यह काल सादा जीवन और उच्च विचार वाला है, सरलता, इन युग की विशेषता है। राजा लोग वैभव–सम्पन्न थे महाभारत में वैभव पूर्ण प्रसादों एवं विशाल दुर्गों के भी दर्शन होते हैं। महाभारत में रहन–सहन की व्यवस्था के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्व चरित्र की रक्षा को दिया गया है और इसका बार–बार आग्रह भी किया गया है।

वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च।

अक्षीणो वित्तत क्षीणो वृत्तवस्तु हतोहतः।।

महाभारत में राजपारिवारिक व्यक्तियों का स्तर सर्वोच्च था। वह रेशमी वस्त्र और हीरे, मोती आदि से जड़े वस्त्रों को धारण करते थे। कर्ण फूल और अन्य आभूषणों को भी धारण करते थे। लेकिन निम्न वर्ग के व्यक्ति आर्थिक स्थिति से समझौता करते हुए साधारण वस्त्रों को धारण करते थे। और वह राजपरिवार प्राप्त आभूषण आदि भी धारण करते थे। महाभारत में यह लिखा है कि 'सत्य से धर्म की रक्षा होती है, विद्या योग से, सरलता से रूप और चरित्र से कुल की रक्षा होती है,–

सत्येन रक्ष्यते धर्मो रूपं विद्या योगेन रक्ष्यते।

मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते।।

इस काल में भारतीय जन जीवन में चरित्र और आचार को अधिक महत्त्व दिया गया है। "लक्ष्मी वही रहती है जहाँ शील, और सत्य रहते हैं।" राम का वचन–पालन और युधिष्ठिर का सत्य प्रेम आचार विचार को महत्त्व देने वाली प्रसिद्ध घटनाएँ हैं।

प्रत्येक प्राणी की प्राथमिक आवश्यकता भोजन या आहार है। क्योंकि खाद्य वस्तुओं से आयु, बल, सुख स्वास्थ्य बढ़ता है। खाद्य वस्तुओं के रस से उसका शरीर ही तृप्त नहीं होता अपितु उसे एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। उत्तम भोजन से ही मन संतुष्ट होता है। और प्रसन्न मन से मनुष्य में मानवीय गुणों का विकास होता है। इस मत को भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने एक मत से स्वीकार किया है। महाभारतकार ने वस्तुओं की प्रकृति के अनुरूप गुणों पर मन की दशा का निरूपण किया है–

आयुः सन्त्वबलरोग्य सुखं प्रीतिविवर्धनाः।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः।

कटवम्ललवणात्युष्सण तीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामय प्रदाः।।
यातयाम गतसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।[1]

प्रायः दिन में दो बार भोजन करने का विधान कहा गया है। और ऐसे व्यक्तियों का सदोपवासी कहा जाता है।

सायं प्रातर्मनुष्याणाशनं वेदनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत।।[2]
अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं च यो नरः।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः।।[3]

प्रायः जौ और धान मुख्य भोजन के रूप में उल्लिखित हैं। साथ ही गुड़, दही, घी, दूध, तिल, पूप, साग, इच्छवस्तु खट्टे पदार्थ एवं पेय शर्बत का विवरण मिलता है।

क– ब्रीहिरसं यथांश्च[4]

ख– यत् पृथिव्यां ब्रीहियवम्[5]

ग– अपूपां विविधाकायं शाकानि विविधानि च[6]

घ– शाली क्षुगोरसैः[7]

भोज्य पदार्थ मांस :- महाभारत में मांस भक्षण की निन्दा अवश्य की गयी है किन्तु उन स्थलों की संख्या अधिक, जहाँ मांस भक्षण को अवैध कहा है। हो सकता है कि जीवा स्वाद के लिए पशुहत्या रोकने के लिए मांस भक्षण की निन्दा की गयी हो। यहाँ कुछ ऐसे स्थलों की चर्चा की जा रही है। जिसमें वैधमांस भक्षण में दोष नहीं माना गाया। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में ब्राह्मणों को वाराह एवं हरिण का मांस दिया था। वनवास काल में पाण्डुओं का मुख्य भोजन मांस ही था। जैसा कि कुछ उदाहरणों से इसकी पुष्टि की जा सकती है।

क– मासैर्वाराह हारिणैः।[8]

ख– आहरेयुरिमे मेऽपिं फलमूल मृगांस्तथा।[9]

(1) भीष्म पर्व 41/8–10 (2) शान्ति पर्व 193/100 (3) अनुशासन 93/10 (4) अनु0 93/33,44 (5) आदि 95/13 (6) अनु0 116/2 (7) अश्व0 पर्व 95/21 (8) सभा0 4/2 (9) वन 2/8

ग– आरण्यानां मृगानाञ्च मांसैर्नानाविधैरपि।[1]

घ– अश्नासि पिशितौदनम्।[2]

ड.– स्थजला जलजा ये च पशवः।[3]

च– मांसमनेकश।[4]

छ– त्रीन मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह।[5]

धर्म व्याध प्रकरण में वाराह और महिष के मांस बेचने की चर्चा से (वन पर्व 227/32) यह सिद्ध होता है कि उस समय मांस का भोजन तामसी और राजसी प्रवृत्ति के लिए विहित था। प्रथा मांस भक्षण को गर्भित कहा गया है। ऋषि, मुनि, दूध, दही, फल, मधु आदि से अपना जीवन यापन करते थे। महाभारत में भी भीम की मांस प्रीता का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

भीमसेनोऽपि मांसानि भक्ष्याणि विविधानि च।

अतिसृष्टानि मत्स्येन विक्रीणीते युधिष्ठिरे।।[6]

महाभारत में ये विधान कहा गया है कि परिवार के प्रधान पुरुष को वही भोजन करना चाहिए। जो अतिथि वा नौकरों के लिए बनता हो। देवता, पितर एवं परिवार के दूसरे लोगों को भोजन करा कर स्वयं खाने का विधान है। खीर, खिचड़ी, पिष्टक या स्वादिष्ट चीजें अकेले नहीं खानी चाहिए।

सुरापान [सोमपान] :- सोमपान का उदाहरण प्रत्यक्ष रूप से महाभारत में नहीं आया क्योंकि ये वैदिक युगीन पेय था। इतना आवश्य है कि सोपान के अधिकारी की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिसके घर में तीन साल के लिए पर्याप्त खाद्य सामग्री हो वही आर्ह है।[7] सोमपान की अपेक्षा सुरापान का प्रचलन इस युग में बहुत हो गया था। अभिमन्यु के विवाह के समय सुरापान की व्यवस्था की गयी थी।

सुरामैरेयपानानि प्रभूतान्युपहारयन्।[8]

शुक्राचार्य का सुरापान या दुर्योधन द्वारा को सुरापान कराकर विष देना, कामुक कीचक द्वारा मधुक पुष्पज मदिरापान की चर्चा महाभारत में हुई है। युधिष्ठिर के अश्वमेघ यज्ञ में मैरेय सुरा की चर्चा की गयी है। (महाभारत उद्योग 55/5 में वासुदेव एवं अर्जुन मदिरा पीकर मत्त हुए

(1) वहीं 261/3 (2) सभा पर्व 49/9 (3) अश्व पर्व 85/32 (4) मौशल 3/8 (5) अनु0 88/5-10 (6) विराट पर्व 13/7 (7) शान्ति पर्व 164/5 (8) विराट पर्व 72/28

कहे गये। यह मदिरा मधु से बनी थी)।

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः।

बहन्नधनरत्नौधः सुरामैरेयसागरः।।[1]

सुदर्शणा ने द्रौपदी को सुरापात्र लेकर कीचक के पास भेजा था। वह कीचक अत्यन्त कामुक और शराबी था।

प्रतिष्ठत सुराहारी कीचकस्य निवेशनम्।[2]

मौशल पर्व (1/29-30) में आया है कि बलराम ने उस दिन से जब कि यादवों के सर्वनाश के लिए मूसल उत्पन्न किया गया, सुरापान वर्जित मानकर दिया और आज्ञा दी कि इस अनुशासन का पालन न करने से लोग शूली पर चढ़ा दिये जायेगें। शान्ति पर्व (110/29) में वर्णित है कि यदि कोई जन्म काल से ही मधु, मांस एवं मदिरा के सेवन से दूर रहता है वह कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है। शान्ति पर्व (34/20) में यह भी लिखा है कि यदि कोई भय या अज्ञान से सुरान करता है तो उसे पुनः उपनयन करना चाहिए।

सम्भवतः सुरापान की परम्परा उच्चवर्गीय स्त्रियों में थी क्योंकि माध्वीक, मद मूर्छित उत्तरा का वर्णन महाभारतकार ने इस प्रकार किया है।

लज्जमाना पुराचैन माध्वीक मदमूच्छिता।[3]

भक्ष्याभक्ष्य का विचार :- महाभारत में दूध, दही, सत्तू, जौ, धान, फल, कन्दमूल यत्र-तत्र मांस का भक्ष्य कहा गया है। किन्तु गाय छोटे पक्षी कौआ, उल्लू, जलकुटकुट मांसहारी पशु प्रसव के पश्चात् दस दिन तक गाय का दूध पीना निषेध कहा गया है। इसी प्रकार ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र का अन्न ग्रहण करना अनुचित कहा गया है। यद्यपि द्रोपदी के द्वारा ब्राह्मण भोजन की चर्चा अवश्य हुई है। सुनार, पति, पुत्रहीन नारी, सूतखोर, वैश्या, दुस्चरित्रा स्त्री, स्त्रैण पुरुष, बढ़ई, चमार, धोबी, चिकित्सक, रक्षासोपासक, चित्रकार, बन्दी, जुआरी आदि का अन्य अग्रोह कहा गया है।[4] आपत्तिकाल में खाद्य अखाद्य का विचार नहीं किया है। महाभारत में आर्थिक अवस्था के अनुरूप खाद्य की चर्चा की गयी है। तांमस स्वभाव वाले पुरुष के भोजन में मांस की, मध्यम श्रेणी वालों के भोजन में गो रस की तथा दरिद्रों के भोजन में तेल की प्रधानता

(1) अश्वमेधिक 89/39 (2) विराट पर्व 15/17 (3) स्त्रीपर्व 20/7 (4) महाभारतकालीन समाज अनु0 पुष्पा जैन, पृ0-205

थी। जो भोजन शक्ति वर्धक पुष्टि कारक और श्रीमानों को अपच्य था। वह भोजन दरिद्रों के लिए अत्यन्त स्वादिष्ट कहा गया है–

आठयानां मांस परमं मध्यानां गोरसोत्तम्।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ।
सम्पन्नतर मेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढयेषु सुदुर्लभा।
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि हि कष्टानि दरिद्राणां महीषते।।[1]

महाभारत में भोजन सम्बन्धी विधि निषेधों की विस्तृत चर्चा अनुशासन पर्व अध्याय–104 में हुई है। जिसके अनुसान में खाने के लिए बैठने से मुँह धोना, तीन बार आचमन करना, भोजन के पात्र और बैठने के आसन पवित्र हों, एक वस्त्र पहन कर खाना नहीं चाहिए। उपानह या खड़ाउ पहन कर खाना निषिद्ध है।

एकाग्रचित से मौन होकर खाना चाहिए। भोजनोपरान्त तीन बार मुँह धोना चाहिए। तात्पर्य यह है कि महाभारत काल में सत्, रज, तम के अनुकूल भोजन की चर्चा है। प्रायः अन्नाहार, फलाहार या शाकाहार की प्रधानता है। उच्चवर्ग में मांस मदिरा का सेवन वर्जित नहीं था। भोजन सम्बन्धी पात्रों पाचकों की मनः स्थिति वर्णानुसार भोजन का निषेध तथा भक्षाभक्ष्य की विस्तृत चर्चा कर महाभारतकार ने यह संदेश दिया है। कि शक्तिशाली स्वास्थ्य और सुदृढ़ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास है, और उस समय का समाज सम्पन्न था। विपन्नता अति महत्वाकांक्षा तथा भोजन में उसके प्रवाहों की चर्चा महाभारत में की गयी है। भिक्षा मांगकर भोजन करने वाले की संख्या अत्याल्प थी। क्योंकि सामाजिक रहन–सहन का स्तर श्रेष्ठ था। उच्च, मध्योच्च वर्ग की प्रधानता थी।

निष्कर्ष रूप में यह स्पष्ट होता है, कि महाभारत कालीन रहन सहन एक उच्चकोटि का था, और उच्च वर्ग के लोग व राजर्षि लोग महगें परिधान, आभूषण आदि धारण करते थे। उनके पास सेवक वर्ग की उच्च व्यवस्था थी। जिस प्रकार से हम कह सकते है कि उस और हमारे

(1) उद्योग पर्व 34/49–51

वर्तमान समय में भी जो धनाड्य व्यक्ति है। उनका स्तर भी उच्चवर्ग में सम्मलित था। जो धनाड्य होते हैं। उनके पास हर समय प्रत्येक सामग्री उपस्थित रहती है। दास–दासियाँ व अन्य कर्मचारीगण इर्द–गिर्द चक्कर लगाते थे। महाभारतकालीन समय में भी भोजन की उचित व्यवस्था थी। भक्ष्याभक्ष्य भोज्य पदार्थों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। सुरापान और मांस आदि के सेवन का वर्णन महाभारत में यत्र–तत्र उपलब्ध होता है। महाभारत युग में भी माँस, सुरापान आदि बुराई थी। आज के हमारे बदले समय में भी मदिरा, मांस आदि का प्रयोग अत्याधिक मात्रा में भी उपलब्ध होता है। कहना यह कि महाभारत से लेकर आज के युग तक कुछ ऐसी बुराईयाँ चली आ रही हैं जो कि बिल्कुल भी बदली नहीं है। बल्कि बढ़ ही गयी है।

महाभारत कालीन दास प्रथा

तीनों गुणों में से किसी के भी व्यक्त न होने अथवा तीनों के सम होने के कारण जो व्यक्तिअध्यात्मिक रक्षात्मक अथवा आर्थिक कार्य करने में असमर्थ रहे जो हिंसा असत्य भाषा आदि में रुचि रखते थे। उन्हें सेवक बनाकर शूद्रवर्ण के अन्तर्गत रखा गया। शूद्र वर्ण में भी जो व्यक्ति राजपरिवारों अथवा सम्पन्न वैश्यों के यहाँ सेवा का कार्य करते थे। उन्हें दास कहा गया है। प्रारम्भिक युग में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत इन्हें शूद्र ही कहा गया, दासों से सेवात्मक और शिल्प कर्म कराया जाता था। जैसा की के0वी0 रंग स्वामी आयंगर ने लिखा है–"जिनके पास जो कुछ भी था, उसका समाज, पुरुष को समर्पण अनिवार्य था।"[1] राजाओं के द्वारपाल सारथी अन्तःपुर की रक्षिकायें तथा अन्य छोटे कार्य कराने के लिए दासों की परिकल्पना और व्यवस्था की गयी क्योंकि जाति प्रथा के जन्म लेते ही शूद्रों की उपजाति दास हुई महाभारत के अनेक स्थलों में सारथी राजा के निजी सेवक रानियों की सहायकाओं को दास कहा गया है। विदुर स्वयं दासी पुत्र थे। जिनका परिवार में बड़ा सम्मान था। इसी प्रकार दुर्योधन के पास बहुत से अनुचर रहते रहे हैं। प्रारम्भ में दासों को अवस्था की दृष्टि से कुछ सम्मान प्राप्त था। किन्तु धीरे–धीरे उन्हें अपेक्षाकृत हीन समझा जाने लगा। वर्ण व्यवस्था में नैतिक दृष्टि से दास अबद्ध थे। किन्तु वर्ण विरुद्ध कार्य करने पर उनके दण्ड विधान की भी चर्चा महाभारत में हुई है। महाभारत यत्र–तत्र दासियों की महत्वपूर्ण चर्चा उपलब्ध होती है। महाभारत में महाराज युधिष्ठिर के यहाँ अट्ठासी हजार ऐसे स्नातक गृहस्थ्य थे, तीस दासियाँ रहती थीं। उनमें से प्रत्येक की सेवा में तीस–तीस दासियाँ रहती थी। इसलिये मैं आपको प्रचुरमात्रा में नाना प्रकार के रत्न और धन दूँगा, सुन्दरवस्त्राभूषणों से विभूषित, सहस्रों युवती दासियाँ अर्पित करूँगा तथा दस करोड़ स्वर्णमुद्रा और दस भर सोना दूँगा।

(क) अष्टाशीति सहस्राणि सस्नातका गृह मेधिनः।
त्रिशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः।।[2]

(ख) तस्मात् तेऽहं प्रदास्यामि विविधं वसुभूरिच।
दासी सहस्रं श्यामानां सुवस्राणामलंकृतम्।।[3]

---

(1) इण्डियन इन हेरीटेंस भाग–1, पृ0–27 (2) वन पर्व 233/43, विराट 8/21 (3) वन पर्व 85/35

इस प्रकार से महाभारत काल में दासियों एवं अन्य सामग्री दान में भी दी जाती थी। राजा पौरव प्रत्येक यज्ञ में यथासमय प्रचुर दक्षिण बाँटते थे। उन्होंने स्वर्ण की सी कान्ति वाले दस हजार मतवाले हाथी, ध्वजा और पताकाओं सहित सुवर्णमय बहुत से रथ तथा एक लाख स्वर्णभूषित कन्याओं का दान किया था। वे कन्याएँ रथ, अश्व एवं हाथियों पर आरुढ़ थीं। उनके साथ ही उन्होंने सौ-सौ घर, क्षेत्र और गौएँ प्रदान की थी राजा ने सुवर्णमाला मण्डित विशालकाय एक करोड़ बैलों और उनके सहस्रों अनुचरों को दक्षिणारूप किया था। सोने के सींग, चाँदी के खुर और कांसे के दुग्धपात्र वाले बहुत सी बछड़े सहित गौएँ तथा दास, दासी, गदहें, ऊँट एवं बकरी और भेड़ आदि भारी संख्या में दान किये। उस विशाल यज्ञ में नाना प्रकार के रत्नों तथा भाँति-भाँति के अन्नों के पर्वत-समान ढेर उन्होंने दक्षिणा रूप में दिये।

यज्ञे यज्ञे यथाकालं दक्षिणाः सोऽत्यकालयत्।

द्विजा दशसहस्राख्याः प्रमदा काञ्चन प्रभाः।।

सध्यजाः सपताकाश्च रथा हेम मयास्तथा।

य सहस्रं सहस्राणि कन्या हेम विभूषिताः।।

धूर्युजाश्वगजारूढ़ाः सगृहक्षेत्र गोशताः।

शतं शतसहस्राणि स्वर्णमालि महात्मनाम्।।

गवां सहस्रानुचरान् दक्षिणामत्य कालयत्।

हेमशृङग्यो रौप्यखुराः सवत्साः कास्यदोहनाः।।

दासीदासरवरोष्ट्रश्च प्रादादाजविकं बहु।

रत्नानां विविधानां च विविधाश्वान्नपर्वतान्।।

तस्मिन् संवितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत्।[1]

तैत्तिस संहिता में दास-दासियों की चर्चा यत्र-तत्र प्राप्त होती है।

(क) उदकुम्भानधिनिधाय दास्यों मार्जालीयं परिनृत्यन्ति।
पदो निघ्नतीरिदं मधु गायन्त्यो मधु वै देवानां मन्नाद्यम्।।

(ख) आत्मनो वा एष मात्रामाप्नोति यो उभयादत्प्रतिगृहात्यश्वं।
वा पुरुषं वा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदुभयादत्प्रतिगृह्य।।[2]

---

(1) द्रोण पर्व 57/5-9 (2) तैत्तिरीय संहिता 7/5/10/1, तैत्तिरीय संहिता 2/2/6/3

वैदिक काल में भी महाभारतकाल के समान ही पुरुष एवं नारियों का दान हुआ करता था और भेट दिये गये लोग दास माने जाते थे।[1] दास प्रथा का प्रचलन यह तो पूर्व ही देखा जा सकता है। कि दास प्रथा ऋग्वेद काल में भी थी। ऋग्वेद का 'दास' शब्द आर्यो के शत्रुओं के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह सम्भावना की जाती है। कि जब दा लोग पराजित होकर बन्दी हो गये तो वे गुलाम के रूप में परिवर्तित हो गये। और ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में दासत्व की झलक प्राप्त होती है। "तू ने मुझे एक सौ गधों, एक सौ ऊन वाली भेड़ों और एक सौ दासों की भेट दी" इससे सम्बन्धित अनेक उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

क– शतं में गर्दभानां शतमूर्णा वतीनाम्।
शतं दासाँ अति स्रजः।।

ख– यो मे हिरण्यसन्दृशो दश राज्ञो अमंहत।
अध स्पदा इच्चैद्यस्य कृष्टयश्चर्मम्ना अभितो जनाः।।

ग– अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशतं त्रसदस्थुर्व धूनाम्।।[2]

लेकिन मनु ने भी स्व ग्रन्थ में यह आदेशित किया है कि शूद्रों का प्रमुख कर्त्तव्य है। कि वो उच्चावर्गीय लोगों की सेवा करें किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि शूद्र ही दास होते हैं।[3] मान्नीय अतिथियों के चरण धोने के लिए दासों के प्रयोग की चर्चा हुई है, किन्तु स्वामी को दासों के साथ मानवीय व्यवहार करने का आदेश दिया गया है। यदि अचानक कोई भी अतिथि के घर आ जाने पर अपने को, स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है, किन्तु उस दास को नहीं, जो सेवा करता है।[4] कौटिल्य (3/13) एवं कात्यायन (723) के अनुसार यदि स्वामी दासी से सम्बन्ध स्थापित करे और सन्तानोपत्ति हो जाये तो दासी एवं उसके पुत्र को दासत्व से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाता है। मनु ने सात प्रकार के दासों का वर्णन किया है यथा–

(1) युद्ध सम्बन्धी (2) भोजन के लिए बना हुआ (3) दासी पुत्र (4) खरीदा हुआ (5) माता या पिता द्वारा दिया हुआ (6) वसीयत में प्राप्त (7) राजदण्ड भुगतान के लिए बना हुआ। इत्यादि। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दासों की महत्वपूर्ण व्यवस्थाओं[5] के विषय में वर्णन हुआ है–

म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा।

न त्वेवार्यस्य दास भावः।[6]

---

(1) धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–1, पृ0–173 (2) ऋग्वेद 8/56/3, 8/5/38, 8/19/36 (3) मनुस्मृति 1/91, एवं 8/413, 414 (4) धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ0–173 (5) कौटिल्य अर्थशास्त्र 3/13 (6) धर्मशास्त्र का इतिहास भाग–1, पृ0–174

कौटिल्य ने भी कई प्रकार के दासों का वर्णन किया है। यथा–

ध्वाहट्त (युद्ध में बन्दी), आत्म–विक्रयी (अपने को बेंचने वाला), उदरदास (या गर्भदास, जो दास द्वारा दासी से उत्पन्न हो), अहितिक (ऋण के कारण बना हुआ), दण्ड प्राणित (राजदण्ड के कारण)।

निष्कर्ष यह है कि आर्य समाज को संगठित करने के लिए बनाये गये, वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था में ऐसा संगठन था। जिसमें सम्पत्ति या विपत्ति के समय किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भ्व नहीं था। राजा या सामन्त अथवा सामर्थ पुरुष के प्रसन्न होने पर दास दासियों को पुरुष कृत करने का उल्लेख भी महाभारत में है। द्रौपदी भी राजा विराट के अन्तःपुर में सैरन्ध्री दासी बन कर रही थी। जिसका कार्य श्रृंगार प्रसाधन एकत्रित करना था। इसी प्रकार कृषकों के घर में दास रूप में पुरुष कार्य करते थे। वस्तुतः निम्न वर्ग की स्त्रियाँ दासी और पुरुष दास कहलाते थे। जिनका कार्य सेवा शुश्रूषा करना है। उनके योग क्षेम की रक्षा पालक द्वारा की जाती थी।

महाभारतकालीन समाज में दास–दासियों के साथ सम्मानजनक व्यवहार रखा जाता था उनके प्रति द्वेष व्यावहार नहीं था। हमेशा उनके खान–पान, रहन–सहन, और जीवन यापन सम्बन्धी और अन्य वस्तुओं की पूर्ति की जाती थी। मनु ने भी मनुस्मृति में दासी के प्रकारों का वर्णन किया है। और कौटिल्य ने भी कई प्रकार के दासों का वर्णन तो किया ही है साथ ही साथ उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का भी वर्णन अर्थशास्त्र में वर्णित किया है।

महाभारत में वर्णित वेषभूषा एवं आभूषण

किसी भी समाज के उन्नतिशील अवस्था का अध्ययन समाज द्वारा स्वीकृत शिष्ट वेषभूषा–आभूषण भी मानदण्ड होते हैं। मानव समाज ज्यों–ज्यों सभ्यता की ओर अग्रसर होता है। उसका जीवन कठिनता से सरलता की ओर अग्रसर होता जाता है। अपनी दुर्दर्षध जिजीर्णशा के कारण वह प्रकृति के अनुकूल अपना जीवन यापन करता है। प्रकृति पर विजय प्राप्त करना उसकी अन्तिम आकांक्षा रही है। वह ग्राम्य सभ्यता से आगे चलकर नगरीय सभ्यता की ओर उन्मुख होता है। संस्कृति के इस प्रवाह में वस्त्र आभूषणों का बहुत महत्त्व है। यहाँ संक्षेप में महाभारत में प्राप्त स्थलों के अनुरूप उस समाज में ग्राम्य एवं नागर सभ्यता जन्य वेषभूषा और वस्त्रों का स्वरूप उपस्थित करेगें।

महाभारत के अनुसार आचार्य द्रोण एवं कृपाचार्य सफेद रंग की धोती पहनते थे। कर्ण पीले अश्वत्थामा और दुर्योधन नीले वस्त्रों का उपयोग करते थे।

आचार्य शारद्वतयोस्तु शुक्ले कर्णस्य पीतं रुचिरञ्च वस्त्रम्।
द्रौणेश्च राज्ञश्च तथैव नीले वस्त्रे समादत्स्व नरप्रवीर।।[1]

योद्धाओं के कवचधारण करने का उल्लेख महाभारत में प्रायः सर्वत्र मिलता है। इस प्रकार कुछ वर्ण व्यवस्था कुछ अवसरों के अनुकूल वस्त्रों की चर्चा महाभारत में की गयी है। ब्राह्मण श्वेत वस्त्र या मृग चर्म तथा यज्ञोपवीत धारण करते थे।

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।[2]

सम्भवतः सफेद वस्त्र सात्विक प्रवृत्ति के प्रतीत माने जाते रहे हैं। क्यों कि श्राद्ध और यज्ञ के दिन मनुष्य को श्वेत वस्त्र पहनना चाहिए ऐसा कथन आचार्य गर्ग का है।

शुक्लवासाः शुचिर्भूत्वा ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयेत्।[3]

क्षत्रियों के लिए युद्ध में जाते हुए लाल वस्त्र पहनने का विधान कहा गया है। द्रोण पर्व में लिखा है कि राजकुमारों ने लाल रंग के वस्त्र और उनकी पताकाएँ भी लाल रंग की थीं।

रक्ताम्बरधराः सर्वे सर्वे रक्त विभूषणाः।[4]

किरात जैसे अर्ध सभ्यलोंग अपनी शारीरिक लज्जा को ढकने के लिए चमड़े का उपयोग

(1) विराट पर्व 66/13 (2) आदि पर्व 134/19 (3) अनुशासन पर्व 127/14 (4) द्रोर्ण पर्व 34/15

करते थे। जैसे कि सभापर्व में कहा गया है–

फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः।[1]

इसी प्रकार ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड मुञ्ज निर्मित मेखला वानप्रस्थी एवं सन्यासी चमड़ा एवं वल्कल पहनते थे। यज्ञ आदि विशिष्ट अवसरों पर क्षौम वस्त्र तथा कृष्ण, मृगचर्म धारण करने की बात कही गयी है।[2] स्त्रियों के वस्त्रों का बहुत अधिक उल्लेख महाभारत में नहीं सपरिच्छद युक्त कहा गया है, या विवाह के समय द्रौपदी रेशमी कपड़े तथा सुभद्रा ने लाल रंग का कौशेय पहन रखा था।

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमंगला।
सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्त कौशेयवासिनीम।।[3]

यत्र–तत्र चीर वस्त्र का भी उल्लेख हुआ है–

तरुणादित्य संकाश श्चीर वासा जटाधरः।[4]

पुरुष लोग सिर पर पगड़ी धारण करते थे–

श्वेतोष्णीषं श्वेतहयं श्वेत वर्माणमच्युतम्।[5]

आभूषण :- महाभारत में जिस समाज का वर्णन है। उसमें सम्पन्न तथा स्त्रियों के लिए पहनने वाले आभूषणों की भी चर्चा है। पुरुष वर्ग बाजूबंद्ध, कुण्डल धारण करते थे। ये दोनों आभूषण स्वर्ण निर्मित थे। राजाओं के मुकुट में महार्ह रत्न या मणियाँ लगी होती थी। वे गले में हार पहनते थे–

ततश्चूड़ामणि निष्कमंगदे कुण्डलानि च।
वासांसि च महार्हाणि स्रीणामाभरणानि च।।[6]

योद्धाओं स्रहस्त्राण स्वर्ण निर्मित थे। अलंकारों में कुण्डल और बाजूबंद्ध का सर्वत्र वर्णन है।[7] इसी प्रकार पुरुष वर्ग में कोई लम्बे बाल रखता था। कोई चोटी रखता था। दुर्योधन[8] के लम्बे बाल वाला अर्जुन[9] चोटी रखता था। व्यास, द्रोणाचार्य के श्मश्रु (दाड़ी, मूछों) का वर्णन है।

प्रसाधन सामग्री :- महाभारत में अध्ययन से यह बात सहज ही ज्ञात होती है कि उस समय का समाज सम्पन्न समाज था। जन साधारण से लेकर उच्च वर्गीय, स्त्री, पुरुष, चन्दन,

(1) सभा पर्व 52/9 (2) अश्वमेधिक पर्व 46/8-12 एवं अश्वमेधिक पर्व 73/15 (3) आदि पर्व 119/3, आदि 221/19 (4) आदि पर्व 221/32 (5) भीष्म पर्व 16/32 (6) आदि पर्व 118/38-39 (7) द्रोण पर्व 111/14 (8) शल्य पर्व 64/4 (9) विराट पर्व 11/5

अगरु का प्रयोग बहुलता से करते थे। धनाड्य परिवारों मे ये अनुलेपन दासियाँ करती थी–

अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम्।[1]

अतिथि सत्कार के अवसर पर पुष्पमाला और चन्दन अनुलेप का विशिष्ट महत्व था। सुगन्धित इत्र, तुंग की चर्चा महाभारत में आई है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में चन्दन, कृष्ण, अंगुरू एवं अन्य द्रव्य गन्धों का उल्लेख किया गया है।[2] स्नान से पूर्व शरीर का अगुरु का तेल और इंगुद अभ्यंग की चर्चा विशिष्ट अवसरों पर की गयी है। जनसाधारण स्नान के बाद चन्दन, बेल, फूल, तगर, नाग, केसर, वकुल, गन्ध एवं पुष्प आदि से संज्जित होते थे।

प्रियंगु चन्दनाभ्यां च बिल्वेन तगरेण च।
पर्वकालेषु सर्वेषु ब्रह्मचारी सदा भवेत्।।[3]

पुष्पों के प्रति मनुष्य की अनुरक्ति आदि काल से थी। सिर एवं गलेमें मालाओं का विधान महाभात में मिलता है। गले में श्वेतपुष्पों की माला और सिर में रक्त पुष्पों की माला लोग धारण करते थे। साथ ही महाभारत में ये उल्लेख है, कि विधवाओं को आभूषण और परिधान भी था।

एतास्तु सीमन्त शिरोरुहा याः।
शुक्लोत्तरीया नरराजपत्न्यः।।[4]

महाभारत में आभूषण के सन्दर्भ में वर्णित है कि जिस महात्मा अर्जुन में सम्पूर्ण दिव्यास्त्र प्रतिष्ठित हैं। तथा जो समस्त विद्याओं का आधार है, वह आज कानों में (स्त्रियों की भाँति) कुण्डल धारण करता है–

यस्मिन्न स्राणि दिव्यानि समस्तानि महात्मनि।
आधारः सर्व विद्यानां सधारयति कुण्डले।।[5]

राजा अपने सिर पर मुकुट धारण करते थे। मुकुट प्रायः स्वर्ण के होते थे और उनपर रत्न जड़े रहते थे। रानियाँ भी रत्न जड़ित स्वर्ण मुकुट धारण करती थीं। वैदिक काल में वस्त्र कला में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। मनुष्य अधोवस्त्र और अंगरखा पहनते थे। स्त्रियाँ भी साड़ी (वासस) पहनती थी। महाभारतकालीन समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार के रत्नजड़ित अभूषण और स्वर्ण से बने होते थे। रेशमी और रत्नजड़ित वेषभूषा भी धारत करते थे। सौन्दर्य प्रसाधनों में फूल, पत्तियों और चन्दन से निर्मित लेपों का प्रयोग करके स्वयं को सौन्दर्य युक्त रखते थे।

(1) सभा पर्व 21/28 (2) सभापर्व 52/33–34 (3) अनुशासन पर्व 104/87–88 (4) आश्रमवासित पर्व 25/16 (5) विराट पर्व 19/21

महाभारत में आमोद-प्रमोद की स्थिति

संगीत प्राचीन भारत में गायन, वादन और नृत्य समाज के लिए लोकप्रिय मनोरंजन के साधन माने जाते थे। भरत के नाट्यशास्त्र में इनके शिक्षण की वैज्ञानिक पद्धति का अच्छा विवरण मिलता है। संगीत में 7 स्वर, 3 ग्राम, 19 या 21 मूर्छनाएँ, 49 तानें और 22 श्रुतियाँ बहुत प्राचीन काल से स्वीकृत है। मनुष्य उत्सव प्रिय प्राणी है। यद्यपि भारत में अध्यात्मिकता, इन्द्रियसंयम, चित्तवृत्ति निरोध, तप, त्याग तथा सदाचार पर विशेष बल दिया है। जिसके कारण उनके जीवन में मनोरंजन पक्ष गौण हो गया है। काम विकार जन्य का रतामस्य कोटि के नृत्य, गीत, वाद्य राजस्व कोटि के मनोरंजन थे। इस लिए शुद्ध मनोरंजन का यहाँ अभाव था। मनोरंजन को ध ार्मिक कृत्यों महोत्सव, यज्ञोत्सव, दान महोत्सव या अन्य कर्मो के साथ जोर दिया गया है। यद्यपि राजा की व्युत्पत्ति के मूड में राजा रंञ्जति प्रजाः में राजा को प्रजा रंजक कहा गया है। वह ऐसे धार्मिक, सामाजिक कृत्य आयोजित करता था, जिसमें प्रजा का मनोरंजन हो–

समाजोत्सव सम्पननं सदापूजित दैवतम्।

तत्पुरं स्वयमावसेत।।[1]

नट भी अपने कला–दर्शन से समाज का विनोद करता था। 'नट–नाटक' यह मिला–जुला शब्द रामायण तथा महाभारत में स्थल–स्थल पर मिलता है। राम का नट–नर्तक–संकुल विदूषकों से मनोविनोद करने का वर्णन रामायण में उपलब्ध है। ये नट लोग प्रायः गायन तथा नृत्य के साथ कथाएँ भी सुनाते थे। नटी या शैलूषी भी नटों के साथ कार्य करती थी। महाभारत में शैलूषी के कृत्रिम विलापों तथा प्रलापों के अभिनय के प्रसंग का उल्लेख यत्र–तत्र प्राप्त है। ये लोग प्रायः नाराशंसीय या दन्तकथाओं से कथावस्तु ग्रहण करके कुछ प्रहसन भी जोड़ दिया करते थे, जिनसे जनता का मनोविनोद और मनोरंजन होता था।विविध यज्ञोत्सव में नट लोग अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। हरिवंश पुराण में कृष्ण के पुत्रों के द्वारा एक नाटक "कौवेर–रम्भाभिसार" का अभिनय किये जाने का वर्णन मिलता है। इसमें कैलाश तथा आकाश से जाते हुए विमानों के दृश्य दिखाए गये थे। इस नाटक में प्रद्युम्न ने नल–कूबर का, मनोवती ने रम्भा का तथा साम्ब ने विदूषक का अभिनय किया था। ईसा से छटी शताब्दी पूर्व वैयाकरण पाणिनि ने शिलालिन्

(1) शान्ति पर्व 87/10

और कृशाश्व नाम के दो 'नट-सूत्र-कारों' का उल्लेख किया है। अनुमान यह लगाया जा सकता है कि इससे पूर्व भी भारत में नाटकों का अभिनय अवश्य होता था।

वाद्यवृन्द में तीन प्रकार के वाजे होते थे- (1) आनद्ध (मढ़े हुए) (2) तत (तार या दाँत से कसे हुए) और (3) सुषिर (फूँक कर बजाने)। इनमें से तत बाजों में वीणा का विशेष महत्व था। संगीत की अधिष्ठातृ देवता सरस्वती जी अपनी कच्छपी वीणा बजाकर कवियों और कलाकारों का मनो-विनोद करती हैं। नारद जी उदुम्बरी वीणा बजाते हुए पुराणों तथा काव्यों में द्रष्ट्व्य हैं। गुप्ताकाल के कुछ ऐसे सिक्के भी प्राप्त हुए हैं, उनमें सम्राट वीणा-वादन करते हुए दिखाए गए हैं। आनद्ध वाद्यों मृदंग या घरवावज को तथा सुषिर बाजों में वंशी को भी विशेष स्थान प्राप्त हैं।

कठपुतली का नाच भी सामाजिक विनोद का एक साधन था। महाभारत में सूत्रधार के सूत्र के सहारे से पुतली के नाचने का उल्लेख मिलता है। कुछ लोग सूत्रधार शब्द के प्रयोग के आधार पर कठ-पुतली के नाच को ही नाटक का पूर्व रूप मानते हैं, लेकिन इन सभी बातों के कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

विद्वानों के मनोरंजनार्थ यज्ञो के महोत्सवों और राजाओं के दरबारों में शास्त्रीय विषयों पर वाद-विवाद या शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

उत्सवों के सम्बन्ध में डॉ0 कामेश्वर नाथ मिश्र ने लिखा है। कि राजा के समाजोत्सव आदि से नगर में बसने का अभिप्राय कुलजनों को प्रसन्न रखना उनके लिए भोज्य पदार्थ उपलब्ध कराना तथा धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक कार्यो के अवसरों पर उनके उठने बैठने आनन्द लेने के लिए स्वतन्त्र करना था।[1] इस प्रकार मनोरंजन या उत्सव के नाम पर महाभारत के प्राप्त स्थलों की समीक्षा की जा रही है।

(१) धार्मिक कृत्यों में मनोरंजन :- महाभारतकालीन जीवन धार्मिक विश्वासों कृत्यों से परिपूर्ण था। इन उत्सवों में महोत्सव, यज्ञोत्सव और दानोत्सव प्रमुख हैं।

(क) महोत्सव :- विभिन्न जनपदों में ऐसे महोत्सव मनाये जाते थे। एक चक्रा के ब्रह्ममय, पांचाल के देवमय[2], मत्सदेश के ब्रम्ह् महोत्सव[3] गिरिमय अथवा रेवतक महोत्सव[4]

(1) महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनायें, पृ0-186 (2) आदि पर्व अध्याय 152 एवं 175 (3) विराट पर्व अ0 12 (4) आदि पर्व अ0 21।

कौंच द्वीप के महाक्रौंच पूजन[1], राजा उपरिर्चय के इन्द्रमय[2] एवं वर्णावत के महोत्सव[3] सार्वजनिक धार्मिक राजकीय स्तर पर मनाये जाने वाले उत्सव थे। इस प्रकार के उत्सव में इष्ट देव की पूजा और विभिन प्रकार की प्रतियोगितायें आयोजित की जाती थी। ऐसी प्रतियोगिताओं में मल्ययुद्ध, विशेष उल्लेखनीय है। विजेता को पुरुस्कृत भी किया जाता था। पांचाल, द्वारका के देवमय और गिरमय, नट वैतालिस, नर्तक सूर मागध अपनी-अपनी कलाओं से उपस्थित जन समूह का मनोरंजन करते थे। रैवतक उत्सव का एक वर्णन देखिये जिसमें गिरि की सजावट, दीप, वृक्षों आलौकित पताकाओं से सुशोभित घण्टा से नभादित एवं जन कोलाहल से गुंञ्जरित उत्सव का वर्णन है-

प्रमत्तमत्तसंमत्तक्ष्वेढितोत्कृष्ट संकुला।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूरभूत् सुमनोहरा।।
विपणापणवान् रम्यो भक्ष्य भोज्यविहारवान्।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदं गवान।।[4]

ऐसे पर्वो पर भक्ष्य भोज्य पदार्थो सुरा मैरेय आदि पेयों का प्रचुर मात्रा में वितरण किया जाता था। ऐसे उत्सव लोकोत्सव कहलाते थे। जिसमें राजाओं की उपस्थिति या उनका प्रतिनिधित्व अनिवार्य कहा गया है। धृतराष्ट्र ने वारणावत उत्सव में सम्मिलित होने के लिए युधिष्ठिर आदि भाईयों से कहा था-

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वरणावते।
सगणाः सानुयात्राश्च विहरध्वं यथाभराः।।
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुर्वचसः।।[5]

आमोद प्रमोद में शिकार, द्यूत नृत्य और संगीत प्रमुख थे, इन सभी के उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। मल्ल-युद्ध भी इस काल का प्रमुख व्यसन था।

खेलकूद :- महाभारतकाल के राजाओं को आखेट तथा द्यूत की क्रीड़ाएँ प्रिय थीं। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का मन भी आखेट खेलने में रमता था। नल, विराट और युधिष्ठिर को

(1) भीष्म पर्व 13/7 (2) आदि पर्व 57/17 (3) आदि पर्व 131/3 (4) अश्वमे0 पर्व 58/10-11 (5) आदि पर्व 142/8-9

कौंच द्वीप के महाक्रौंच पूजन[1], राजा उपरिर्चय के इन्द्रमय[2] एवं वर्णावत के महोत्सव[3] सार्वजनिक धार्मिक राजकीय स्तर पर मनाये जाने वाले उत्सव थे। इस प्रकार के उत्सव में इष्ट देव की पूजा और विभिन प्रकार की प्रतियोगितायें आयोजित की जाती थी। ऐसी प्रतियोगिताओं में मल्ययुद्ध, विशेष उल्लेखनीय है। विजेता को पुरुस्कृत भी किया जाता था। पांचाल, द्वारका के देवमय और गिरमय, नट वैतालिस, नर्तक सूर मागध अपनी-अपनी कलाओं से उपस्थित जन समूह का मनोरंजन करते थे। रैवतक उत्सव का एक वर्णन देखिये जिसमें गिरि की सजावट, दीप, वृक्षों आलौकित पताकाओं से सुशोभित घण्टा से नभादित एवं जन कोलाहल से गुंञ्जरित उत्सव का वर्णन है-

प्रमत्तमत्तसंमत्तक्ष्वेढितोत्कृष्ट संकुला।
तथा किलकिलाशब्दैर्भूरभूत् सुमनोहरा।।
विपणापणवान् रम्यो भक्ष्य भोज्यविहारवान्।
वस्त्रमाल्योत्करयुतो वीणावेणुमृदं गवान।।[4]

ऐसे पर्वो पर भक्ष्य भोज्य पदार्थो सुरा मैरेय आदि पेयों का प्रचुर मात्रा में वितरण किया जाता था। ऐसे उत्सव लोकोत्सव कहलाते थे। जिसमें राजाओं की उपस्थिति या उनका प्रतिनिधित्व अनिवार्य कहा गया है। धृतराष्ट्र ने वारणावत उत्सव में सम्मिलित होने के लिए युधिष्ठिर आदि भाईयों से कहा था-

ते तात यदि मन्यध्वमुत्सवं वरणावते।
सगणाः सानुयात्राश्च विहरध्वं यथाभराः।।
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि गायनेभ्यश्च सर्वशः।
प्रयच्छध्वं यथाकामं देवा इव सुर्वचसः।।[5]

आमोद प्रमोद में शिकार, द्यूत नृत्य और संगीत प्रमुख थे, इन सभी के उल्लेख महाभारत में मिलते हैं। मल्ल-युद्ध भी इस काल का प्रमुख व्यसन था।

खेलकूद :- महाभारतकाल के राजाओं को आखेट तथा द्यूत की क्रीड़ाएँ प्रिय थीं। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का मन भी आखेट खेलने में रमता था। नल, विराट और युधिष्ठिर को

(1) भीष्म पर्व 13/7 (2) आदि पर्व 57/17 (3) आदि पर्व 131/3 (4) अश्वमे0 पर्व 58/10-11 (5) आदि पर्व 142/8-9

द्यूत अत्यन्त प्रिय था। प्राचीन साहित्य में इन दोनों खेलों का राजाओं के प्रसंग के इतना अधिक उल्लेख हुआ है कि नृप-समाज में इनकी लोक-प्रियता की स्पष्ट सूचना मिल जाती है। आखेट-प्रिय होने के कारण ही राजाओं को उपदा में श्वानों के दिये जाने का भी उल्लेख रामायण में हुआ है। महाभारत में प्रमाण कोटि के जल-विहार का वर्णन बड़ी रुचि से अंकित किया हुआ प्राप्त है। जल विहार के समय उनकी रानियाँ भी बड़ी उमंग से भाग लिया करती थीं। नर्मदा नदी के स्वच्छ जल में सहस्रार्जुन का रमणियों के साथ जलविहार करने का वर्णन स्थल-स्थल में प्राप्त होता है। वैसे तो नदियों में जल-विहार या जलक्रीड़ा करना भारतीयों को बहुत प्राचीनकाल से प्रिय रहा है। लोग अपने बन्धु-वान्धवों तथा इष्ट-मित्रों के साथ तरण की प्रतिद्वन्द्विता में भाग लेने बड़े समारोह में जाया करते थे।

युद्ध और धनुर्विद्या के खेलों की प्रतिद्वन्द्विताएँ भी आयोजित की जाती थीं। सामाजिक उत्सवों, यज्ञों और पर्वों के अवसर पर द्वन्द्वयुद्ध भी हुआ करते थे। इन्हीं में कभी-कभी योद्धाओं के भाग्य का निर्णय भी हो जाता था। मल्लयुद्ध अथवा कुश्ती की कला भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आती है। रामायण में बालि और सुग्रीव का मल्ल-युद्ध प्रसिद्ध ही है। महाभारत में भी इसका उल्लेख हुआ है। राजमहलों के पास प्रायः एक अखाड़ा भी होता था, जहाँ दूर-दूर से पहलवान लोग अपने पेंचों की मरामातें दिखाने के हेतु आमन्त्रित होकर आते थे। तथा उनकी कुश्तियाँ देखने के लिए विशाल जनसमूह एकत्र हो जाता था।[1]

महाभारत में तो एक लोहे की गेंद से मैदान में खेले जाने वाले वींटा नामक खेल का वर्णन मिलता है। इसमें यह लोहे की गेंद मैदान में डंडे से खेली जाती थी। रोहान्त क्रीड़ाओं में लड़कियों द्वारा खेले जाने वाले गेंद और गुड़ियों के खेल घर के भीतर खेले जाते थे। महाभारत के अनुसार कुमारियाँ अपने पितृ-गृह में ये खेल खेला करती थीं। जब पाण्डवों के अज्ञातवास का पता लगाने के लिए कौरवों की सेना ने विराट् के नगर को घेरा था और बृहन्नला रूप में अर्जुन उत्तर के साथ उनसे युद्ध करने जा रहे थे, उस समय उत्तरा ने, उनसे योद्धा राजकुमारों के रंग-बिरंगों वस्त्र, अपनी गुड़ियों के लिए लाने की प्रार्थना की थी।

महाभारत में दमयन्ती के विलाप के अपवसर पर आँख-मिचौली के खेल का भी

(1) महाभारत-413/41-42

उल्लेख मिलता है। यह खेल घरों में प्रायः बच्चे खेलते थे। इसके अलावा कथा–वार्ता, कविता–पाठ, साहित्यिक गोष्ठी, उद्यान–यात्रा और इन्द्रजाल या असम्भव को सम्भव दिखाने वाले जादू के खेल मनोविनोद के प्रमुख साधन थे। द्यूत–क्रीड़ा का उल्लेख तो ऋग्वेद के अक्षसूक्त तक में मिलता है। आचार्य कौटिल्य ने मद्यपान पर भी सरकारी नियन्त्रण का समर्थन किया है। मनोविनोद के अवसरों पर लोग उल्लास और उत्साह पूर्वक स्वच्छ और सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण करते थे। मनोविनोद के विविध साधनों में उदारता और प्रगतिशीलता के साथ ही साथ सामाजिक विकास की भी समुचित योजनाएँ रहती थीं।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि महाभारतकालीन समाज में भी मनोरंजन सम्बन्धी उपर्युक्त साधनों का प्रयोग होता था। वो अपना मनोविनोद करने के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार के खेल खेलते थे, और साथ ही साथ शस्त्र अभ्यास द्वारा भी मनोरंजन करते थे। द्यूतक्रीड़ाएँ आदि प्रमुख हैं। जो कि सम्पूर्ण महाभारत द्यूतक्रीड़ा का केन्द्र बिन्दु रहा है। रामायणकालीन समाज में भी तद्युगीन व्यक्ति अपने मनोरंजन के लिए समय अवश्य निकालते थे। तरह–तरह खेलों सिर्फ मनोरंनार्थ ही खेलते थे। महाभरत आदि में लोहे की गेंद, गदा, धनुष वाण, गुड्डा गुड़िया आदि अन्य खेलों का वर्णन यत्र–तत्र प्राप्त होता है। शोधकर्त्री अगर स्ववक्तव्य द्वारा अपना मनन प्रस्तुत करती है तो वो यह है कि आज आधुनिक युग में उसी प्रकार के खेल हो जो कि प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। थोड़ा समयानुरूप परिवर्तन अवश्य हुआ है। क्योंकि हमारी संस्कृति और सभ्यता आदिकालीन बस ही नहीं परन्तु प्राचीनकाल से चली आ रही है। कौटिल्य आदि अन्य लेखकों ने भी अपनी–अपनी कृतियों में मनोरंजन सम्बन्धी साधनों का वर्णन किया है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन की स्थिति

पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है कि सामाजिक जीवन को व्यस्थित करने के लिए, विश्व की सभी संस्कृतियों में भिन्न भिन्न प्रयास हुए हैं। बात यह है कि मनुष्य विचार प्रधान प्राणी है। धर्म कर्त्तव्यता, सामाजिकता, पशु से विभेदक तत्त्व है। वह अपने आचरण से जहाँ एक ओर अपनी सामाजिक समरस्ता का प्रतिपादन करता है, एवं व्यवहार से ऐसा दिखाता है कि वह समाज में पूर्णरूपेण अन्तर निहित और समरस है। साथ ही इस विचार धारा के कारण वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति स्वयत्ता अस्मिता का प्रदर्शन भी करता रहता है। निष्कर्ष यह है कि वह अपने अस्तित्व का प्रदर्शन किसी न किसी रूप में करता रहता है। ऐसी अवस्था में सामाजिक नियमों का उल्घन हो जाता है। अतः समाज में अराजकता, अनुशासनहीनता स्खल्ता फैलती है। अतः विचारक समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए किसी न किसी संगठन पद्धति का निर्माण करते हैं। कबीलों से जब श्रेष्ठ आर्य समाज बना होगा, तभी से यह विचार प्रदान संगठन अस्तित्व में आयें होगें।

महाभारत में मुख्य रूप से हिन्दू समाज की कथा है। इस कथा के मध्य सिद्धान्त रूप में नीति उपदेशों तदविषयक सिद्धान्त प्रतिपादन करते समय नियमों संगठनों की चर्चा हुई है। जिसमें वर्ण विभाजन, आश्रम व्यवस्था और पारिवारिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन के मुख्य आधार कहे गये हैं।

वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत महाभारतकार व्यास ने मानव प्रवृत्ति के अनुरूप कर्म रक्षा और मूल्यों के लिए इन चार वर्णो का उल्लेख किया गया है। बात यह है कि एक ही व्यवसाय या जीविकोपार्जन करने वाले व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक निकटस्थ होते हैं, इसीलिए वर्णव्यवस्था समाज के संगठन की मूलभूत इकाई है। महाभारतकाल में इस सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में डॉ0 रघुवीर शास्त्री ने लिखा है कि महाभारत काल में वर्णाश्रम व्यवस्था का रूप किसी भी प्रकार से कट्टर और रूढ़ नहीं कहा जा सकता विभिन्न वर्णो में प्रजातियाँ संगठित होकर एक नये सांस्कृतिक और सामाजिक सामाञ्जस्य की ओर अग्रसर हो रही थीं। वैदिक काल से परम्परा के रूप में विरासत में प्राप्त हुई धर्म चक्र परिवर्तन एक राज्य, सार्वभौम, चक्रवर्तित्व और साम्राज्य के राजनीतिक आदर्शो के परिणाम स्वरूप सामज में उग्र राजनीतिक चेतना की लहरे-ठाठे मार रही थीं।[1]

---

(1) महाभारतकालीन राजव्यवयस्था, पृ0-67

यहाँ यह कहना अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि अतिप्राचीन काल से विदेशी आक्रान्त प्रवासी तथा विजित रूप में सम्पर्क में आने वाली अनेक आर्येतर जातियों के साथ सम्पर्क और मिश्रण के कारण आर्य प्रजाति की एकान्तिकता समाप्त हो चुकी थी। आर्यधर्म, आर्यसंस्कृति भी आन्तिरिक अनिवार्य प्रवाहों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप अपनी उस कट्टर एकान्तिकता को परित्यक्त कर चुकी थी। जिसका निंदर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों एवं कर्मकाण्ड प्रधान प्राचीन साहित्य में हुआ है। वर्ण व्यवस्था मूलतः अपने समय की प्रगतिशील सामाजिक एकता और संगठन की जननी है। इसीलिए प्रत्येक वर्ण से अनेक जाति–उपजाति निकली है। फिर भी संगठन की दृष्टि से गुण एवं कर्म के कारण समाज में अव्यवस्था नहीं फैली। जाति–पाति के भेद, खान–पान, शादी–विवाह सम्बन्धी विशेषतायें या कट्टरता महाभारतकालीन समाज में अपेक्षाकृत उदार रूप लिए है। महाभारत में अनेक ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख है। जो अनुलोम या प्रतिलोम विवाह की देन है और उनकी सन्ताने भी सम्मानित कहीं गयी हैं। विदुर युत्यु, व्यास पराशर, वशिष्ठ आदि की मातायें निम्न वर्ग की थी। द्रोण ब्राह्मण होते हुए भी अस्त्र विद्या, विशारद् महर्षि थे। कर्ण कानीन होते हुए भी अंग देश के राजन्य वने अतः यह निभ्रान्त रूप से कहा जा सकता है। कि महाभारत में जिस समाज का वर्णन है। उसके संगठन का मूलाधार वर्ण व्यवस्था है यही एक प्रश्न? उठाया जा सकता है कि सामाजिक संगठन में राजा का क्या हस्तक्षेप था। इसके उत्तर में ये कहा जा सकता है कि वर्ण व्यवस्था सुव्यवस्थित करने के लिए राजा कोई अधिकारी नियुक्त नहीं करता था।

इस सामाजिक संगठन को सुव्यवस्थित करने के सन्दर्भ में डॉ0 राधेश्याम शर्मा का अभिमत है कि परोक्षरूप से राजा सभी वर्णो को व्यवस्थित रखने में सहायता देता था, वो अपने शासन द्वारा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता था, कि उस स्थिति में सभी लोग स्ववर्ण धर्म का पालन कर सकते थे।[1] महाभारतकालीन समाज को सुव्यवस्थित एवं संगठित करने का दूसरा आधार आश्रम व्यवस्था था। जिसमें चार आश्रमों की चर्चा की गयी है। सी0एल0 धवल ने लिखा है कि–"प्राचीन भारतीय शास्त्रकारों ने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करने एवं उनको सुचारु रूप से संचालन करने के लिए जिस प्रकार वर्ण व्यवस्था का संगठन किया था। उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन को शिष्ट एवं सन्तुलित बनाने के लिए आश्रमों की व्यवस्था की थी।"[2] आश्रम

(1) महाभारत में सामाजिक सिद्धान्त एवं संस्थाऐं, पृ0–70 (2) दि मारॅल वेसिस ऑफ हिन्दू थ्योरी ऑफ सावरेन्टी, पृ0–84

व्यवस्था की व्याख्या करते हुए यह निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि मनुष्य का जीवन बहुपक्षी होता है। अतः वे विभिद् कर्म करते हुए एहिक एवं आमुष्मिक भोज प्राप्त कर सके इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए आश्रम व्यवस्था का जन्म हुआ है। जैसा की दीक्षतार ने लिखा है कि व्यक्ति इस व्यवस्था का जन्मा हुआ है। जैसा कि दीक्षतार ने लिखा है कि व्यक्ति इस व्यवस्था के द्वारा अपना विकास करते हुए समाज का कल्याण कर सकता है।[1] इस प्रकार चतुराश्रम में रहकर व्यक्ति संन्यास जीवन व्यतीत करता हुआ सामाजिक नियमों में संशोधन कर उसे संगठित करने का प्रयास करता था। कौटिल्य[2], गौतम[3], वशिष्ठ[4], मनु[5] आदि ने अपनी–अपनी नीतियों की रचना कर समाज को राजधर्म का पालन करते हुए सुव्यवस्थित रहने का उल्लेख किया है। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था द्वारा सदाचारी समाज की परिकल्पना महाभारतकार ने की है।

सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन की स्थिति के लिए तीसरी इकाई परिवार व्यवस्था थी। परिवार सम्बन्धी व्यवस्था के स्थलों की व्याख्या करते हुए महाभारत के कुछ स्थलों का उल्लेख किया गया है, और निष्कर्ष यह निकाला गया है कि मानव सामाजिक विकास की यह एक श्रृंखला है। जिसका उद्भव आर्थिक और सामाजिक कारणों से हुआ है। महाभारत में परिवार के लिए कुल शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसमें व्यक्ति विशेष के वंशज रहा करते थे।[6] कई कुलों के लोग मिलाकर महाकुल बनाते थे। जिसका उल्लेख उद्योग पर्व में हुआ है।[7] इसी कुल से अन्य संस्थाओं का भी जन्म हुआ है। कुलों की एकता के लिए महाभारतकार ने लिखा है कि उन्हें परस्पर कलह नहीं करनी चाहिए, मिलजुलकर सुखोभोग तथा गुरुजनों की सेवा करनी चाहिए–

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्।
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्त्तव्यः शुभार्थिना।
सुखानि सह भोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ।।[8]

एक ही कुल में रहने वाले लोग रक्त सम्बन्धी होते हैं। जिनमें पति–पत्नि, पिता–पितामह, पुत्र, पितृव्य भाई एवं भाभी, बहन, पुत्रवधु आदि आते हैं। सामाजिक संगठन में कुलों का बहुत महत्त्व था। कौरव, पाण्डव के इस युद्ध में पारिवारिक कलह ही कारण है। जिसमें परिवार राज्य

(1) हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इनस्ट्रिटियूशन, पृ0–43 (2) अर्थशास्त्र 1/2, 2/1। (3) गौतम धर्मसूत्र 11/9 (4) मनुस्मृति 7/35 (5) वशिष्ठ सूत्र 19/17 (6) भीष्म पर्व 2/5–39 (7)उद्योग पर्व 36/39 (8) उद्योग पर्व 39/23

तथा असंख्य व्यक्तियों का महाविनाश हुआ और इतना तो कहा ही जा सकता है कि समाज में पुरुषों की संख्या कम ही की गयी जिस कारण सामाजिक अव्यवस्था निश्चित रूप से हुई होगी। वर्ण संकरता का उल्लेख अर्जुन ने महाभारत में किया था। राजन्! जो अपने कुटुम्बीजनों का सत्कार करता है, वह कल्याण का भागी होता है।

श्रेयसा योक्ष्यते राजन् कुर्वाणो जाति सात्क्रियाम्।।[1]

सारांश यह है कि एकांकी परिवार, संयुक्त परिवार से निर्मित ग्राम समूह जिसमें एक पूर्ण समाज आ जाता था। वेद व्यास ने महाभारत में ऐसे पूर्ण समाज की सामाजिक व्यवस्था हेतु वैयक्तिक धर्म, शील सदाचार कर्त्तव्यपालन आदि के द्वारा स्वधर्म पालन करके समाज को संगठित करने का उपदेश दिया गया है इस तरह कई समाज, ग्राम, राज्य बनते थे। जिनका व्यवस्थापक राजा कहलाता था। यही महाभारतकार की परिकल्पना है कि राजनीतिक दृष्टि से प्रशासन कर राज्य को व्यवस्थित करना राजा का धर्म था, तो कुछ परिवार आश्रम और वर्ण व्यवस्था द्वारा समाज को संगठित किया करते थे। समाज में रह कर प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्त्तव्य था कि वह एक–दूसरे के सुख–दुःख में सहयोग प्रदान करें। जो श्रेष्ठ व्यक्ति है या राजा उनका श्रेष्ठ कर्त्तव्य होता है कि वो समाज संगठित रखते हुए उनकी व्यवस्थाओं का सुचारु रूप से क्रियान्वयन करे। व्यास ने भी अपने विशद् ग्रन्थ में भी वर्णोव्यवस्था का उल्लेख किया है।

---

(1) उद्योग पर्व 39/191

आवागमन के साधनों का प्रयोग

महाभारतकार में जिस संस्कृति का वर्णन है। वह ग्राम्य एवं नागर संस्कृति है जिसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इस ग्रन्थ में वेदकालीन भौगोलिक सीमाओं से वृहत्तर क्षेत्र का वर्णन है। पूर्व में काम रूप से पश्चिम में 'द्वारका' पश्चिमोत्तर दिशा में गांधार बाह्लीक उत्तरर में त्रिविष्टक दक्षिण में कन्याकुमारी एवं सुदूर पूर्व के देशों का उल्लेख है। जिनके अलग-अलग राजा होते थे। प्रजा के रक्षण मात्र से राजा का कार्य समाप्त नहीं हो जाता था उसे लोगों को ऐसी सुविधायें प्रदान करनी पड़ती थीं जिनसे प्रजा अपने निवास कृषि, पशु, वाणिज्य आदि की व्यवस्था करने में समर्थ हो सके कुछ ऐसी व्यवस्थायँ भी होती हैं। जिन्हें राज्य ही सम्पादित एवं पूर्ण कर सकता है। लोक-सुखार्थ होने के कारण ये कार्य लोक निर्माण का कार्य कहा जाता था। कभी राजा को शत्रुओं से रक्षा के लिए दुर्ग का निर्माण तो कभी कृषि, व्यापार के लिए मार्ग का निर्माण तो कभी प्रवासियों के रहने हेतु पान्थशाला, देवालय आदि का निर्माण कराना पड़ता था।

राजा लोग आवागमन के लिए रथों, घोड़ों, हाथी आदि का ही प्रयोग करते थे। अगर वो रथ पर जाते थे, तो रथ को सुसजिजत करवाते थे। उसमें एक सार्थी की भी व्यवस्था रहती थी। महाभारत में तो स्वयं भगवान् कृष्ण रथ पर सवार होकर अर्जुन के सारथी बने थे, और युद्ध स्थल पर उन्होंने गीता का उपदेश भी दिया था। युद्ध स्थल के लिए प्रस्थान करते थे, तो घोड़े, हाथी आदि पर अन्य लोग सवार होकर युद्ध किया करते थे। राजा लोग भी घुड़सवारी करते थे।

रामायण में भी आया है कि स्वयं भगवान राम ने नौका के द्वारा सरयू नदी पार की थी। जो कि केवट ने नौका चलाई थी। महाभारत में आवागमन के साधनों के लिए स्थल और जल मार्गों की चर्चा कर आवागमन सम्बन्धी सुविधाओं का उल्लेख किया जा रहा है।

(क) स्थल मार्ग :- महाभारत में दो प्रकार के स्थल मार्गों का उल्लेख है-

क- देश के अन्दर, ग्राम और नगर को जोड़ने वाले।

ख- एक देश से दूसरे देश को जोड़ने वाले मार्ग।

महाभारत में ऐसे स्थल मार्गों का विवरण मिलता है। जो एक नगर से दूसरे नगर को जोड़ते हैं। शान्तिपर्व में जाजलि प्रसंग में समुद्र तटस्थ जलयुक्त प्रदेश से लेकर काशीपुर जाने के मार्ग का उल्लेख हुआ।

स कदाचिन्महातेजा जलवासो महीपते।

चचार लोकान् विप्रर्षिः प्रेक्षमाणों मनोजवः।।

स चिन्तयामास मुनिर्जलवासे कदाचन।

विप्रेक्ष्य सागरान्तां वै मही सवनकाननाम्।।

इति ब्रवाणं तमृषिं रक्षां स्युद्धृत्य सागरात्।

अब्रवन् गच्छ पन्थानमास्थायेमं द्विजोत्तम।।[1]

अरण्य पर्व के अन्तर्गत पाण्डवों की विभिन्न यात्राओं के समय स्थलीय मार्गों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। जैसे वनवास के समय पाण्डव गंगा क्षेत्र से लेकर कुरुक्षेत्र, सरस्वती तट से लेकर मरु भूमि एवं वन प्रदेशों की यात्रा का वर्णन है-

सरस्वतीदृषद्वत्यौ यमुनां च निषेव्य ते।

ययुर्वनेनैव वनं सततं पश्चिमां दिशम्।।

ततः सरस्वती कूले समेषु मरु धन्वसु।

काम्यकं नाम ददृशुर्वनं मुनिजनप्रियम्।।[2]

इसी प्रकार उद्योग पर्व में विराट नगर से द्वारका नगर तक रथ मार्ग का चित्रण व्यास ने उस समय किया है। जब अर्जुन और दुर्योधन अलग-अलग मार्गो से कृष्ण के पास पहुँचे-

प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र द्वारकां पुरुषर्षभः।

स्वयं जगाम कौरव्यः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।।

स श्रुत्वा माधवं यान्त्रं सदश्वैर निलोपमैः।

बलेन नातिमहता द्वारकामभ्पयात् पुरीम्।।[3]

नलोपाख्यान में नगर से नगर को जोड़ने वाले व्यापारिक मार्गों का उल्लेख है। इस स्थलीय और जलीय आवागमन के मार्ग का वर्णन द्रष्टव्य है-

गत्वा प्रकृष्टमध्वानं दमयन्ती शुचिस्मिता।

ददर्शाथ सहासार्थं हस्तयश्वरथ संकुलम्।।

---

(1) शान्ति पर्व 261/4,5,10 (2) वनपर्व 5/2,3 (3) उद्योग पर्व 7/25

उत्तरन्तं नदी रम्यां प्रसन्न सलिलां शुभाम्।
सुशीततोयां विस्तीर्णा ह्रदिनीं वेतसैर्वृताम्।।[1]

कृष्ण के द्रुपद् की राजधानी से आने जाने द्वैतकर्म हस्तिनापुर आने-जाने वाले वृतान्तों में तद्युगीन स्थलीय लम्बे और विस्तृत देश-देशान्तरों से संबंध मार्गों का विवरण मिलता है। नगरों में मार्ग व्यवस्था राजा द्वारा कराई जाती थी। ऐसा विवरण उद्योग पर्व से प्राप्त होता है।

तेषामनुमतं ज्ञात्वा राजा दुर्योधन स्तदा।
सभावास्तूनि रम्वाणि प्रदेष्टुमुपचक्र में।।
ततो देशेषु-देशेषु रमणीयेषु भागशः।
सर्वरत्न समाकीर्णाः सभाश्चक्रुरनेकशः।।[2]

महाभारत में चत्वरों षट् पथों पार्शों पण्य के विवरण मिलते हैं, जिन्हें क्रमशः चौराहे या छः गलियों वाले मार्ग कहे जा सकते हैं। नगर की सड़कों की स्वच्छता मरम्मत आदि का काम पर्वों उत्सवों या अतिथियों के आगमन पर मार्ग शोभन हेतु राजा और प्रजा दोनों की ओर से होता था। राज्य पथ, महापथ इनके किनारे में व्यापी, कूप, तङांग, वृक्ष, जलाशय इत्यादि का निर्माण भी राजन्य वर्ग से होता था।

(ख) जल मार्ग :- महाभारतकालीन भारतवर्ष का क्षेत्र अत्यन्त विशाल और विस्तीर्ण है। अनेक विदेशियों और देशी सम्राटों से हस्तिनापुर राज्य के घनिष्ट संबंध सूचित होते हैं; पर राष्ट्रीय संबन्धों राजनयिक नियोजनों एवं इन से आर्थिक सम्बन्धों का विश्लेषण तृतीय अध्याय में किया जायेगा यह संक्षिप्त रूप से यह कहने का प्रसास किया जा रहा है कि महाभारत में एक नगर से दूसरे नगर की ओर जाने वाले मार्गों के अतिरिक्त ग्राम्य पथों का उल्लेख विस्तृत रूप में जिस प्रकार महाभारत में हुआ है। उसी प्रकार महाभारत में अनेक स्थलों पर नावों पोतों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसका निष्कर्ष यह है कि उस काल में जलीय मार्ग भी आवागमन के साधनों के रूप में स्वीकृत था। इन मार्गों से व्यापारी व्यापार के लिए विदेश जाते थे। इस तरह पत्तनों के निर्माण और उसकी रक्षा की चर्चा महाभारत में मिलती है। शान्ति पर्व में जब शुकदेव जी मिथला जा रहे थे। मार्ग में उन्हें विस्तृत नगर और पत्तन दिखाई पड़े थे-

(1) वन पर्व 63/111, 112 (2) उद्योग पर्व 85/12, 13

पत्तनानि च रम्याणि स्फीतानि नगरराणि च।

रत्नानि च विचित्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।।[1]

परवर्ती शास्त्रकारों ने पत्तन और पट्टन का संबंध जल मार्गों से जोड़ा है। जैसा कि अम्बिका प्रसाद बाजपेई ने हिन्दु राजशास्त्र में निम्नमत् उद्घृत किया है।

पत्तनं शकटैर्गम्यं घाटिकैर्नोमिरेव च।

नौभिरेव तु यद् गम्यं पट्टणं पत्प्रक्षते।।[2]

डॉ0 कामेश्वर नाथ का मत है कि प्रश्न व्याकरण सूत्र के अनुसार जल मार्ग तथा स्थल मार्ग दोनों में से अन्यतम से प्राप्य वसती को पत्तन कहा जाता था दोनों स्थितियों में पत्तन का जल मार्ग से सम्बन्ध द्वैतित होता है। सम्भव है कि जलीय व्यापार करने वाले वणिको जलाशयों को सभी पवर्तीय वसती को ही पत्तन कहा जाता रहा हो।[3] महाभारत में नौ घाट आदि की व्यवस्था को तर कहते थे, इससे राज्यकीय कोश वृद्धि होती थी। इस पर राजा का पूर्ण नियंत्रण था।

आकरे लवणे शुल्के तरे नागवने तथा।

न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान्।।[4]

तात्पर्य यह है कि महाभारत में जलीय मार्गों के साथ आवागमन के रूप में स्थलीय मार्ग समान रूप से प्रयुक्त होते थे। चीन, कम्बोज, तथा सुदूरवर्ती देशों से आने वाले व्यापारी हस्तिनापुर आकर व्यापार करते थे। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय आने वाले व्यक्तियों की विस्तृत सूची से यह विश्लेषण सहज रूप में ही किया जा सकता है। कि सुदूरवर्ती राजा स्वराज्यनायिकों को जलीय या स्थलीय राजमार्गों द्वारा भेज कर दूसरे राज्यों से व्यापार या राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करते थे। इसी कारण कर्ण और अर्जुन की अनेक दिग्विजयी यात्राओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है, कि रथ, अश्व, हस्ति या पदाति सेना व्यवस्थित रूप से निर्मित मार्गों से ही चतली रही होगी। राजा प्रजा दर्शन के लिए अथवा शोभा यात्रायें निकालने पर नागरिकों द्वारा मार्गों के किनारे खड़े होकर स्वागत करने या बन्धनवार, तोरणद्वार से मार्ग को साजाने के विविध प्रसंग महाभारत में अनेक अवसरों पर उल्लिखित है, जो इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं; कि उस काल में इन मार्गों का अस्तित्व रहा है। सेना प्रस्थान के लिए समतल मार्ग सुगम और जल, घास युक्त

---

(1) शान्ति पर्व 325/17 (2) हिन्दू राज्य शा0, पृ0-311 (3) शान्ति 69/28 (4) महा0 में लोक कल्याण की राजकीय योजनाऐं, पृ0-106

मैदानों की चर्चा गुप्तचरों के प्रसंग में की गई है।

जलावास्तृणवान् मार्गः समोगम्यः प्रशस्यते।
चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वन गोचरैः।।[1]

उपर्युक्त तथ्यों से ही इस बात की पुष्टि होती है कि आवागमन के रूप में व्यवस्थित स्थलीय जलीय मार्ग उस समय यह मार्ग अस्तित्व में थे। इन्हीं मार्गों का माध्यम् बनाकर राजा से लकर प्रजा और विदेशी लोग भी वहाँ से जाते थे। कहीं-कहीं तो हृदयस्पर्शी सुसज्जित मार्ग होते थे। रामायणकाल में विभिद् मार्ग उपलब्ध हुए हैं। जिसका जीता जागता प्रमाण था कि राम ने जब लंका पर चढ़ाई की थी, तो सर्वप्रथम सेतु निर्माण वानर सेना के सहयोग से किया था।

सारांश यह है कि महाभारत में वर्णित जो सामाजिक संरचना मिलती है। वह उत्तर वैदिक कालीन समाज के विकास की अवस्था है। वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था के मूल में बौद्धिकता सुरक्षता, आर्थिक समानता और सेवा प्रमुख थी। यह समाज दो प्रकार का दिखाई पड़ता है। कुलीन और संकर जातियाँ वर्णाश्रम के अन्तर्गत यद्यपि कुछ विद्वानों ने गौर एवं श्याम वर्ण की व्यवस्था का उल्लेख किया है। किन्तु महाभारत में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से सुसंगठित अनुलोम-प्रतिलोम विवाह जन्य संकट जातियों से युक्त समाज की परिकल्पना की है। यद्यपि विदेशी जातियों का उल्लेख कर महाभारतकालीन समाज को व्यापक परिवेश में देखा गया है। किन्तु पौन्ड्रक, यवन, पुल्दि, शवर, दरद आदि ऐसी जातियों का उल्लेख मात्र है उनकी सामाजिक संगठन, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, सामाजिक विधि निषेधों का उल्लेख महाभारत में नहीं है। महाभारतकार ने दैवी सिद्धान्त के अनुरूप ही पुरुष सूक्त कथित वर्ण व्यवस्था पक्षधर है। जिसमें जन्मना व्यक्ति को उत्तराधिकार में कर्म प्राप्त होते हैं। महाभारत के अनेक उपाख्यानों में ब्राह्मणों ने विहित कर्म भक्ष्याभक्ष्य निषद्ध कर्म क्षत्रियों की रक्षा शासन व्यवस्था कृषि वाणिज्य व्यापार वैश्यों के कर्त्तव्य कहे गये हैं, तथा सेवा सुश्रूषा स्वधर्मपालन शूद्रों के मुख्य कार्य उल्लिखित हैं। इनसे इतर त्याग, तपस्या ऋजुता, सदाचार, धर्माचरण, सत्य, अहिंसा आदि का आश्रय लेकर शूद्र अपने जीवन को श्रेष्ठ और पारलौकिक जीवन को सरल बनाते थे। इस समाज को नियंत्रित करने में विवाह प्रथा का अभूतपूर्व योगदान है। महाभारतकार ने विवाह की अवस्था का निर्णय

(1) महा0 शान्ति पर्व 100/13

अष्टविधि प्रकार, विवाह की पात्रता आगम्या गमन, विधि निषेध की भी चर्चा विस्तृत रूप से की है। महाभारत में जिस सामाजिक संगठन की संरचना मिलती है। उसके मूल में यौन आवश्यकताओं की पूर्ति सन्तती पालन एवं पूर्ति और सहयोग की भावना मूल रूप में निहित है। यह सारा समाज एक पारिवारिक संगठन में सूत्रबद्ध था, जिसमें माता-पिता, गुरूजन, भाई-बहन, पति-पत्नी, देवर-भाभी पितामह आदि प्रमुख सम्बन्धी उल्लिखित है। इसे सामाजिक संगठन की व्यक्ति के अवस्था या आयु के अनुसार ही विभाजित किया गया है। सामाजिक उन्नति के लिए वैदिक परम्परा में प्रचलित चतुराश्रम व्यवस्था का उल्लेख महाभारत में है। ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रम में प्रत्येक रहने वाले व्यक्ति आवश्यकता, योग्यता पात्रता, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, विधिनिषेधों का विस्तृत एवं सूक्ष्म चित्रण महाभारत में प्राप्त होता है। यह चित्रण सिद्धान्त एवं उपाख्यानों के रूप व्यावहारता में दिखाई पड़ता है। सामाजिक संगठन के सांस्कृतिक अध्ययन में रहन-सहन और भोजन व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से महाभारत में उच्च, मध्य एवं निम्न वर्ग के भक्ष्याभक्ष्य की चर्चा कर स्मृतियों, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों से तुलना प्रस्तुत की गयी है। किसी भी समाज का सांस्कृतिक अध्ययन सभ्यता या जीवन यापन के साथ ही साथ व्यक्ति की अभिरुचियों पर भी निर्भर करता है। इस दृष्टि से महाभारत में प्राप्त स्त्री-पुरुषों के वस्त्र, आभूषण, नगरीय स्त्रियों के प्रसाधन सामग्री में वैश्याओं के कृत्य मनोरंजन के विविध साधन संगीत, खेल, कूद, धार्मिक कृत्य, उत्सव मृगया आदि का उल्लेख हुआ है। कहना नहीं होगा कि महाभारत में जिस भौगोलिक सीमा का वर्णन किया गया है। वह गांधार देश तक फैले इस समाज में प्राप्त विभिन्न जाति वर्णो की प्रवृत्तियों सामाजिक संगठन के स्वरूप निर्धारण हेतु धर्मनीति विचार विनिमय आवागमन आदि का विस्तृत वर्णन कर महाकवि व्यास ने अपनी दूर दृष्टि से वैदिक अवैदिक समाज के प्रत्येक अंग पर विहंगम, दृष्टिपात किया है। जिसका निष्कर्ष यह है कि ऐसे बाहुल्यतावादी समाज में कुछ अपवादों को छोड़कर धार्मिक नियमों से आबद्ध कर उसे सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है।

अध्याय-तृतीय

महाभारतकालीन आर्थिक संरचना एवं संगठन

क— महाभारतकालीन कृषि की स्थिति

ख— महाभारत में वर्णित पशुपालन की स्थिति

ग— महाभारत में व्यवसाय की संरचना

घ— महाभारतकालीन वैदेशिक व्यापार की व्यवस्था

ङ— वर्णव्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था के मिश्रण की स्थिति एवं समाज पर प्रभाव

च— महाभारतकालीन शिल्पकला का अनुशीलन

छ— जनता के जीविकोपार्जन के साधन

ज— राजा के आर्थिक स्रोत

झ— राजकोष का प्रबन्ध

अ— कर व्यवस्था

अध्याय-तृतीय

महाभारत कालीन आर्थिक संरचना एवं संगठन

महाभारत की महत्ता निरूपित करते हु प्रथम अध्याय में कहा गया है कि वह पुराण इतिहास, सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना के ग्रन्थ रूप में समाहित है। इसकी कथाओं, उपकथाओं में जीवन के विविध क्षेत्रों के असंख उदाहरण वर्णित हैं। पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अन्तर्गत अर्थ को द्वितीय स्थान मिला है। महाभारत में आख्यानात्मक प्रणाली के माध्यम से तद्युगीन संस्कृति की पूर्ण रूपेण झलक जीवन का सांगोपांग चित्रण मिलता है। किसी भी देश की संस्कृति, धर्म और अर्थ से प्रभावित हुए नहीं रहती है। अर्थ, तन्त्र, समाज की प्रगति, विकास ऐहिक उन्नति का मूल कारक तत्त्व है। अतः प्रस्तुत अध्याय में महाभारत में उल्लिखित आख्यानों का नीतिगत सिद्धान्तों या उपदेशों के माध्यम से चित्रित आर्थिक तंत्र का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

वैदिक सभ्यता कृषि तथा संयुक्त परिवार पर आधारित थी। कृषि व्यवस्था वैश्य वृत्ति कहलाती है, जिसका उल्लेख द्वितीय अध्याय के वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत किया जा चुका है, कि वैश्य वर्ण कृषि, व्यापार इत्यादि से अर्थोपार्जन करता है।

महाभारत कालीन कृषि की स्थिति :-

समाज की सम्पन्नता का मूल कारण धन उसके स्रोत उपार्जन की वृत्ति उसमें लगने वाले श्रम और उसकी सुरक्षा व्यवस्था पर निर्भर रहती है। संयुक्त परिवार में संमृद्धि के मूल स्रोतों में कृषि प्रमुख है। महाभारत में कहा गया है कि कृषि निरत वैश्य के शरीर में लक्ष्मी का वास होता है।

1. वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि।[1]

2. गोभिः पयुभिरश्चैव कृष्या ख सुसमृद्धया।[2]

अतः कृषि की रक्षा करना राजा का परम श्रेष्ठ कर्त्तव्य माना गया है। क्योंकि उसकी असावधानी के कारण चोर या राजकर्मचारी कृषकों को क्षति पहुँचा सकते थे। महाभारत में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि–

---

(1) अनुशासन पर्व 11/19 (2) उद्योग पर्व 36/31

कृषि गौ रक्ष्यवाणिज्यं यचान्यत् किंचि दीदृश्यम्।

पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः।।

नरश्चेत्कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः।

संशयं लभते किंचित् तेन राजा विगर्हते।।[1]

कृषि कर्म की व्यवस्था :-

महाभारत में हल और बैल से खेती करने की पद्धति का उल्लेख हुआ है। कृषक् बैल से खेत जोतकर बीज वपन करते थे। ब्रह्मा, इन्द्र, संवाद में इसका उल्लेख मिलता है-

एतासां तनयाश्चापि कृषियोगमुपासते।

जनयन्ति च धान्यानि बीजानि विचिधानि।।[2]

लांगल एवं काष्ठमयो मुखं से हल की ओर संकेत मिलता है।

क- तेन ते क्रियतामद्य लाङलं नृपसत्तम।[3]

ख- भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्।।[4]

भूमि को बहुगुण सम्पन्ना कहा गया है। अतः लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्था हेतु कृषि को वार्ता के अन्तर्गत रखकर उसकी रक्षा करने का विधान कहा गया है। शान्ति पर्व में कृषि, गौरक्षा वाणिज्य कृषकों की पुष्टि राजा के उत्तरदायित्वों में से गिना गया है।

कृषि गोरक्ष्य वाणिज्यं लोकानामिहं जीवनम्।

ऊध्वै चैव त्रयीविद्या सा भूतान्मावयत्युत।।

तस्यां प्रयतमानायां ये स्मुस्तत्परिपन्थिनः।

दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत्।।[5]

खेती का मुख्य आधार बीज और सिंचाई है। जिसका उल्लेख महाभारत में किया गया है। डॉ0 सुखमय भट्टाचार्य ने महाभारकालीन समाज नामक शोध-प्रबन्ध में लिखा है-

अलग-अलग जगह अलग-अलग ढंग से खेती की जाती थी। जहाँ-जहाँ वर्षा के जल से खेती होती थी। उस जगह को "देवमातृक" कहा जाता था। जहाँ नदी के जल से सिंचाई करके फलस उगाई जाती थी, उस जगह को "नदी मातृक" कहा जाता था। समुद्र के किनारे की जमीन

(1) शान्ति पर्व 88/27-28 (2) अनु0 पर्व 83/19 (3) वन पर्व 25/47 (4) शान्ति पर्व 261/46 (5) शान्ति पर्व 89/7-8

को, जहाँ बिना अधिक परिश्रम के ही फसल पैदा हो जाती थी "प्रहति मातृक" नाम दिया गया था। और जहाँ इनमें से कोई भी साधन उपलब्ध नहीं होता था। वहाँ तालाब खोदकर उसके जल से सिंचाई की जाती थी।[1] नारद ने लिखा है कि राजाओं को तडाग तथा कुल्या निर्माण पर विशेष बल देना चाहिए।

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च महान्ति च।

भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवचमातृका।।[2]

इसी प्रकार युधिष्ठिर को भेंट में मिली इन्द्र एवं इन्द्र वर्षा एवं नदी जल से सींच कर उत्पन्न किये गये, धान्यों के भेंट का उल्लेख इस प्रकार मिलता है।

इन्द्र कृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदी मुखैः।[3]

धृतराष्ट्र[4] और युधिष्ठिर[5] ने बड़ी-बड़ी कुल्याओं का निर्माण कराया था। अनावृष्टि के समय राजा कृषकों को यथानुसार बीज की व्यवस्था करते थे।

कच्चिन्न मुक्तं बीजञ्च कर्षकस्यावासीदति।[6]

महाभारत में नाना प्रसंगों में धान्य, जौ, सरसें, कोदो, तिल, उड़द, मूँग, गेंहू, जौ का उल्लेख उपज के रूप में हुआ है।

कृषक से कर वसूली :-

महाभारत में कहा गया है कि कृषक एवं वाणिज्य ही राज्य को समृद्धशाली बनाते हैं। अतः प्रजा राजा रक्षा हेतु उनसे षष्ठांश रूप में कर ग्रहण करता था। यद्यपि आवश्यकता पड़ने पर कृषक को राजकोष से कर्ज देने की भी व्यवस्था का उल्लेख महाभारत में मिलता है। महाभारत में ये कहा गया है कि नौकरों से अच्छी खेती अच्छी तरह से नहीं हो सकती, अतैव कृषक को इस सम्बन्ध में सच्चेष्ट रहना चाहिए तथा परावलंबन नहीं करना चाहिए।

गोषु च आत्म समं ददत्त स्वमेव कृषि बुजेत।[7]

इसी परिप्रेक्ष्य में पशुचिकित्सा उनकी देख-रेख का विधान महाभारत में मिलता है।

---

(1) महाभारतकालीन समाज अनु0 पुष्पा जैन पृ0-163 (2) सभा पर्व 5/67 (3) आदि पर्व 51/11 (4) आदि पर्व 137/12 (5) आश्रम पर्व 47/14-23 (6) सभा पर्व 5/79 (7) उद्योग पर्व 38/12 एवं 34/86

महाभारत में वर्णित पशुपालन की स्थिति :-

कृषि गौ रक्षा एवं वाणिज्य को वार्ता कहा जाता है। कृषि के मूल में बैल हैं। अतः स्वभाविक रूप से गौर रक्षा का विधान महाभारत में अर्थ एवं धर्म की दृष्टि से किया गया है। दूसरा पशुओं की अपेक्षा, गाय उस युग में मानव समाज की सबसे अधिक हितकारिणी कही गयी है। प्रत्येक गृहस्थ को गौ पालन की महिमा का उपदेश सम्पूर्ण महाभारत में हुआ है। उद्योग पर्व (33/90) में गावः सेवा कृषि कह कर कृष और गाय के अभिन्न सम्बन्धों को निरूपित किया गया है। सहदेव गौ पालन के विशिष्ट पंडित माने गये हैं। आश्रमों में गौ धृत प्राप्ति हेतु गौ शालाओं का निर्माण, गायों की सेवा अधिक दुग्ध उत्पादन के रहस्यों का उद्घाटन अनेक उपकथाओं मे मिलता है। महर्षि वशिष्ठ की कामधेनु, नन्दनी, विश्वामित्र के साथ युद्ध का कारण बनी थी। यह गौ पालन महाभारत में दो रूप में दिखाई देता है। व्यक्तिगत रूप से गाय रखकर, उसकी सेवा गौदान, उससे दूध धृत प्राप्त करना वैयक्तिक धर्म कहा गया है; दूसरी ओर राजा के पशुशालाओं में गायों की देख-रेख उनपर शासकीय अभिज्ञान अंकित करने की कला और व्यवस्था का विवरण महाभारत में उपलब्ध है। महाभारतकाल में पंचरतन एवं विराट राज की गौ शालाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। अज्ञातवास के समय सहदेव ने सेवक के रूप में नियुक्ति की आकांक्षा की थी। सहदेव अपने गौ रक्षा ज्ञान का वर्णन करता हुआ कहता है कि युधिष्ठिर की गौ शाला में आठ लाख गायों के झुण्ड थे। वह गणक और निरीक्षण में दक्ष था। उससे राजा विराट उसे उसी पद पर नियुक्त करता था।

अपरे शतसाहस्रा द्विस्तावन्तस्तथा परे।
तेषां गोसंख्य आसं वै तन्तिपालेति मां विदुः।
भूतं भव्यं भविष्यं च यच्च संख्यागत गवाम्
नमेऽस्त्यविदितं किंचित् समन्ताद् दशयोजनम्।।
गुणाः सुविदिता ह्यासन् मम तस्य महात्मनः।
असकृत स मया तुष्टः कुरुराजो युधिष्ठिरः।
क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति
न तासु रोगो भवतीह कश्चन्।

तैस्तैरुपायैविदितं ममैत्।

देतानि शिल्पानि मयि स्थितानि।[1]

गायों एवं बैलों के लिए चारे की व्यवस्था का भी उल्लेख महाभारत में हुआ है। इन्हें नगर एवं कृषि योग्य भूमि से दूर रखा जाता था। गायों के रक्षक गोप गोपाल उनके ऊपर गवाध्यक्ष या गोसंख्या अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। गौ हरण की घटना से यह तथ्य सहज ही उपलब्ध होता है कि राजकीय गायों की सुरक्षा का भार गौ संख्याता को ही होता था। यद–कदा राजा अथवा राजपुरूष इन गौवंशों का निरीक्षण कर राजा को सूचित करता था। दुर्योधन ने कर्ण आदि के साथ घोषों में जाकर सामान्य प्रसूता या अन्यविद् गायों की गणना की थी। गौपालन के सन्दर्भ में ये बात अवश्य ध्यातव्य है कि गोपों के ऊपर ही विश्वास न कर गायों की गणना या चिन्हों से चिन्हित करना स्मरण राजा का प्रधान कार्य था।

कर लगाते समय राजाओं की ओर से जो व्यवस्था की गयी थी। उस सन्दर्भ में डा0 कामेश्वर नाथ मिश्र ने लिखा है कि गो पतियों का हानि–लाभ राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव डालना था। अतः इनके ऊपर राजा को दया बुद्धि तथा प्रेम पूर्वक कर का आरोपण करने का विधान था। पशुओं की चारण व्यवस्था धृतयों के वेतन व्यय पशुक्षय तथा दनके योगक क्षेमः पर पड़ने वाले व्यय को निकाल कर लाभांश पर कर लगाने की परिपाटी चली आ रही थी।[2] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा था, कि जिस राज्य में कृषक गौ रक्षक अत्यधिक काम नहीं करते हैं। अथवा कराधिक के कारण वे राज्य छोड़कर जा रहे हों, ऐसा राज्य बहुत दिन नहीं चलता है।

कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं यञ्चान्यत् किंचिदीदृशम्।

पुरुषै कारयेत् कर्म बहुभिः कर्म भेदतः।

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यापि पौडिताः।

ये वहन्नि धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि।।[3]

(1) विराट पर्व 10/10, 11, 12, 13 (2) महाभारत में लोक कल्याण की राजकीय योजनायें पृ0–128 (3) शान्ति पर्व 88/27 एवं 89/24

महाभारत में व्यवसाय की संरचना :-

सांस्कृतिक तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत करते हुये कहा जा चुका है कि समाज के सुव्यवस्थित संचालन में अर्थतत्त्व की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है क्योंकि प्रत्येक समाज में भिन्न-भिन्न विचार अवस्था शक्ति योग्यता कर्म के प्रति अभिरुचियाँ सम्पन्न लोग रहते हैं, अतः सांस्कृतिक तत्त्वों में अर्थ तत्त्व को एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है।

अर्थोपार्जन के लिए पूर्व पृष्ठों में ये कहा गया है कि मनुष्य अपनी-अपनी वर्ण व्याख्या के अनुसार अजीविका प्राप्त करने की सहजता का अनुभव करता है। महाभारतकार ने स्वयं कहा है कि जीविका का व्यवस्था मानवकृत नहीं है। जब ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया था, तभी वर्णों का विभाजन श्रम और वृत्ति के आधार पर ही किया गया था। यही वृत्ति मनुष्य को उत्तराधिकार के रूप में मिलती है।

क- असृजद्धत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया।[1]

ख- पूर्व हि विहितं कर्म देहिनं न विमुञ्चति।[2]

सामाजिक वर्ण व्यवस्था के विहित जीविकोपार्जन का परित्याग कर अन्य साधन अपनाना निद्धि कर्म माना गया है। क्योंकि इससे समाज की अवधारणा ही विशृंखल होती दिखाई पड़ती थी। कुलोचित वृत्ति का अपरित्याग श्रेष्ठ कर्म और स्वधर्म पालन के समकक्ष कहा गया है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने इसी स्वधर्म पालन पर विशेष बल दिया है। ब्राह्मण की वृत्ति यज्ञ, दान, अध्ययन, अध्यापन तथा इसमें अध्यापन याजन प्रतिग्रह अजीविका के साधन कहे गये हैं। भिक्षा वृत्ति का रूप दिया गया है। यद्यपि इस भिक्षा श्रेष्ठ कहकर उसे व्यवसाय वृत्ति में संचय बुद्धि का निषेध करा गया है। आपद् धर्म के रूप में कृषि, वाणिज्य, कुसीद (ऋण) लेना कहा गया है। इसी प्रकार पुरोहित वर्गों में यज्ञ अन्य मांगलिक कार्य व्यवस्था रूप में वर्णित है। क्षत्रिय को अपने बाहुल्य द्वारा समाज पर शासन करना होता था। दुष्टों का दमन शिष्यजनों का पालन उसके प्रधान कर्त्तव्य थे, एवं व्यवस्था के अन्तर्गत क्षत्रिय को अपनी जीविका व्यवस्था करनी पड़ती थी।

दामनध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्य धर्ममीप्सता।।[3]

---

(1) अनु0 73/11 (2) वन0 207/19 वि0-50/4 (3) शान्ति पर्व 60/18

व्यवसाय का सम्बद्ध जीविकोपार्जन से जोड़ने अत्यन्त संक्षेप में ब्राह्मण, क्षत्रिय की वृत्तियों का यहाँ उल्लेख किया गया है। यद्यपि इसका विस्तृत विवेचन वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः यहाँ इनका वर्णन पिष्ट पेषण मात्र होगा।

व्यवसाय का विशेष सम्बन्ध वैश्यों से रहा है। कृषि पशुपालन और वाणिज्य उनकी प्रधान अजीविका थी। वैश्य वर्ग विभिन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय कर अर्थ संचय करते थे। महाभारत में ये उल्लेख आया है कि वाणिकों ने समुद्रों के माध्यम से पुष्कल राशि में धन प्राप्त किया है।[2] समुद्रों में नावों के डूबने भँवर में उसके फँस जाने पर वाणिकों के दुःख का भी उल्लेख हुआ है। राजा यथासम्भव में हस्तक्षेप नहीं करता था। महाभारत में कहा गया है कि वैश्य जिसके मूल धन से व्यापार वाणिज्य करें उसके लाभ का सप्तांश अपने पारिश्रमिक सूत लें यदि जंगली गाय आदि के सींगों का व्यवसाय करें तो सब कुछ महाजन को देकर लाभ का सातवाँ हिस्सा स्वयं ले तथा पशुओं के मूल्यवान खुरों के व्यवसाय से सोलहवाँ हिस्सा लाभ के रूप में लें शेष मूलधन और लाभांश महाजन का ही होगा।

षष्णामेकां पिबेद् धेनु शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाच्च सप्तमं भागं श्रृडगे कला खुरे।।[3]

समुद्र व्यवसाय की चर्चा अनेक बार महाभारत में आई है। ऐसे व्यापारी रक्षकों के समूह को सार्थ कहते थे, और उसके महाजन या नेता को सार्थवाह कहा जाता था। नल दमयन्ती प्रसंग में दमयन्ती को महासार्थ मिला था।

वाणिज्य में अविक्रय वस्तुएँ :- महाभारत में कहा गया है कि तिल, गन्ध द्रव्य, नमक, पका हुआ अन्य, दही, दूध, तेल, घी, मांस, फल, मूल सांग, लालरंग का कपड़ा, गुड़ इत्यादि विक्रय हेतु निषिद्ध है।

तिलान् गन्धान् रसांचचैव विक्रीणीयान्न चैव हि।
वाणिक्पथमुपासीनों वैश्यः सत्पथमाश्रितः।।[4]

शान्ति पर्व सत्ताइसवें अध्याय में नगर बसाने के समय विक्रय द्रव्यों की दुकानों का भी उल्लेख है। इस प्रकार व्यवसायरत लोगों की रक्षा का भार राजा पर डाला गया है। व्यापार कर लगाते समय राजा को विशेष ध्यान देना चाहिए।

विक्रयं क्रयम ध्वानं भक्तं च सपरिच्छद्म।[5]

---

(1) (2) शान्ति पर्व 277/26 (3) शान्ति पर्व 60/25 (4) अनुशासन पर्व 56 (5) शान्ति पर्व 87/13

महाभारतकालीन वैदेशिक व्यापार की व्यवस्था :-

विदेशी व्यापारियों का भी पूर्ण ध्यान इस युग में रखा जाता था। लाभ की आकांक्षा से दूर-दूर से आने वाले व्यापारियों का उचित प्रबन्ध करना रक्षा तथा निश्चित कर ग्रहण करने का उल्लेख भी महाभारत में है।

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात्।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः।[1]

राजसभा में व्यापारियों को यथेष्ठ सम्मान दिया जाता था। राजा की समुचित एवं पक्षपात रहित व्यवहार के कारण महाभारत युगीन वाणिक् अपने व्यवसाय को उन्नत बनाते थे। महाभारत में विदेशी व्यापार की भी यत्र-तत्र चर्चा है। भीम, अर्जुन आदि की दिग्विजय से इतना तो कहा जा सकता है कि हिमालय ले लकर कन्या कुमारी तक एवं द्वारका से ले कर ब्रह्मपुत्र तक यातायात के साधन सुलभ थे। राजसूय यज्ञ के समय युधिष्ठिर को विभिन्न देशों से उपहार योग वस्तुयें प्राप्त हुई थीं। जिसमें चीन और सिंघल देश प्रसिद्ध थे। इसी प्रकार समुद्र पोत्र द्वारा भारत से बाहर व्यापारिक क्रिया-कलापों की चर्चा महाभारत के शान्ति पर्व में हुई है। गौतम नामक एक दुराचारी के परिप्रेक्ष्य में यह बात सिद्धान्तः कही जा सकती है।

सामुद्रिकान् स वाणिजस्ततोऽपश्यत् पथि।
स तेन सह सार्थेन प्रययौ सागरं प्रति।।
सतु सार्थो महान राजन् कस्मिश्चिद् गिरिगहरे।
मत्तेन द्विरदेनाथ निहतः प्रायाशोऽभवत्।।
स तु सार्थपरिभ्रष्टस्तस्माद् देशात् तथा च्युतः।
एकाकी व्यचरत् तत्र वने किं पुरुषो यथा।[2]

तात्पर्य यह है कि पाण्डुओं की विजय यात्राओं तीर्थ भ्रमण आदि प्रसंगों में सामुद्रिक देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों की विस्तृत चर्चा महाभारत के कुछ प्रसंगों में हुई है। इन समुद्रों में नवगाँव के माध्यम से व्यापार करके वाणिक वर्ग धन की वृद्धि किया करते थे।

वणिग्यथा समुद्राद्वै यथार्थ लभते धनम्।[3]

---

(1) सभा पर्व 5/103 (2) शान्ति पर्व 169/2, 35 (3) शा० पर्व 298/28

इसी प्रकार अर्जुन निवात् कवचों के युद्ध में जब समुद्र गाथा था तो उसने अनेक रत्नपूर्ण नौकायें देखी थीं। महाभारतकालीन वाणिज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में सुखमय भट्टाचार्य का अभिमत है कि इन सब वर्णनों से अच्छी तरह समझा जाता है, कि उस काल में भारत के साथ दूसरे देश के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ थे। अन्तः वाणिज्य बांह्य वाणिज्य इन दोनों के द्वारा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश एवं एक देश से एवं दूसरे देश के बीच सम्बन्ध स्थापित होते थे।[1] युधिष्ठिर के अभिषेक के समय अनेक देशों से आये हुये राजाओं ने उन्हें महार्घ रत्न बहुमूल्य वस्त दिये थे। निष्कर्ष यह है कि महाभारत काल में विदेशियों से व्यापार होता था। क्रय-विक्रय के साथ कर रूप में धन लिया जाता था। राजा इन विदेशियों की रक्षा का भार लेता था। विदेशिक व्यापार तो आपसी स्नेह पूर्ण सम्बन्धों के कारण होना सम्भव होते थे। महाभारत का समय हो या वर्तमान समय दोनों समय से दूसरे देशों से व्यापार घनिष्ट सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। यह विदेशी व्यापार हमारी आज की प्रथा नहीं है। बल्कि महाभारत काल से यह प्रथायें चली आ रही हैं। वर्तमान समय में हम उसका टेडीशन बस बदल कर उस प्रक्रिया को अपनाते हैं। जिस देश में जो भी वस्तुएँ अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होती है, तो आपसी सम्बन्धों के कारण या तो अदान-प्रदान की स्थिति करते हैं। या सिर्फ लेने बस का कार्य करते हैं।

तात्पर्य यह है कि विदेशी व्यापार मित्रवत सम्बन्धों पर निर्भर था। एक दूसरे देशों को आपस में ही सहयोग मिल जाता था जिस देश जो भी अधिक होता उसका आदान प्रदान हो जाता था। उससे धन की भी वृद्धि होती थी। महाभारत काल में समुद्रों के द्वारा वाणिज्य लोग व्यापार करते थे। क्यों वाणिज्यों को ही व्यापार करने का अधिकार था लेकिन यत्र-तत्र अन्य वर्ण के लोगों के भी व्यापार करने का सन्दर्भ मिलता है। अतः विदेशी व्यापार एक बहुत रुचिपूर्ण प्रथा थी।

---

(1) महाभारत कालीन समाज, पृ0-174

वर्ण व्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था के मिश्रण की स्थिति एवं समाज पर प्रभाव

पुरुषार्थ चतुष्ट्य में धर्म के बाद अर्थ को स्थान प्राप्त है, अर्थात सामाजिक समाञ्जस्य हेतु विभाजित वर्ण व्यवस्था को अत्यधिक महत्त्व इसलिये दिया गया है कि जीवन-यापन अर्थ ही सुगतमा पूर्वक होता है। ब्राह्मण, अर्थ संचय से रहित होता था। शूद्र भी अर्थवान या सम्पन्न कम ही होते थे। मूलतः धन पर अधिकार क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ग में था। अतः इन दोनों वर्णों का यह नैतिक दायित्व बनाया गया है कि समाज में दरिद्रता न रहें राजा यज्ञ इत्यादि का कर्मकाण्ड अथवा उत्सवों में ब्राह्मण वर्ग को अत्यधिक धन दक्षिणा रूप देता था। जिससे उनकी जीवन वृत्ति का निर्वाह सरलता पूर्वक हो सकता था। वैश्य वर्ग भी धनाड्य सम्पन्न और धन के प्रदर्शन पर विश्वास रखता था। वह विभिन्न कर्मकाण्डों अथवा धार्मिक आयोजन कर ब्राह्मणों को दक्षिणा तथा शूद्रों को अपनी सेवा में नियुक्त कर उनके योग, क्षेम का निर्वाह स्वतः करता था। "भोगक्तव्यों मध्यमों जनः" कहकर महाभारतकार ने इसी बात की पुष्टि की है कि यदि समाज में एक ओर दरिद्रता और दूसरी ओ अधिक सम्पन्नता होगी तो सामाजिक समस्ता का अभाव होगा इससे वर्ण व्यवस्था समुचित रीति से चल नहीं सकती, जैसा कि हम परिवर्ती काल में देखते हैं, कि महाभारत के बाद अनेक जातियाँ, उपजातियाँ या वर्ण संकरता उत्पन्न हो गयी थीं। व्यास की मान्यता है कि सम्पन्न व्यक्ति के कोप कि अपेक्षा दुःखी विपन्न अभाव ग्रस्त बहुसंख्यक समाज का कोप राजा को स्थित कर देता है। इसीलिये पृथुवेन इत्यादि उदाहरणों से यह सिद्ध किया गया है कि आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था के साथ ही आर्थिक वितरण श्रम के साथ तो अवश्य हो किन्तु राजा का यह भी दायित्व है कि वह वर्ण व्यवस्था हो किन्तु राजा का यह भी दायित्व है कि वह वर्ण व्यवस्था को सुचारु रूप हेतु राज्य में आर्थिक स्रोतों पर उनका नियंत्रण उनका वितरण आवश्यकता के अनुसार करें।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था एवं आर्थिक व्यवस्था को बहुत सुदृढ़ तरीके से व्यवस्थित रखा जाता था, क्यों समाज पर इसका कोई दुस्प्रवाह में पड़े। राजा भी प्रत्येक वर्ण की आर्थिक स्थिति पर विशेष बल तो देते ही थे। जिससे व्यक्ति की दरिद्रता दूर होगी तो समाज स्वयं ही दरिद्र ही हो जायेगा। निर्धनता न होने व्यक्ति और समाज का भी विकास होता है।

महाभारतकालीन शिल्प कला का अनुशीलन

शिल्प काला को ललित कला माना गया है। जिसे चौसठ कलाओं में अन्तर्भुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत स्थापत्य कला, मूर्ति कला, चित्रकला, खानों से हीरे माती निकालकर उनका परिष्कार करना अथवा बहुमूल्य रत्नों को आभूषणों में जड़ना शिल्प कला के कुछ क्षेत्र हैं। प्रायः यह कर्म श्रमिक वर्ग करता था। उस काल में मणिरमुक्ता, मूँगा, सोना, चाँदी, महार्घ वस्तुऐं मानी जाती थीं।

मणिमुक्ता प्रवालंच सुवर्ण रजतं बहु।[1]

जतग सर्व्वञ्च निर्म्मथ्य तेजोराशिः समुत्थितः

सुवर्णमेभ्यो विप्रर्षे रत्नं परममुत्तमम्।।[2]

वस्तुतः शिल्पकर्म बहु आयामी रखता है। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियों ने इन शब्दों को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। राजा को नगर निर्माण के लिए यज्ञ कराते समय यज्ञायतन, अतिथिशाला भोजन करने हेतु पात्र युद्धों की बहुलता के कारण शस्त्रार्थ निर्माण एवं उनसे रक्षा के लिये कवचों का निर्माण शिल्पियों द्वारा ही होता था। प्रायः शिल्प कर्म में शूद्रों का था, इस युग तक सोने का महत्त्व बढ़ गया था। स्त्री पुरुषों के आभूषणों का निर्माण राजाओं के सभाग्रह में स्वर्ण निर्मित आसनों के निर्माण की विस्तृत चर्चा महाभारत में बहुतायत से मिलती है। कुछ उदाहरण इस विषय में द्रष्टव्य हैं-

मालां च समुपादास कांचनी समलंकृताम्।।[3]

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके।

नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने।।[4]

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां

सभारम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।

चित्रैर्हैमै रासनैरभ्युपेतां माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीतः।।[5]

ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते।

शय्यासन विहारांश्च सुबहून् रत्संचयान्।।

---

(1) आदि पर्व 113/34 (2) अनु0 84/49, 52 (3) आदि पर्व 184/30 (4) आदि पर्व 73/2 (5) सभा पर्व 56/20

घटान् पात्री कटाहानि कलशान् वर्ध मानकान्।
न हि किंचिद सौवर्णमपश्यन् वसुधाधिपाः।।[1]

महाभारत के अध्ययन से यह उपलब्धि प्राप्त होती है कि महाभारत काल में धनुष, गदा, फरसा, चक्र, बाण रथ के पहिये, रथ कुर्सी इत्यादि अन्य वस्तुएँ बनाये जाने का उल्लेख मिलता है। और उस समय में ये वस्तुयें प्रयोग में आती थी। इसी प्रकार चाँदी की थाली ताँबे के कासे के जीवनोपयोगी बर्तनों का उपयोग महाभारत में हुआ है। जैसे-

(1) दक्षिणार्थे समानीता रजभिः कास्यदोहनाः।[2]

(2) कुद्दालं दात्रपिटकं प्रकीर्णे कांस्यभाजनम्।।
द्रव्योपकरणं सर्वे नान्ववैक्षत् कुटुम्बिनी।।[3]

उपर्युक्त उदाहरण से लोहा शिल्प का भी पता चलता है। जिसमें अस्त्र-शस्त्रों के साथ दैनिन्दिनी व्यवहार उपयोगी वस्तुओं की चर्चा है।

महाभारत की कथा अभिजात वर्ग की कथा है। अतः इसमें स्वर्ण निर्मित आभूषणों में उट्टंकित मणि माणिक्यों का विस्तृत वर्णन है जिसमें राजाओं के मनोरंजन हेतु पासें की गोटियाँ वैदूर्य निर्मित था, शोभा के लिए खड्ग की मूठ मणि होती थी।

अस्थि एवं चर्म शिल्प :- महाभारत में अस्थि एवं चर्म शिल्प का भी उल्लेख मिलता है। चर्मपादुका गौड़े की पीठ से बनी हुई धनुष या ढाल, हरिण एवं मेष के चमड़े के उत्कर्ष आसन बहुत ही प्रसिद्ध थे। युधिष्ठिर के लिए कम्बोज राज ने बहुमूल्य हरिण चर्म भेंट में भेजे थे।

कदली मृगमोकानि कृष्णशमारुणानि च।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै पराध्यानपि कम्बलान्।।[4]

वास्तु शिल्प :- गृह निर्माण के पूर्व उसकी नाप शान्ति पाठ के बाद उसका निर्माण राजाओं के लिए प्रसादों की रचना का विस्तृत वर्णन महाभारत में उपलब्ध है। यहाँ तक कि पाण्डवों को जलाने के लिए निर्मित जतु गृह में सन के तनों, घी, लाक्ष्य, चर्बी आदि मिलाकर दीवालों को सुन्दर रूप दिया गया था। द्रोपदी स्वयंवर के भव्य प्रसाद का वर्णन व्यास ने वास्तुशास्त्र

(1) अश्वमेधिक पर्व 85/29-30 (2) सभा पर्व 52/3 (3) शा० 228/60 (4) सभा० 48/18 1/2

के अनुकूल किया है।

प्राकार परिवोपेतो द्वारतोरणमण्डितः।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः।
तूर्योंध शतसंकीर्णः पराध्र्यागुरुधूपितः।
चन्दनोद कसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः।
कैलास शिखर प्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः
सर्वतः संवृत्तः शुभैः प्रासादैः सुकृतोच्छयैः
सुवर्णजाल संवीतैर्मणि कुट्टिमभूषणैः।
सुखारोहणसोवानैर्महासनपरिच्छदैः।
खग्दामसमचव्छन्नैर गुरन्तमवासितैः।
हंसां शुवर्णैर्बहुभिरायोजन सुगन्धिभिः।।[1]

इसी प्रकार खाण्डव प्रस्थ में बने राज्य प्रासाद गोपुर के पंखों के समान बने दरवाजे शास्त्रागार आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। यहाँ सब प्रकार की शिल्प कला के जानकार भी बसाये गये थे।

सागर प्रतिरूपाभिः परिखभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता।।
पाण्डुराभ्र प्रकाशेन हिमरश्मि निभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैभौगवती यथा।।
द्विपक्षगरुड प्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्त भ्रचयप्रख्यै र्गोयुरैर्मन्दरोपयैः।।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।।[2]

दस हजार हाथ भूमि को घेर कर बने युधिष्ठिर का ये सभामण्डप वास्तुशिल्प का उत्कृष्ठ नमूना था, क्योंकि इसमें निर्मित पक्षी, मछलियाँ, सोपान, हंस, बतख आदि स्फटिक मणि से बने

(1) आदि पर्व 184/17-21 (2) आदि पर्व 206/30-40

थे। जिसमें देखने वालों को वास्तविकता की भ्रान्ति होती थी।[1] काल के दैत्य या मत्सराज की सभा में वास्तु वर्णन का जो भव्य उल्लेख महाकाव्य में हुआ है। वह उत्कृष्ट शिल्प कला का नमूना ही नहीं था, अपितु अपनी भव्यता के कारण वह पाठकों को भी मनोहारी लगता है।

काष्ठ तथा वस्त्रशिल्प कला :- महाभारत में मकान बनाने के लिए देवदारू तथा बैठने के लिए काष्ठासन का उल्लेख हुआ है।[2] महाभारत में विभिन्न देशों के वस्त्र शिल्पियों द्वारा निर्मित वस्त्रों का विवरण मिलता है। जिसमें विभिन्न पशुओं के रोओं के साथ स्वर्ण तार मिलकर वस्त्र बनाये जाते थे। चीन देश के पश्मीना रेशमी या पट वस्त्र का विशेष उल्लेख है जो बहुत मुलायम होते थे। कपास के वस्त्रों का उल्लेख न होने के कारण इससे ये अर्थ निकाला जा सकता है, कि यह तो दैनिदन के व्यवहार योग्य वस्त्र हैं। उपहार में तो उस देश की श्रेष्ठतम् शिल्प कला के नमूने के रूप में इन वस्त्रों का उल्लेख है। धार्मिक अनुष्ठानों में देशज वस्तुओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महाभारत में शिल्पकला को व्यवसाय रूप में अपनाने वाले शिल्पियों की आर्थिक दशा का चित्रण व्यास ने किया है। दरिद्र शिल्पी अर्थाभाव से दुःखी न हो यह कार्य राजकीय कर्मचारी देखते थे, जो शिल्पी अपनी शिल्पकला में दक्ष हो जाते थे, आर्थिक रूप से समृद्ध होने पर राजा उनसे कर रूप में धन लेता था।

उच्चावचकरा दाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर।[3]

सारांश यह है कि युद्धोपकरण, देश के शासक वर्ग के उपकरण ब्राह्मण वर्ग मणि मुक्ता अलंकारों का निर्माण धनिक वर्ग प्रसादों राजा तथा उच्च वर्ग के लिये होते थे जबकि ग्राहादि स्थापत्या शिल्प लौह, कांस्य वस्त्रादि का निर्माण धनी निर्धन सभी के लिए प्रयोजनीय थे। जिन का विस्तार से वर्णन महाभारत में हुआ है। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है, कि उस युग में सामाजिक संमरसता सौहार्द और सामान्य प्रजा की दशा उन्नतिशील थी। शिल्प कला की दृष्टि से जो देश जितना सम्पन्न होगा। आर्थिक दृष्टि से वह उतना ही समृद्ध होता था।

---

(1) सभा पर्व अध्याय-2 (2) उद्योग पर्व 47/5 (3) शान्ति पर्व 87/15

जनता के जीविकोपार्जन के साधन

किसी भी श्रेष्ठ समाज के मूल्यांकन मे वर्गी या जातीय व्यवस्था, प्रशासनिक कुशलता सांस्कृतिक एवं मानवीय उदारता के साथ आर्थिकोपार्जन के साथ ही यही महात्वपूर्ण मापदण्ड माने जाते है। जो समाज आर्थिक दृष्टि से जितना स्वायत्त प्रधान होगा, जीविकोपार्जन के साधन भी उतने सुगम सरल और बहुआयामी होंगे वैदिक काल के पूर्व भाग में कृषि एवं ग्राम प्रधान संस्कृति के चित्रण मिलते है। तो उत्तर वैदिक काल मे नागर सभ्यता के चिन्ह दिखाई देने लगते है। महाभारतकाल मे नगर एवं ग्राम्य सभ्यता दोनो के दर्शन होते है। इसमे जहाँ एक और बड़े–बड़े साम्राज्य चक्रवर्ती राज्य, अधीनस्थ, राज्य और माण्डलीक शासन व्यवस्था प्रचलित है। वहीं दूसरी ओर ग्राम्य ऋषि कुल व्यवस्था भी दिखाई पड़ती है। जीविकोपार्जन का सम्बन्ध वैदिक काल मे वर्ण व्यवस्था से सम्बंधित था यद्यपि महाभारत मे जीविकोपार्जन सम्बन्धि धारणा प्रजापति पर निर्भर थी। जिसका तात्पर्य यह कि प्रजापति मनुष्य जन्म से पहले उसकी वृत्ति का निश्चय प्रजापति करते है। जन्म के पश्चात् मनुष्य को यह उत्तराधिकार रूप से प्राप्त होती है।

(1) असृजद्वत्तिमेवाग्रे प्रजानां हितकाम्यया/अनु 73/11

(2) पूर्व हि विहिंत कर्म देहिनं न विमुञचति/वन 207/19/वि० 50/4

वर्ण व्यवस्था के निमार्ण के बाद अपने–अपने वर्णानुसार जीविकोपार्जान की स्वीकृति ऋग्वेद ,मनुस्मृति कौटिल्य अर्थ शास्त्र इत्यादि ग्रन्थों में मिलती है। महाभारत में भी ब्रह्म द्वारा नियत वर्ण व्यवस्था अनुसार जीविकोपार्जन की बात कही गयी है। विराट पर्व में अश्वत्थामा उद्गार के प्रसंग में कहा गया है कि बह्य ने चार वर्णो के कर्म नियत कर दिये है। जिनसे धन भी मिल सकता है। ब्राहाणो को वेदा ध्ययन एवं यजन क्षत्रियों धनुष का आश्रय लेकर तथा वैश्य कृषि व्यापार आदि के द्वारा धनोपार्जन की बात कही गयी है।

चातुर्वर्ण्यस्य कर्माणि विहितानि स्वयम्भुवा।
धनं यैरधिगन्तव्यं यच्च कुर्वन् न दुष्यति।।
क्षत्रियो धनुराश्रिव्य यजेच्चैव न याजयेत्।
वैश्योडधिगम्य वित्तानि ब्रह्मकर्मणि कारयेत्।।

शूद्रः शुत्रूषणं कुर्यात् त्रिषु वर्णेषु नित्यशः।

वन्दनायोगविधिभिर्वैतसीं वृत्तिमास्थित।।[1]

वर्ण व्यवस्था के प्रसंग में इसकी चर्चा की गयी है पिष्ट पेषण से बचने के लिए यह कहा जा सकता है कि अपनी उन्नति एवं मनोकूल कामनाओ की खूब प्राप्ति के लिए यज्ञ करना तथा दूसरो से कराना ब्राह्मण वृत्ति का प्रमुख आधार था। पौरोहित कर्म के लिए ब्राह्मण ही नियत थे। महाभारत के अनुसार द्रुपद[2] प्रधुम्न एवं मरूत ने पथ परावसु[3] और परावंसु सम्वर्तन[4] च्वन[5] वसिष्ठ, शुक्र, द्यौम्य[6] आदि पुरोहितो से छोटे–बड़े यज्ञ सम्पादित कराये गये है। जनमेजय ने श्रुव्रस्य श्रुश्रवा के पुत्र सोमसश्रवा[7] को पुराहित बनाकर यज्ञ कराया था। ब्राह्मणों को दान से भी धन अर्जित होता था। यज्ञ के समय राजाओं भूमि पशु, स्वर्ण, अन्य वस्त्र या राजाश्रय प्राप्त गुरू आजीविका के लिए राजाओ पर निर्भर थे। क्षत्रिय वर्ण व्यक्ति सेनाओ समिलितत होकर आरक्षी व्यवस्था में समिलित होकर अपनी जीविका यापन करते थे। कौटिल्य ने यह विचार किया है कि जन रक्षण एवं रंजन के लिए राजा तथा क्षत्रिय वर्ण के इतर लोग अपने व्रत का पालन कर श्रेष्ठ दक्षिणा प्राप्त करते थे। इसी प्रकार कृषि व्यापार गोपालन वैश्यो के मुख्य वृत्तियाँ थी महाभारत के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज रूपी पुरूष की सुचारू व्यवस्था हेतु स्वधर्म पालन कर जीविकोपार्जन करना उसकी स्वास्था का लक्षण है इसी लिए पृथक–पृथक वर्ण एवं जातियो मे विभिन्न व्यवसाय की व्यवस्था की गयी है जिससे सामाजिक अव्यवस्था न हो, धर्मव्याध प्रसंग में व्याध ने कहा है कि यह मांस विक्रय का कार्य उसका कुल व्यापार है जो पिता पितामह से चला आ रहा है। और इसे वह धर्म मानकर ही वह सम्पादित करता हूँ।

कुलोचितमिदं कर्म पितृपैतामंह परम्।

वर्तमानस्य मे धर्मे स्वे मन्यु मा कृथा द्विज।।[8]

इसी प्रकार शान्ति पर्व के तुलाधार जाजरी संवाद से यह प्रकट किया गया है। कि वंश परम्परागत सामाज़िक कृत्यों को वृतिक्रम करना उसी युग में युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता था। एक मात्र

---

(1) विराट पर्व 50/4,5,6 (2) आदि पर्व 136/6 (3) उधोग पर्व 6/17 (4) आश्वमेधिक पर्व 10 अध्यय (5) वही 9/31 (6) आदि पर्व 74/19 (7) आदि पर्व 3/13 (8) कौटिल्य अर्थशास्त्र 1/18, वन पर्व 207/20

वर्णाश्रम धर्म उसके आधार अनुष्ठान को लक्ष्य में रखकर ही महाभारत में वृत्ति व्यवस्था दी गयी है। शास्त्र विहित वृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह में अस्मर्थ होने पर आप धर्म की चर्चा की गयी है। इसके अन्तर्गत होने कहा गया है कि बहुत ही संकटापन अवस्था के हो जाने पर परम्परित जीविका का परित्याग कर जीवन धारण करने के लिए जो वृत्ति अपनायी जाती है। वह आपद् धर्म फैलाती है। ब्रह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की वृत्ति की ग्रहण करता है। पोषय संख्या अधिक होने पर वह कुशीद (शूद्र या व्याज लेना) भिक्षा आदि का आवलम्बन ले सकता है। शन्ति पर्व में कहा गया है।

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वर्त्तुयेत्।

कृषिगोरक्षमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये।।[1]

इसी आपद्धर्म की चर्चा करते समय महाभारतकार ने लिखा है कि जो जीविका की इच्छा उपार्जन करते है। सम्पूर्ण दिशाओ में उसी विद्या के बल से साथ पाने की इच्छा करते है। मनोवाछित पदार्थो को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते है। वे सभी पापात्मा व धन द्रोही हैं।

आजिजहीविषवो विद्यां यश कामौ समन्ततः।

ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिन्थिनः।।[2]

आपत्ति काल में भी वैश्य वृत्ति का आश्रय लेने पर ब्राह्मण सुरालवण, तिल, पशु, मांस और अन्न का वितरण महा० के अनुसार नही करता था।

क्षत्रिय वृत्ति के लिए यह विशेष ध्यान रखा गयार है कि दूसरे किसी के जीविका के साधन पर आंच न आये। इसका लक्ष्य रखना उनका मुख्य कर्त्तव्य था। युद्ध क्षत्रियो की वृत्तिनहीं है। संकर या मिश्रित जातियों मे वृत्तियो की विभिन्न्त का उल्लेख है। सूत जातिय व्यक्ति सारथी का काम करते थे। अन्तःपुर में पहरा देना और उसकी सुरक्षा करना वैदेहक का काम था। राजदण्ड से बध्य व्यक्ति का सिर काटना चाण्डाल की वृत्ति थी कपड़े धोना रजक की जीविका थी। मद्द्य बनाना मैरेयक एवं मछली पकड़ना निषाद जाति की वृत्ति थी।[3] इसके जातिरिक्त धातुशिल्पकार यज्ञीय उपकरण बनाकर रजत ताम्र लौहे शिल्प दंत अस्थि चर्म शिल्प, रथ बनाने वाले वास्तु शिल्पकार की चर्चा महाभारत में में हुई है। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसी जातियाँ और तद्वत कर्म

(1) शा0 78/2 (2) शा0 142/12 (3) वन0 48 अध्याय एवं शा0 5 1 अ0

कर अपने जीवन का पोषण का समाज में सुव्यवस्था लाने का कार्य इन वृत्तियो के द्वारा होता था। इसी प्रकार महाभारत में देशी और विदेशी वस्त्र शिल्पों अति प्रशंसा की गई है। जिसमें पश्चिमी, रेशमी या पशुओं के वालों से निर्मित वस्तुओ का उल्लेख है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। कि महाभारतयुगीन समाज में चार्तुवर्ण्य के अतिरिक्त इतर जातियां में जीविका निर्वाह के अनेक साधन प्रचालित थे। महाभारत कार ने जिस समाज की परिकल्पना की है। चाहे वह नगर सभ्यता हो या ग्राम्य सभ्यता जीविका के प्रचुर अवसर उपलब्ध थे यहाँ तक की खेत काटने के पाश्चात् तक छूटे हुए अन्न की वालियों से जीवन निर्वाह करने वाली वृत्ति भी उससे ओझल नहीं हो पायी है। नागर सभ्यता मे वस्त्राभूषण, रथादि, सैन्य उपकरण बनाने वाले संकट जातियाँ अपने कार्य में बहुत निपुण थी। जीविका निर्वाह के साधन मूल रूप से परम्परित होते थे इसीलिए दक्षता और पटुता इनके प्रधान गुण थे।

राजा के आर्थिक स्रोत

प्रत्येक राजा को ऋक्थ रूप में पुष्कलराशि मिलती थी जिसका संग्रह राजाकोष के रूप में किया जाता था, यही राजा का आर्थिक मुख्य स्रोत था। अधीनस्थ, करद या मण्डलीक राजाओं के समय-समय पर उपहार स्वरूप जो द्रव्य रत्न मिलते थे। उन्हें राजा अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर राजकोष में जमा करता था। युद्ध के समय विजित प्रदेशों के राजाओं पर आर्थिक स्रोत थे। कभी-कभी विदेशी व्यापारी राजाओं के देश में व्यापार बढ़ाने हेतु बहुमूल्य रत्न उपहार स्वरूप देता था। राजकोष इन्हीं सब का सम्मिलित नाम है। जो राजा को प्राप्त होते थे।

राजकोष का प्रबन्ध

राज्य के अंग में कोष की महत्ता का गायन महाभारत में हुआ है। शासन सत्ता की इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु प्रजा को कर रूप में धन देती है। एक अन्य प्रसंग में बाहुबल्य, अमात्य बल, धनबल, अभिजात बल, प्रज्ञया बल की चर्चा कर धन बल की महत्ता स्थापित की गयी है। उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण शान्तिदूत बनकर कौरव सभा में जब जाने के लिए उद्यत होते हैं। उस समय युधिष्ठिर कहते हैं कि इस जीवन में धन की महत्ता सर्वाधिक है।

धनमाहुः परं धर्मे धने सर्वे प्रतिष्ठम्।
जीवन्ति धनिनो लोके मृता ये त्वधना नराः।।
ये धनाटकर्षन्ति नरं स्वबलमास्थिताः।
ते धर्म मर्थे कामं च प्रमश्चन्ति नरं च तम्।[1]

यद्यपि राजकोष का अधिकारी राजा होता था, किन्तु अपने आमोद-प्रमोद आदि परवह अपने एक निश्चित अंक से अधिक खर्च राजाकोष से नहीं करता था। महाभारत में कर को बल भी कहा गया है। जिसके मूल में रक्षा का भाव निहित है। राजा को अपने कोष के लिए सतत् प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि कोष के क्षीण होने पर राजा का बल क्षीण हो जाता है। भीष्म ने यही बात युधिष्ठिर से कही है।

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोशमूला हि राजानः कोशोवृद्धि करो भवेत्।।
कोष्ठागारं च ते, नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुखं वृतम्।
सदास्तु सत्यु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव।।[2]

इसी प्रकार आश्रमवासिक पर्व में न्याय कोष की वृद्धि करने का उपदेश धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर से किया है। अपनी कोष की वृद्धि के लिए राजा से प्रजा को कर लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में हम अन्यत्र विवेचन करेगें किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि देशकाल व पात्र की विवेचना पूर्ण करना अपना प्रजा का मंगल हो तथा पाल्य-पालक सम्बन्धों की क्षति न हो इस प्रकार अर्थ वृद्धि की चेष्टा करनी चाहिए। कृषक, शिल्पी, वाणिक या दूसरे किसी प्रकार की

(1) उद्योग पर्व 72/23-24 (2) शान्ति पर्व 119/16-17

जीविका वाले व्यक्ति से वार्षिक आय का छटवाँ हिस्सा राजा को मिलता था।

बलिषड्भागहारिणम्।[1]

सुरभा एवं जनक सम्वाद् में दसवें हिस्से की भी चर्चा है। इसके अतिरिक्त अश्व वस्त्र मणि–मणिक्य धान्य वस्तुएँ लेकर कोष की अभिवृद्धि की जाती थी।

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्या भरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम्।।[2]

जीविका के साधन के रूप में अनुचित, कलंकित तथा निषिद्ध साधनों का प्रयोग करते थे उन्हें दण्ड देने के अतिरिक्त उन साधनों से प्राप्त होने वाली सम्पूर्ण आय से ली जाती थी। व्यक्तियों को अपनी आय का यथेच्छ रूप से व्यय करने में स्वतन्त्रता थी; किन्तु वे इस प्रकार के कार्यों में व्यय नहीं कर सकते थे जिनसे राष्ट्र, समाज अथवा व्यक्ति विशेष की कोई हानि हो। राजा स्वयं राज्य के कोष से उतना ही धन ग्रहण कर सकता था जितना कि उसकी तथा उसके परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक था। शेष धन राज्य की उन्नति एवं प्रगति के लिए व्यय कर दिया जाता था।

निष्कर्ष यह है कि वैसे तो राजकोष का सम्भार राजा पर होता था लेकिन वो राजकोष अल्पमात्र धन व्यय करता था। राजा न्याय से कोष की वृद्धि करता था और जो व्यक्ति अधिक धन अर्जन करता था तो वह अपनी वार्षिक आय का छटवाँ हिस्सा राजा को प्राप्त होता था। क्योंकि राज्य संरक्षण के लिए राजकोष ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि कोष क्षीण होने पर राजा का बल क्षीण हो जाता है।

---

(1) आदि पर्व 213/19 (2) सभा पर्व 28/16–19

कर व्यवस्था

पूर्व पृष्ठों में राजा की समृद्धि का माप–दण्ड कोष कहा गया है। ये कोष प्रजा के प्रदत्त कर, पराजित राजाओं द्वारा धनाकर्षण मित्र, राजा द्वारा समय–समय पर उपहार स्वरूप दी गयी वस्तुओं से कोष समृद्ध होता था। यहाँ मूल आर्थिक स्रोत के रूप में राजा द्वारा लिए गये कर सम्बन्धी प्रावधानों की चर्चा की जा रही है।

महाभारत में कहा गया है कि राजा को हल्के और सराहनीय कर लगाना चाहिए। उसकी नीति कठोर और अधिकार लगाने की नहीं होनी चाहिए। वाणिकों द्वारा प्रदत्त षष्टांश या दशमांश कर के रूप में लेना चाहिए, साथ ही अपराधी से दण्ड स्वरूप प्राप्त धन को कोष में जमा कर देना चाहिए। शिल्पी कृषक इत्यादि से कर इस रूप में लेना चाहिए कि उनकी वृत्ति न होने पावे।

यथा यथा न सीदेंरस्तथा युर्यान्महीपतिः।
फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वप्रकल्येत।।[1]

आलंकारिक भाषा में कहा गया है कि जैसे भौंरा फूल से रस लेता है या मनुष्य गाय को बिना कष्ट देकर दूध का दोहन कर लेता है अथवा जोंक जैसे धीरे–धीरे रस चूसती है या चूहा सोये हुये मनुष्य के पैरों को कोमलता से काटता है, उसी प्रकार राजा कोमल उपायों से राष्ट्र से कर लेता है।

मधुदोहं दुहेद राष्ट्रं भ्रमरा इव पादयम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च नं विकुट्टयेत्,
जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव न राधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत्,
यथा शल्यकवानारवुः पद धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिवेत्।।[2]

युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा था राजा को कर व्यवस्था का संचालन चार प्रकार से करना चाहिए–

(1) आनुपूर्वि – एक के बाद धीरे–धीरे क्रम से।

---

(1) शान्ति पर्व 87/16, वही 97/16–17 (2) शान्ति पर्व 98/4–6

(2) सान्त्वना – समझा बुझाकर।

(3) काल के अनुसार।

(4) विधि के अनुसार।

न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यों निपातसेत्।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में माली और अंगारक का उदाहरण भी महाभारत में दिया गया है कि माली वन को उद्यान में परिणित कर उसकी शोभा से मुग्ध होता है। इसी प्रकार राजा भी प्रजा से अप्याल्य रूप में कर लेकर उत्तरोत्तर प्रजा की सुख समृद्धि में वृद्धि करता है। महाभारतकार की दृष्टि कर–संग्रह के मूल कारक या देने वालों में व्यापारी वर्ग को विशेष रूप से वर्णित किया है कि उन्हें सान्त्वना देकर सर्वप्रकारेण रक्षा कर उन से कर वसूलना चाहिए।

तस्माद् गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद् विचक्षणः।
दयावान प्रमत्तश्च कशन् सम्प्रणयन् मृदून्।।[2]

महाभारत में दरिद्र नगरवासियों से कर लेने की बात कही गयी है। धनी वैश्यों से बिना क्षति के कर संग्रह की चर्चा अनेक स्थान पर है। कर के लिए प्रजा का उत्पीड़न करना पाप कहा गया है। इस प्रकार अर्थ और धर्म दोनों शास्त्रों के समाञ्जस्य से कर संग्रह का उल्लेख महाभारत में है।

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति।।
अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वययात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्मीऽयन् प्रजाः।।[3]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अर्थ की दृष्टि से उत्तम, मध्यम् और निम्न श्रेणी का विभाजन कर राजा को चाहिए कि निम्न या दरिद्र लोगों को छोड़कर मध्यम् और उत्तम लोगों से धन का संग्रह इस प्रकार करें कि लाभ दोनों पक्षों को हो। कर व्यवस्था हेतु नारद ने पाँच व्यक्तियों की नियुक्ति का उपदेश किया है। कहा गया है कि जनपद में कर संग्रह के लिए पाँच

(1) शान्ति पर्व 98/12 (2) शान्ति पर्व 97/39 (3) वही 71/15, 16

वीर कृत्य प्रज्ञ्य व्यक्तियों को चुनना चाहिए। उनमें से एक कर संग्रह करे एक ग्राम का शासन करे, तीसरा कर संग्रह और प्रजा की बात सुने और पाँचवाँ इस सब का साक्षी रहे।

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्चस्वनुष्ठिता।

क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव।।[1]

विपत्ति काल में आपद् धर्म का विवेचन करते हुए। महाभारतकार ने धन संग्रह के लिए उचित और अनुचित उपाय का आश्रय लेने का परामर्श दिया है। क्योंकि राजा के लिए राज की रक्षा के समाजल दूसरा कोई धर्म नहीं है।

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप।

धर्मः संशष्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा।।

दानेनं कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः।

बुद्ध यादाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धन संचयान्।

कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्यम्।

तं च धर्मण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन।।[2]

इन नियमों के साथ महाभारत में ज्ञाति जन, अनाथ, विधवा, वृद्ध, विपन्न आदि से कर संग्रह का निषेध करा गया है जो ब्राह्मण स्वधर्मनिरत है। उससे भी कर संग्रह नहीं करना चाहिए।

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत।

वैवाहिकेन पाञ्चाला सख्येनान्धक वृष्णयः।

1. यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यञ्चाप्यपीड़या।

2. स्वयं विनाश्य पृथिवी यज्ञार्थ द्विजसत्तम।[3]

करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः।

3. एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीन कोशो महीपतिः।

ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च।।

4. क्षत्रियों वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति।

अन्यत्र पातसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत।।[4]

---

(1) सभा पर्व नीलकण्ड 5/80 (2) शान्ति पर्व 130/47, 48, 50 (3) सभा पर्व 52/49 (4) शान्ति पर्व 96/23, 24, अश्व0-3/14, शान्ति पर्व 76/9, शान्ति 130/29

महाभारत की इस कर व्यवस्था (संग्रह एवं व्यय) को देखकर डा0 स्पेलमैन ने कहा है कि सार्वजनिक कल्याण और वित्तीय सहायता की दृष्टि से हम प्राचीन भारत की मानवीयता से अत्यन्त प्रभावित है। इसके कुछ पहलुओं में प्राचीन भारतीय मानववीयता हमारी आज की सभ्यता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।[1] कोष की प्रबन्ध की दृष्टि से राजा को उपदेश किया गया है कि वो प्रतिदिन अपने गणक और लेखकों के द्वारा प्रस्तुत आय व्यय के लेखे का निरीक्षण करे ब्राह्मण तथा अन्य सुपात्र व्यक्तियों को दान देने, शासक के अधिकारियों के सम्मान और सहायता को धन देना।

आपत्तिकाल में कर न देने वालों के विरुद्ध दण्ड का विधान कर या कोष के शुभ चिन्तकों का सम्मान कर अथवा आपत्ति धर्म में प्रजा के हेतु सम्पन्न श्रेष्ठवानों से ऋण रूप में कर का संग्रह करना चाहिए। और उसका व्यय अत्यन्त सावधानी से धर्म की दृष्टि से प्रजा की आवश्यकता अनुसार करना चाहिए।

इस प्रकार पुरुषार्थ चतुष्ट्य में अर्थ की महत्ता महाभारतकालीन समाज में श्रेष्ठ है, अर्थ के श्रोतों में कृषि करने की व्यवस्था, कृषकों से राजस्व प्राप्ति, पशुपालन, गौ रक्षा, इन कर्मो से धर्म या मोक्ष की प्राप्ति जीवन यापन हेतु, वर्ण व्यवस्थानुसार व्यवस्था की संरचना व्यापार हेतु उल्लिखित वस्तुएँ विदेशियों से व्यापारिक सम्बन्ध, महाभारत में उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग की स्थिति नगर निर्माण यज्ञायतन अतिथिशाल, वस्त्राभूषण निर्माण की शिल्पकला तथा उनसे होने वाले राजकोष की वृद्धि राजा के आर्थिक स्रोत, काल विधि के अनुसार राजस्व ग्रहण प्रजा को वित्तीय सहायता और जीवन-यापन में सहायक वृत्तियों का उल्लेख कर यह देखा गया है कि महाभारत कालीन समाज सम्पन्न और विपन्न दोनों रूपों में दिखाई देता है। स्वधर्मानुसार जीविकोपार्जन के साधन अपना क0र न्याय बुद्धि से उसका निर्वाह करते हुये मोक्ष प्राप्ति करने की पकरकल्पना महाभारत में हुई है। अर्थ के क्षेत्र में कदाचार का अभाव महाभारत में मिलता है।

अपवाद स्वरूप, सिद्धान्त निरूपण और दण्ड प्रतिक्रिया के लिए करापवचन का उल्लेख है। उच्च्व वर्ग अपने धन का व्यय जीवन-यापन, मनोरंजन, शिल्प निर्माण या अधीनस्य प्रजावर्ग के लिए करता था। निम्न वर्ग धन की महत्ता और आवश्यकता समझ कर भी स्वधर्मरत होकर अर्थ की प्राप्ति हेतु सदुद्योग करता था। इस तरह से वर्ण व्यवस्थानुसार ही अर्थोपार्जन मुख्य रूप से महाभारत में चित्रित है।

---

(1) महाभारत कालीन राजव्यवस्था डा0 रघुवीर पृ0-342 पर उदधृत

महाभारतकालीन राजनीतिक संरचना

क– महाभारत वर्णित राजतंत्र की स्थिति–स्वरूप

ख– महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था

ग– महाभारतकालीन प्रशासनिक व्यवस्था का मंत्री वर्ग

घ– तद्‌युगीन युद्धों में प्रयुक्त शस्त्रार्थ

ङ– महाभारत में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रभाव

च– विदेश नीति

छ– महाभारत में दुर्ग व्यवस्था

ज– महाभारतकालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति एवं राजदूत व्यवस्था

झ– महाभारतकालीन गुप्तचर व्यवस्था

अ– युद्ध के नैतिक नियम

ट– साम्राज्य में युद्ध एवं सन्धि की स्थिति

ठ– मित्र राष्ट्रो का महत्त्व

अध्याय-चतुर्थ

महाभारतकालीन राजनीतिक संरचना

महाभारतकालीन में वर्णित राजतंत्र की स्थिति-स्वरूप :-

भारतवर्ष की सांस्कृतिक परम्परा अति प्राचीन है। प्रारम्भ में ही वैदिक ऋषियों ने जिस समाज की संरचना परिकल्पना और संगठन किया है उसका आधार जड़ भौतिकवाद न होकर चेतन रहा। उनकी उपपत्ति यह थी कि सत्य की उपलब्धि मानव का चल धर्म है। जीवन के विविध क्षेत्रों में इस सत्योपलब्धि हेतु अनेक व्यवस्थायें और नियम बनाये गये हैं यद्यपि वैदिक ऋचाओं में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं कि प्रारम्भिक समाज में अराजक व्यवस्था थी। किन्तु परिवर्तित साहित्य में सांस्कृतिक मूल्यों की खोज में यह बात निर्विवाद रूप से स्थापित हुई, कि सुदृढ़ समाज संचालन हेतु किसी न किसी प्रकार की शासन व्यवस्था आंवश्यक होती है। जैसा कि डॉ0 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है कि मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों के समूहीकरण के आधार पर समाज व्यवस्था की प्रतिष्ठा होती है। और उसका संचालन परम्परा प्राप्त धर्मो नियमों एवं व्यवहारों के अनुसार होता है। समाज की सामूहिक भावनाओं की केन्द्रीय अभिव्यक्त के रूप में या मानव की शक्तियों और प्रवृत्तियों के संगठन और केन्द्रीय करण के लिए शासन-संस्थाओं की आवश्यकता होती है।[1]

विश्व के सभी समाजों में सहकार्य की भावना आदिम रूप में मिलती है। बात यह है कि प्रत्येक मनुष्य हर कार्य करने में समर्थ नहीं होता अतः सांस्कृतिक तत्वों के चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में शासन तंत्र का प्रादुर्भाव हुआ जैसा कि महाभारत में लिखा है-

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।[2]

सारांश यह है कि सभी युगों और सभी समाजों में मानव जीवन के सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक कार्य क्षेत्रों में हमें संस्थाओं संगठनों या विधि निषेधों के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। जिनके माध्यम से कार्य व्यवहारों आचरण या समस्याओं के समाधान होते रहे हैं।

---

(1) राजनीति और दर्शन-पृ.129-30 (2) शान्ति पर्व 59/14

भारतीय परम्परा दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त मानती है। इसमें राजन्य की उत्पत्ति विराट ब्रह्म के बाहुओं से कहा गया है। बाद में इसे क्षत्रिय वर्ण के रूप में अभिहित किया गया। मात्य न्याय के विरुद्ध महाभारतकाल की मान्यता यह रही है कि बृहस्पति विशालाक्ष, काव्य (शुक्राचार्य) महेन्द्र, भरद्वाज राजधर्म के प्रवर्त्तक बने हैं–

विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः।।
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः।
राजशास्त्र प्रणेतारों ब्रह्माण्या ब्रह्मवादिनः।।[1]

राजा की महत्ता निरुपित करते हुए डा0 सुखमय भट्टाचार्य ने कहा है कि प्रजा के धर्माचरण, मनुष्य समाज में शान्ति, कृषि, वाणिज्य, विद्यास्नातक वृत्ति, तपस्वी, वर्ण व्यवस्था राजा के कारण ही सुचारु रूप से चल फिर सकती है।[2] महाभारत में ये कहा गया है कि सत्युग में धर्म ही मनुष्य नियामक था बाद में अव्यवस्था होने पर राजा के रूप में वेनु को अभिषिक्त किया गया। दूसरी परम्परा के अनुसार मनु आदि राजा थे। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शासन व्यवस्था का मुख्य सूत्र धार राजा ही कहा गया है। रजयते इति राजा या 'राजा रंजयते प्रजाः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर राजा के उद्देश्य को निरूपित करते हुए कहा गया है कि राजा प्रजा के अर्थ, धर्म आदि की रक्षा करता है। ऐसे राजा की उपमा हजार नेत्र वाले इन्द्र से की गयी है। शान्ति पर्व के इक्यानवें अध्याय में कहा गया है कि राजा ही इन्द्र है–

सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मे स धर्मः पुरुषर्षभः।।[3]

राजधर्म के नष्ट होते ही समस्त संस्कृति नष्ट हो जायेगी यह बात स्पष्ट रूप से महाभारत में उल्लिखित है।

सर्वेधर्मा राजधर्म प्रधानाः, सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्याग, धर्म चाहुरग्रयं पुराणम्।।
मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां, सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्वि बुद्धाः।
सर्वे धर्माश्च श्रमाणां हतास्युः, क्षात्रे व्यक्ते राजधर्मो पुराणो।।[4]

तात्पर्य यह है कि राजा सांस्कृतिक तत्वों की सुव्यवस्था करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। उससे ही त्रिवर्ग की सिद्धि होती है।

---

(1) शान्ति पर्व 58/2-3 (2) महाभारतकालीन समाज-पृ.-363 (3) शान्ति पर्व 91/45 (4) शान्ति पर्व 63/27-28

महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था

यहाँ हम महाभारत में प्राप्त राजनीतिक स्थलों की समीक्षा करने के साथ यह भी स्पष्ट करना चाहेगें कि महाभारत में राज्य के प्रकार उसके अंग राजा के प्रमुख कर्त्तव्य, उसके दायित्व, उसके विशिष्ट गुण, और उसके रक्षणकार्य सम्बन्धी क्या कर्त्तव्य है। महाभारत में वर्णित तीन प्रकार की राजनीकि परिस्थितियाँ प्राप्त होती है।

(1) राजतंत्र (2) गणराज्य (3) अराजक जनपद

राजतंत्र में राजा और उसके द्वारा नियुक्त मंत्रि परिषद शासन व्यवस्था करती थी। गणराज्यों में गणों को कुल इकाई मानकर सभा का निर्माण किया जाता था और गण मुख्य ही राजा कहलाते थे। कर्ण पर्व में मालव, मद्रक, द्रविड़, यौधेय, क्षुद्रक गणराज्यों की चर्चा है।[1] शान्ति पर्व के अध्याय 107 में गणतंत्र राज्य का वर्णन और उसकी नीतियों के वर्णन और उसकी नीतियों के वर्णन का उल्लेख है। जिसमें संघबद्ध होकर राजनीति करने वाले राजाओं की नीतियाँ, उनमें पड़ने वाले भेदों का वर्णन है। इस सन्दर्भ में एक–दो उदाहरण द्रष्टव्य है–

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत।
अरीश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च
गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः।
प्रथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा।।
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्थ भवन्ति च।
अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद् वापि स्वभावजात्
अन्योन्य नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्।।[2]

महाभारत में वर्णित राजतंत्र और उसकी प्रशासनिक व्यवस्था गणतंत्र के संक्षिप्त नीति, नियामक तत्वों अधिकार, कर्त्तव्य उल्लेख के साथ यहाँ पर यह कहना अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है कि महाभारत में राजतंत्र और उसके अधीन प्रशासनिक व्यवस्था का विस्तृत वर्णन है। राज सिंहासन पर वंश परम्परागत अधिकार प्राचीन परम्परा न होते हुए भी यह पद वंशगत

---

(1) द्रोण पर्व 4/47 (2) महाभारत शान्ति पर्व 107/7, 25, 29

अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। इतना अवश्य है कि राजा होने के लिए अनेक गुणों की चर्चा महाभारत में की गयी है जिसका निष्कर्ष यह है कि राजा में ही ईश्वर का अंश होता है। पहले कहा जा चुका है कि राजधर्म प्रत्येक धर्मो से श्रेष्ठ है अतः राजा को आदर्श राज्य स्थापना हेतु अपने चरित्र गठन में अत्यन्त सावधान होना चाहिए। भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म प्रकरण में शताधिक उपदेश किये हैं। जिनका सार अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। शान्ति पर्व के 56, 57, 58 अध्यायों में राजा के गुणों की विस्तृत चर्चा है। जो इस प्रकार है, सत्यनिष्ठा, समव्य, व्यसन परित्याग, धीरता, व्यवहार में मर्यादा का पालन, प्रजाहित की महत्ता चार्तुवर्ण संस्थापन, प्रजारंजन, समयानुसार एवं समयानुकूल साम, दाम, दण्ड भेद को अपनाना, प्रियवादित, जितेन्द्रिय, शस्त्र एवं शास्त्र, नैपुण्य दानशीलता, कार्यज्ञाता, एकाग्रचित, पूजार्ह की पूजा, दुष्ट दमन, शिष्ट पालन, यथेच्छ भोग्य से अतिरिक्त वस्तुओं का त्याग, धर्मनिष्ठा, अप्रमाद उद्योग शुचिता, आलस्य त्याग, सन्धि–विग्रह का ज्ञान, असंयम का परित्याग शुश्रषा न्यायानुवर्ति, अल्पशरण, समुचित दण्डदाता, स्वयं कार्य दर्शन, प्रजा वात्सत्य, शत्रुमित्र पर ध्यान, कर्मचारियों की नियुक्ति, लोक एवं पारिवारिक जनों की शिक्षा, विद्वानों का संग्रह भद्‌यज मद्य द्यूत आदि निषेधों का परित्याग, अग्निहोत्र, दान एवं सद्‌व्यवहार, अतिनिद्रा आलस्य, भय क्रोध का परित्याग राज्य कोश वर्धन के लिए प्रयत्नशीलता, आत्ममर्यादा की रक्षा, कूटनीतिज्ञ कृतज्ञत्ता से सम्बन्धी निषेध आदि।

(क) दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरुद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते।।
गुण वाञ्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूल लक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः।।
न संत्याज्यं च ते धैर्य कदाचिदपि पाण्डच।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विघते कचित्।।[1]

(ख) नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठर।
प्रशस्यते न राजा हि नरीवोद्यमवर्जितः।।
कोशस्योपार्जन रतिर्यम वैश्रवणोपमः।
वेत्ता च दश वर्गस्य स्थान वृद्धि क्षयात्मनः।।

---

(1) शान्ति पर्व 56/13, 19, 47

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।

सतां वृत्ते स्थितमत्तिः संतोष्यश्चारुदर्शनः।।

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।

न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते।।

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।

सुदर्शः सर्व वर्णानां नयापनयवित् तथा।।

क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।

अरोष प्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः।।

आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।

मस्यराज्ञः प्रदृश्यन्तिः स राजा राज सत्तमः।।

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः।

न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति।।[1]

राज्य के अंग :- पहले कहा जा चुका है कि समाज में सुव्यवस्था हेतु राजा की आवश्यकता होती है। किन्तु अकेले राजा शासन तंत्र को सुचारु रूप से संचालित नहीं कर सकता अतः राजनीति-चिन्तकों ने राज्य के अनेक अंगों की परिकल्पना की है। मनु परम्पा में राज्य के सात अंग कहे गये हैं। महाभारतकार ने राजा मंत्री, कोश, दण्ड, मित्र, राष्ट्र, नगर (देश) का उल्लेख किया गया है। कौटिल्य ने भी सात अंगों का विवरण दिया है[2]–

राज्ञाः सप्तैव रक्ष्याणि तानिचैव निबोध मे।

आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।।

तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।

एतत् सप्तात्मक राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः।।[3]

कहने की आवश्यकता नहीं जिस प्रकार शरीर के भिन्न अंग मिलकर शरीर सुगठित, स्वच्छ कार्यगत और क्रियाशील बनाते हैं। और वे सभी अंग परस्पर आश्रित रहते हैं। इसी प्रकार महाभारतोक्त राज्य के सप्तांगों के एकात्मक सूत्र बध्यता को अनिवार्यता कहा गया है।

(1) शान्ति पर्व 57/1, 18, 20, 28, 30, 31, 32, 39 (2) अर्थशास्त्र 6/1 (3) शान्ति पर्व 69/64, 65

राजा के विषय में पूर्व में कहा जा चुका है कि वह राज्य का महत्वपूर्ण अंग है। उसकी नियुक्ति चाहे वंश परम्परा में हो चाहे चुनाव के द्वारा हो यद्यपि महाभारत में राज्य को पितृ, पैतामह, वंश भोज्य आदि माना गया है। वहीं राज्य के इन अंगों के माध्यम् से प्रजारंजन और रक्षण कार्य करता है। सैनिक सार्वजनिक, प्रशासनिक, वैधानिक तथा आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में नितान्त सतर्क होकर समस्याओं के समाधान करने में राजा ही सक्षम होता है। उसके धार्मिक आचरण सम्बन्धी उसमें स्थित गुणों का उल्लेख पूर्व पृष्ठों में किया जा चुका है। अतः यहाँ उन गुणों का पिष्टपेषण होगा।

महाभारतकालीन प्रशासनिक व्यवस्था का मंत्री वर्ग :- राजा निरंकुश न हो जाये इसलिए प्रशासन सहयोग के लिए मंत्री परिषद और उसके अन्तर्गत आने वाले आमात्य इत्यादि की नियुक्ति की जाती थी। महाभारत में इन मंत्रियों की नियुक्ति सम्बन्धी अनेक विधानों का विवरण है। प्रायः ब्राह्मण को ही मंत्रिपद पर नियुक्त किया जाता था।

ब्रह्म क्षत्रेण संसृष्टं क्षत्रं च ब्रह्माणा सह,
ना ब्राह्मणं भूमिरियं सभूति वर्ण।
द्वितीयं भजते चिराय।।[1]

अतः राजा को सर्तक होकर कुलीन, शिक्षित प्राज्ञ, ज्ञान–विज्ञान में परांगत सर्वशास्त्रज्ञ, सहुशू, क्षान्त, दान्त, जितेन्द्रि, लब्ध संतुष्ट, तत्वानुदेशी, व्यूहतत्वज्ञ, सन्धि विग्रह, पण्डित से प्रियदर्शी इत्यादि गुणों से सम्पन्न मंत्री की नियुक्ति करनी चाहिए।

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञान पारगम्।
सर्वशास्त्रार्थतत्वज्ञं सहिष्णुं देशनं तथा।।
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम्।।
सचिवं देशकालज्ञं सत्वसंग्रहणे रतम्।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम्।।
युक्तचारं स्वविषये संधिविग्रह को विदम्।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौराजानपदप्रियम्।।

---

(1) वन पर्व 26/10, 14

खात कव्यूहतत्वज्ञं बलहर्षण को विदम्।

इंगिताकारतत्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम्।।

हस्तिशिक्षास तत्वज्ञमहंकार विवर्जितम्।

प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिन युक्त कारिणम्।।

चौक्षं चौक्षजनाकीर्ण सुमुखं सुखदर्शनम्।

नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टा समन्वितम्।।

अस्तब्धं प्रश्चितं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च।

धीरं शूरं महर्द्धि च देश कालोपपादकम्।।[1]

अनेक गुण सम्पन्न आमात्य की प्रशंसा में कहा गया है कि वह राजा की समृद्धि का कारण बनता है। और यदि दुष्ट मन्त्री हो जाये तो राज्य परिवार का विनाश हो जाता है।[2] महाभारत में तीन, पाँच या आठ मन्त्रियों की नियुक्ति का उल्लेख है।

पञ्चोपद्याव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थ कारिणः।

मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः।।[3]

सभासद :- मन्त्रियों के अतिरिक्त राजा को शासन व्यवस्था हेतु सभासदों की भी नियुक्ति करना चाहिए। इस सभा में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र, एक सूत की नियुक्ति आमात्य रूप में करना चाहिए।

चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकांशुचीन्

क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शास्त्रपाठिनः।

वैश्यान् वित्तेन सम्पन्न नेक विंशति संख्यया

त्रीश्ंच शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्व के।

अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।

पंचाशद्ववर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम्।।

श्रुतिस्मृति समायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।

कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम्।।

---

(1) शान्ति पर्व 118/7-14 (2) शान्ति पर्व 92/9 (3) शान्ति 83/22, 47

वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम्।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत्।।[1]

उक्तोदाहरण से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि चार ब्राह्मण, तीन शूद्र तथा एक सूत इन आठ को ही मन्त्रि पद देने का विधान है। एक-एक आमात्य को एक ही विभाग देना चाहिए, तथा एक विभाग में एक से अधिक व्यक्तियों की नियुक्ति को अनुचित कहा गया है। और इस प्रकार इन मन्त्रियों की मंत्रणा को करणीयमान कर राजा अपने शासन को सुव्यवस्थित करता है। राजा को एक से अधिक मन्त्रियों की सलाह एक साथ लेना चाहिए। इन मन्त्रियों के गुणों का उल्लेख मनु स्मृति में भी मिलता है।[2]

भूमि या राज्य :- बिना भूमि राज्य के राजा का कोई अस्तित्व नहीं होता है। महाभारत के युग तक भारतवर्ष में भूमि के प्रति उदात्य, भव्य, भावपन्य, कल्पनायें मिलती हैं। यद्यपि वैदिक मंत्रों में यह कहा गया है कि माता मेरी भूमि है। मैं उसका पुत्र हूँ। महाभारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का सम्पूर्ण ताना-बाना इसी मातृभूमि की निष्ठा से ओत-प्रोत है। इसका राजनीतिक सांस्कृतिक या आध्यात्मिक महत्व आज भी अक्षूण है। राजा भूपति या भूपाल कहलाता था। यहाँ के तीर्थ, नदियाँ, मन्दिरों की यात्रायें दर्शन पुण्य कहे गये हैं। राजनीतिक दृष्टि से भूमि की विजय यात्रा अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी गयी हैं। राजतंत्रात्मक सत्ता के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के राज्यों की परिकल्पना की गयी है। यत्र-तत्र द्वैराज्य[3] अधिराज्य[4] महाराज्य[5] सामराज्य[6] राजराज्य[7] और सार्वभौम राज्य[8] का उल्लेख मिलता है। इनके नाम राजा की शक्ति विशेष कर्म विशेष अथवा यज्ञ विशेष के अनुसार होते थे।[9] महाभारत में अपने राज्य की रक्षा हेतु जनपदों से दूर सीमाओं से बाहर आक्रान्ताओं के समूलोच्छेद हेतु अनेक दिग्विजय यात्राओं का वर्णन मिलता है।

---

(1) शान्ति पर्व 84/7-11 (2) मनुस्मृति 9/54 (3) सभा पर्व 28/10 (4) उद्योग पर्व 88/31 (5) आदि पर्व 57/28 (6) सभा पर्व 12/11 (7) आदि पर्व 84/6 (8) आदि पर्व 7947 (9) हिन्दू राज्य शास्त्र-अम्बिका प्रसाद बाजपेई (उदधृत) 172-173

तद्युगीन युद्धों में प्रयुक्त शस्त्रार्थ :- महाभारतकालीन युद्धों में अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग हुआ है। जिनका अध्ययन विश्लेषण वर्गीकरण राजनीतिक शास्त्र का विषय है। किन्तु इन शास्त्रार्थो के निर्माण से युगीन सभ्यता एवं संस्कृति के उत्थान की झलक दिखाई देती है। अतः अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इनका विवरण उल्लिखित किया जा रहा है। महाभारत के विराट, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य पर्वो में युद्धों का वर्णन है। इसी परिप्रेक्ष्य में अनेक अस्त्र-शस्त्रों के नाम उल्लिखित हैं। अंकुश अष्म गुणक अशि ऋष्टि कड़प कुलिश कर्णी क्षोर, गदा, चक्र, तुला, गुङ् , तोमर, धनुष, नाराच, परिध, परशु पाश, भल्य, भिंदपाल, भुशन्डी, मुद्गर, यष्टि, रथ, चक्र, शतघ्नी शूल, तथा दिव्यास्त्रों में ब्रह्मास्य, आग्नेयास्त्र सम्मोहनास्त्र, ब्रह्मास्त्र इत्यादि अस्त्र शस्त्रों का उल्लेख है। इनके निर्माण हेतु सामग्री एवं प्रक्रिया संस्कृति को निरूपित करती है।

व्यूह रचना एवं भेदन :- युद्ध चातुर्य के लिए ब्यूहों का विशेष महत्व आदि काल से ही रहा है। इसमें अनुशासित सैनिक किसी न किसी पशु पक्षी या आकार रूप में खड़े होकर विपक्षी से युद्ध करते हैं। बृहस्पति, भीष्म, द्रोण, ब्यूह विद्या में अत्यन्त प्रवीण माने गये हैं। महाभारत में भीष्म, उद्योग, द्रोण पर्वो में इन ब्यूहों का और उसके भेदन कला का वर्णन है। कुछ ब्यूहों के नाम इस प्रकार हैं। अर्धचन्द्र, कौञ्चा रूण, सुपर्ण, चक्रब्यूह, बज्र मकर, शकट, ऋंगाटक श्येन, शर्वतो भद्र, सूची मुख, यमक इत्यादि यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि महाभारत में वैयक्तिक शूर वीरता का अधिक महत्व दिया गया है। इस कारण मल्ल युद्ध अस्त्र-शस्त्रों के बिना नियुद्ध बाहुकण्टक आदि युद्धों का उल्लेख शान्ति और विराट पर्व में बहुत हुआ है।

महाभारत में न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रभाव

महाभारत कालीन संस्कृति में राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत विधि और न्याय सम्बन्धी अनेक विधानों की चर्चा है। वर्तमान युग में जिसे विधि या न्याय कहा जाता है। प्राचीन भारतीय वांगमय में उसे धर्म कहा गया है। महाभारत में प्रतिबिम्बित विधि तथा न्याय व्यवस्था से विचारों का क्रमिक अध्ययन अभी नहीं हो पाया जैसे कि हॉफक्सि ने कहा है कि महाभारत में राजा के सैनिक कार्यो का ही चित्रण है। उसके सार्वजनिक प्रशासनिक कार्यो का नहीं और इसलिए न्यायालयों तथा अन्य कानून बनाने से सम्बन्धित मामलों से राजा कितना सक्रीय था। इस विषय में थोड़ी बातों के निर्धारण की स्थिति में हम हैं।[1] सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिए। सामाजिक संस्थाओं अपने-अपने क्षेत्रों में कर्त्तव्य पालन को आवश्यक बनाने हेतु विधि विधानों का निर्णय या निर्माण करते थे। इन्हें हम नीति शास्त्र कहते हैं। महाभारत के शान्ति नपर्व में जगतहित के निमित्त भार्गव नीति शास्त्र का उल्लेख हुआ है।[2] नैतिक आहार व्यवहार के लिए वृद्ध सदाचार सर्वोत्तम उपाय माना गया है। श्रेष्य काम, व्यक्ति को वृद्ध सम्पर्क में रहना चाहिए। महाभारत के सभी पर्वो में साधारण नीति सम्बन्धी अनेक सम्वाद् या उपाख्यान वर्णित हैं। जिसमें नैतिक उपदेशों का बाहुल्य है। भारतीय व्यवस्था में परम्पर्या राजा को ईश्वर का अंश कहा गया है। अतः प्रजापत्य की रचना को संयमित करने के लिए मनुस्मृति तथा राजकीय विधानों का निर्माण हुआ है। यद्यपि शान्ति पर्व (59/14) में कहा गया है कि एक समय न तो राज्य था, न ही राजा और न ही दण्ड कानून था। और न ही अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था करने वाला दाण्डिक था। सभी प्रजा धर्मानुसार परस्पर रक्षा करते थे। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में मात्स्य न्याय लागू होने लगा और प्रजा के शासन विधि और न्याय व्यवस्था स्थापित करने हेतु राजा को राजपद की व्यवस्था की गयी। इस राजधर्म की व्यवस्था के सम्बन्ध में हम राजा के धर्म सम्बन्धी नियमों की चर्चा पूर्व पृष्ठों में कर आये हैं यहाँ राजा के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक धर्मो की चर्चा न कर कुछ दण्ड नीति सम्बन्धी विधि निषेधों की चर्चा अपेक्षित है।

दण्डनीति बल प्रकृति के अन्तर्गत है। प्रजा ही राज्य का मूल्य है। और यही प्रजा देश, काल, परिस्थिति के अनुसार व्यक्तिगत या कुछ समूहबद्ध होकर अपराध करती है। जिससे

(1) महाभारतकालीन राजव्यवस्था-पृ.344 पर उधृत (2) शान्ति पर्व 210/20

राष्ट्र संकट में पड़ जाता है। इसलिए राजा को दण्डनीति में निपुण और उसके उपयोग की व्यवस्थां महाभारत में की गयी है-

दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः।[1]

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः।

दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीन् लोकानभिवर्त्तते।।[2]

महाभारतकार की उपत्ति यह है कि आरम्भ के लोग धर्म परायण होते थे। किन्तु बाद में काम, क्रोध आदि के कारण दोष प्रबल हो गये। विकृति बुद्धि के कारण अनैतिक कृत्यों का बाहुल्य, विकृति मानसिकता के कारण मानव अनैतिक कृत्यों का बाहुल्य बन गया। इसलिए धर्म और अर्थ की रक्षा के लिए दण्ड का विधान हुआ शान्ति पर्व में कहा गया है कि चारों वर्गो की प्रसंन्ता और समृद्धि इसका लक्ष्य, श्रेष्यकर नीति पर समाज को चलाने के लिए स्वयं विधाता ने दण्ड का प्रणयन किया है-

सर्वोदण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।

दण्डस्य हि भयाद् भीतों भोगायैव प्रवर्तते।।

चातुर्वर्ण्य प्रमोदाय सुनीति नयनाय च।

दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थो भुविरक्षितुम।।[3]

इस प्रकार महाभारत में दण्ड का अधिष्ठाता एक देव कहा गया है। जिसकी निरोत्पल सदृश्य देहकान्ति, चतुभुज, अष्टपाद, बहुनेत्र, अर्ध्वान है। दण्ड के न रहने पर वर्ण संकर्ता फैलती है। भक्ष्याभक्ष्य पेयापेय राम्यागम का विवेक नहीं रह जाता हिंसा और उत्सृंख्लता फैल जाती है।

तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत्।

नैव कार्ये न वा कार्ये भोज्या भोज्यं न विद्यते।।[4]

पेयामेये कुतः सिद्धिर्हिसन्ति च परस्परम्।

गम्यागम्यं तदानासीत् स्वं परस्वं च वै समम्।।

परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम्।

अबलान् बलिनो ध्नन्ति निर्मर्यादमर्वत।।[5]

---

(1) शान्ति पर्व 49/33 (2) शान्ति पर्व 15/34, 35 (3) शान्ति पर्व 15/34, 35 (4) शान्ति पर्व 122/19 (5) शान्ति पर्व 122/20, 21

इसी परिप्रेक्ष्य में दण्ड उत्पत्ति और उसकी परम्परा पर प्रकाश शान्ति पर्व के (122 अ0) में किया गया है। जिसमें कहा गया है कि दण्ड भगवान नारयण का स्वरूप है। सरस्वती महादेव, विष्णु, अंगिरा, इन्द्र, मरीचि, भृगु, ऋषिगण, लोकपाल, राजाक्षुप तथा अन्त में मनु ये प्राप्त हुआ।[1]

महाभारत के उक्त प्रकरण से यह सहज ही समझा जा सकता है दण्ड साधु पुरुषों के लिए सहायक कल्याणकारी और असाधु के लिए अतिभयंकर तथा रौद्र है। यह दण्ड चातुर्यवर्ण धर्म तथा मांगलिक कार्यों में प्रणीत होता है। अतः राजा को दण्डनीति का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। इस दण्ड नीति के साम्यिक या धार्मिक प्रयोग से राजा व प्रजा की समृद्धि होती है। यह सब प्रकार के कल्याण का मूल है।

दण्ड देने के पूर्व प्रतिवादी की यथोचित बातें सुनकर राजा संनत्सुजात, सुपण्डित, जीतेन्द्रिय, न्याय परायण सवार्थ दर्शिय व्यक्ति से परामर्श कर निर्णय करता था। न्यायासन पर पक्षपरक बैठने वाले व्यक्ति को पक्षपात रहित होना चाहिए। मनु, याज्ञबल्य, नारद इत्यादि ऋषि मुनियों द्वारा प्रदर्शित निर्मित मार्ग का अवलम्बन लेकर दण्ड विधान का उपयोग करना चाहिए। इन सब बातों से यह पता लगता है कि राजा सुपण्डितों सभासदों के साथ न्यायासन पर बैठता था। इसे धर्मासन भी कहा जाता रहा है। और उसके द्वारा निर्णीत न्याय सर्वथा धार्मिक होते थे। यदि किसी अपराध में साक्ष आदि का अभाव होता था। तो प्रतिवादी को अग्निप्रवेश विश्व भक्ष्ण, तुला, दण्ड पर आरोहण आदि दिव्य परीक्षायें भी देनी पड़ती थी। दण्ड धान्य के रूप में कठोर वचन, धन ग्रहण, कारागार, अंग–भंग, प्रहार, हनन आदि का प्रयोग होता था। धनी व्यक्तियों को अर्थ दण्ड तथा विपन्न व्यक्तियों को कारादण्ड या बेहतर अपराध होने पर प्राणदण्ड दिया जाता था।

दुर्वाचा निग्रहो दण्डों हिरण्य बहुल स्तथा।
व्यंगता च शरीस्य वधोवानल्य कारणात्।।[2]
अपराधानुरूपञ्च दण्डं पापेषु धारयेतु।
नियोजये द्धनैर्ऋद्धान धनानथ बन्धनैः।।[3]

महाभारतकार ने विशुद्ध न्याय को राजनीति का आधार मान कर यह कहा है कि यह

(1) शान्ति पर्व अ0-122 (2) शान्ति पर्व 166/70-71 (3) शान्ति पर्व 85/20-21

दण्ड विधान दुष्टों के दमन के लिए है। क्योंकि सूर्य पुत्र मनु ने अपने आनुपूर्वि देवताओं से प्राप्तकर परवर्ती वंशजों को यह शक्ति दी है। अतः राजा को सार्वभौम सत्तामान कर दी। अन्याय को दण्ड देने से सचेष्ट करा गया है। दण्ड देने के सम्बन्ध में महाभारतकार का निर्देश है। कि पुत्र या अपराधी गुरू भी दण्डनीय है। ब्रह्म, बध्न, गुरू पत्नी गामी, राज किल्मसी ब्राह्मण को निंवासन का दण्ड दिया जाता था। शारीरिक दण्ड उसके लिए वर्जित था।

पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्मउच्यते।
असमञ्जाः पुरादद्य सुतो में विप्रवास्यताम्।।
गुरोरप्यवलिप्तस्य क्यर्याकार्य जानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः।।[1]

महाभारत के शान्ति पर्व से भी ज्ञात होता है कि दण्ड के द्वारा राज्य-कोष की वृद्धि होती थी। भीष्म के अनुसार दण्ड के चार प्रकार थे-

(1) वाद-विवाद (2) हिरण्य-दण्ड या अर्थ दण्ड (3) शारीरिक दण्ड (4) प्राण दण्ड

(1) वन पर्व 107/43, शान्ति पर्व 57/8 (शान्ति 57/7, शान्ति 140/48, उद्योग पर्व 179/25)

विदेश नीति

आर्य सभ्यता ग्राम्य प्रधान रही है। अतः ग्राम समूहबद्ध होकर जब शत्रु के ग्राम पर आक्रमण करता था उसे ही संग्राम कहा जाता रहा है और इस प्रकार विजेता राजा विजित प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लेता था किन्तु अपने अनुसार विजित प्रदेशों का शासन या शत्रुओं से सन्धि विग्रह आदि की व्यवस्था राजा की विदेश नीति कहलाती रही है। इसे ही राजनय सिद्धान्त कहा गया है। ऋग्वैदिक भारत में राजा अपने महत्व प्रदर्शन हेतु राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञों को सम्पादित करते हुए अपने मित्र तटस्थ या शत्रुओं से युद्ध कर अपनी विदेश नीति का परिचय देता था। इस विदेश नीति में साम–दाम, दण्ड–भेद नीतियों का प्रयोग किया जाता था क्योंकि बर्जनीयम् सदायुद्धम् के प्रतिपालन हेतु विदेश नीति की सम्यक व्यवस्था अनिवार्य रूप से महाभारत में स्वीकार की गयी है।

महाभारत कालीन तत्व दर्शन की सांस्कृतिक दर्शन या धार्मिक भावनाओं की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि शत्रु या विपक्षी से युद्ध टालने हेतु उक्त नीतियों का अवलम्बन करना चाहिए। कृष्ण का प्रयास इसी का एक उदाहरण है। विदेश नीति के क्षेत्र में राजनय के अनेक सिद्धान्तों और नीतियों का विकास महाभारत में उन्नत रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। इन्हें छः रूपों में हम देख सकते हैं। सन्धि–विग्रह, यान, आसन द्वौधिभाव तथा समात्रयः।

षाऽगुण्य गुण सारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु।
धर्मार्थ काममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में सन्धि के तीन भेद उत्तम, मध्य, ह्यीयान के अवसरों में चार भेद तथा समात्रय के अन्तर्गत शक्तिशाली मित्र के आश्रय की चर्चा की गयी है।

(क) संधिश्च त्रिविधाभिख्यों हीनों मध्यस्तथोत्तमः।
भयसत्कार वित्ताख्यं कात्स्न्यैन परिवर्णितम्।।[2]

महाभारत के राजनय सिद्धान्तों में विदेश नीति के अन्तर्गत मित्र राष्ट्र को अत्यधिक महत्व दिया गया है। उद्योग पर्व में मित्र राष्ट्रों की विस्तृत सूची दी गयी है। जिसमें से सहार्थ भजमान, सहज और कृत्रिम कर्ण पर्व में सहज धन द्वारा प्राप्त शान्ति वार्ता द्वारा बने मित्र और

(1) शान्ति 59/79 (2) शान्ति 49/37

प्रताप द्वारा बने हुए साथियों की चर्चा कर विदेश नीतियों की चर्चा की गयी है। भीष्म ने युधिष्ठर से कहा था–

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्युत।
सहार्थो भजमाश्च सहजः कृत्रिमस्तथा।।[1]
वदन्ति मित्रं सहजं विचक्षणा–
स्तथैव साम्ना च धनेन चार्णितम्।
प्रतापतश्चोपनतं चतुविधं
तदस्ति सर्वे तव पाण्डवेषु।।[2]

इस सिद्धान्त को महाभारत में मण्डल सिद्धान्त कहा जाता है। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

रक्षणं चैव पौराणं राष्ट्रस्य च विविर्धनम्।
मण्डलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका।।[3]

इन बारह मण्डलों में अरि, मित्र–मित्र, अरि मित्र–मित्र, विजगीषु पार्षणि ग्राह आक्रन्दं पार्षशिग्राह शाह, आक्रन्दा सार मध्य और उदासीन तथा इनके साठ विचारिणीय विषयों का उल्लेख आश्रम पर्व में हुआ है।

मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा।
उदासीनगणानां च मध्यस्थानां च भारत
चतुर्णो शत्रुजातानां सर्वेषामात तायिनाम्।
मित्रं चामित्र मित्रं च बोद्धव्यं तेऽरिकर्शन।।
ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वैविषयात्मकाः।
मन्त्रि प्रधानाश्च गुणाः षष्द्धिदश च प्रभो।।
एतन्मण्डमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः।
अत्र षाड् गुण्यमायत्रं युधिष्ठिर निबोध तत्।।[4]
वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुसत्तम्।
द्विसप्रत्यां महाबाहो ततः षाऽगुण्यजा गुणाः।।[5]

---

(1) शान्ति पर्व 79/3 (2) कर्ण पर्व 88/29 (3) शान्ति पर्व 49/70 (4) आश्रम0 6/1–5 (5) आश्रमवासित पर्व 6/6

यद्यपि विदेश नीति के अन्तर्गत राष्ट्र प्रधान की प्रशंसा और निन्दा विद्वानों ने की है। डब्लू0एच0 थामस ने इस सिद्धान्त को तर्क हीन और अपव्यहारिक कहा है। तो डॉ0 स्प्रैलमैन ने इसे भारतीय विदेशनीति का विलक्षणतम् सिद्धान्त कहा है।[1] महाभारतकार की मान्यता यह है कि न कोई किसी का मित्र है न कोई किसी का शत्रु इन दोनों के मूल में स्वार्थ और सामर्थ योग है। महाभारतकार की विदेश नीति की प्रशंसा करते हुए डा0 रघुवीर शास्त्री ने लिखा है कि भारतीय विदेश नीति मण्डल सिद्धान्त या किसी अन्य सिद्धान्त के प्रति अंध श्रद्धा या रूढ़वादिता से रहित है एवं पर्याप्त लचीली है। कभी-कभी विवाद राजन्यक प्रयतन और नियोजन सैन्य सत्य की स्थिति लाभ और उदय का विचार वैयक्तिक सत्यता और इसी प्रकार के अन्य अनेक पहेलुओं के आधार पर ही प्रायः सत्ता संघर्षो का नियमन् होता था। परन्तु हम जानते है कि मण्डल सिद्धान्त केवल एक कृत्रिम व्यवस्था है जिसके अनुसार वो पड़ोसी राष्ट्रों के विषय में कुछ एक सम्भावनाओं का निर्धारण कर सकते हैं।[2]

---

(1) महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था डा0 रघुवीर शास्त्री पृ. 407 (2) महाभारत कालीन राज्य व्यवस्था पृ. 408

महाभारत में दुर्ग व्यवस्था

दुर्ग व्यवस्था के मूल में सुरक्षा कार्य करती है। महाभारत में सम्पूर्ण जनपद की रक्षा की दृष्टि से राजधानी की दुर्ग रूप दिया जाता था। यहाँ स्मरतव्य है कि दुर्ग का सहारा लेकर लड़ती हुई सेनायें वर्षो अक्रान्ताओं का सामना कर सकती थी। इसलिए दुर्ग राष्ट्र रक्षा का सर्व प्रथम साधन था दुर्गम होने के कारण ही इनकी संज्ञा दुर्ग थी। महाभारत का काल अशान्ति या संक्रमण काल था। जनपद को शत्रु के आक्रमण से सुरक्षित रखने के लिए, दुर्ग एक मात्र साधन था। महाभारत में छः दुर्गो की परिकल्पना वर्णित है।

धन्वदुर्ग महीदुर्ग गिरिदुर्ग तथैव च।
मनुष्यदुर्ग अष्टदुर्ग वनदुंर्ग च तानि षट्।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में निवास योग्य तथा रक्षणीय वस्तुओं की चर्चा भी महाभरत में की गयी है।

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढ़प्राकारपरिरवं हस्त्यश्वरथसंकुलम्।।
विद्वांसः शिल्पिनों यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः।
ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम्।।
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तमकुतोभयम्।
शूराढ़यजनसम्पन्नं ब्रम्हघोषानुनादितम्।।
समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजित दवैतम्।
वंश्यामात्यबलो राजातत्पुरं स्वयमाविशेत्।।[2]

तात्पर्य यह है कि परिखा युक्त शुद्रण प्रकार का दुर्ग होना चाहिए। जिसमें बलवान धन-धान्य आदि धार्मिक कृत्यों के लिए उपर्युक्त सामग्री के साथ बड़े दुर्ग निर्माण करने की व्यवस्था महाभारत में की गयी है। परकोटे पर शूर वीरों या रक्षकों के बैठने की व्यवस्था भी महाभारत में उल्लिखित है।

---

(1) शान्ति पर्व 36/5 (2) शान्ति पर्व 36/6-10

महाभारतकालीन अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति एवं राजदूत व्यवस्था

समग्र महाभारत के अध्ययन करने से यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि क्षेत्र की दृष्टि से मध्य भारत से लेकर उत्तर पश्चिमी गान्धार (वर्तमान समय में अफगानिस्तान) गान्धार प्रदेश से लेकर पूर्व में अटक-कटक तक का क्षेत्र उसकी भौगोलिक दशाओं का वर्णन मिलता है। अंग-बंग, कलिंग, मगध, चीन, काम्बोज जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों की भौगोलिक और राजनीतिक दशाओं का वर्णन मिलता है। अतः स्वाभाविक है कि कुरूराज्य के साथ इनके सम्बन्ध किस प्रकार के थे। इसी का विश्लेषण अन्र्तराष्ट्रीय स्थिति का मूल्यांकन किया जायेगा। कर्ण के दिग्विजय अभियान अर्जुन की विभिन्न यात्रायें दुर्योधन द्वारा विभिन्न राज्यों से मैत्री के कारण महाभारत युद्ध में सेनाओं के समिलित होने का आग्रह एवं युधिष्ठिर के अश्वमेघ प्रकरण सुदूरवर्ती चीन जैसे देशों के राजदूतों की उपस्थिति यह सूचित करती है कि महाभारत में अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के मूल में मित्रता, वैवाहिक सम्बन्ध, सार्मथ शक्ति का प्रयोग ऐसा प्रमुख आधार है। जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति प्रवृत्ति होती रही है। गान्धारी का विवाह, रुकमणि और सुभद्रा का अपहरण, शकुनि का धृतराष्ट्र की सभा में राजदूत बनकर रहना इसी अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कुछ सैद्धान्तिक पक्ष हैं। जिनका वर्णन महाभारत में हुआ है।

महाभारतकालीन गुप्तचर व्यवस्था

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस वैदेशिक नीति की चर्चा की गयी है। उस नीति के कुशल संचालन में परस्पर सहयोग पूर्वक दो राज्यों के सम्बन्धों के मूल में दूत या गुप्तचर सहयोग पूर्वक दो राज्यों के सम्बन्धों के मूल में दूत या गुप्तचर व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। राज्यों में सन्धि या विग्रह शत्रु मित्र का पता लगाना गुप्तचरों से ही सम्भव था। दूत अपने राजाओं का सन्देश दूसरे राजाओं तक यथावत् प्रेषित करते थे। और दूसरे राजाओं से प्राप्त सूचनाओं या संदेशों को यथातथ्य रूप में अपने राजा को अवगत कराते थे। इसीलिए दूत को अबध्य कहा जाता था।

यथोक्तं दूत आचष्टे वध्यः स्यादन्यथा ब्रवन्।।[1]

गुप्तचर की महत्ता निरूपित करते हुए शान्ति पर्व में कहा गया है कि गुप्तचर ही राज्य के मूल्य में है।

राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते।
स्वामिनं त्वनुवर्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः।।[2]

शत्रु मित्र और तटस्थ की जानकारी के लिए राजा को चर का चक्षु स्वरूप व्यवहार करना अपेक्षित होता है। उसी की सूचना के आधार पर राजा को करणीय कर्त्तव्यों का निर्धारण करना चाहिए।

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्मः प्रयोजयेत्।।[3]

राज्य व्यवस्था और चरो का सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हुए यह कहा जा सकता है कि संस्कृति मूल्यतः एक मूल्य प्रधान व्यवहार है। जबकि राजा के अत्यन्त सनिकट आत्मीय यहाँ तक कि पुत्र और पत्नी भी अश्विसनीय होते हैं। इसलिए राजा अपने मन्त्रियों पुत्रों के मनोभावों के जानने हेतु इन चरों की नियुक्ति करता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से यह संकेत किया था।

आमात्येषु व सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः।।[4]

---

(1) शान्ति 70/9 (2) शान्ति पर्व 70/8 (3) शान्ति पर्व 140/41 (4) उद्योग पर्व 72/7

गुप्तचरों की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी कुछ दिशा निर्देश महाभारत में मिलता है कि परीक्षितचर बुद्धिमान होने पर भी गूंगा, अंधा और बधिर की तरह आचरण ही नहीं कर सकता हो अपितु भूख, प्यास और कष्ट साध्य परिश्रम करने और सहने की क्षमता रखने वाले व्यक्ति को गुप्तचर बनाना चाहिए।

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्ध बधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षत्पिपासाश्रम क्षमान्।।[1]

राजा द्वारा गुप्त नियुक्ति गुप्तचर राज्य के अन्दर बाहर उद्यान बिहार भूमि मदिरालय तीर्थ व्यापार केन्द्रों अखाड़े चतुष्पद सहित अनेक सभासदों के घरों में भी गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिए।[2]

सारांश यह है कि सांस्कृतिक तत्वों में राजव्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। क्योंकि सभ्यता हमारे बाह् क्रियाकलापों खान-पान, जीवन-यापन के विभिद आयामों से सम्बन्धित होती है। सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, सभ्यता के प्राथमिक तत्व हैं अतः राजनीतिक संरचना एवं संगठन स्वाभाविक रूप से सांस्कृतिक मूल बन जाते हैं। सांस्कृतिक तत्त्व मूल्यतः मानवीय नैतिक गुण आत्म परमात्मा एतद् सम्बन्धी विचार दर्शन से सम्बन्धी होते हैं। अतः महाभारतकालीन राजनीतिक संरचना एवं संगठन के अन्तर्गत विश्लेषण करते हुए पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि महाभारत में गणतन्त्र और राज्यतंत्र की व्यवस्था योजनाओं का नियोजन राजा की योग्यता प्रजा की सुरक्षा सुशासन व्यवस्था हेतु अनेक प्रशासनिक व्यवस्था आमात्य मंत्री मण्डलों के कार्य का विभाजन आर्थिक स्रोतों का सुविधापूर्वक सरलता से दोहन प्रजा हितार्थ उसका उपयोग राज्यकोष की वृद्धि हेतु जन सामान्य से कर ग्रहण प्रणाली का वैशिष्ट समीपस्थ या पड़ोसी राज्य के साथ ही साथ दूरस्थ शत्रु, मित्रतटस्थ राज्यों की आन्तरिक व्यवस्था सम्बन्धी अभिग्यता प्रजा।

---

(1) शान्ति पर्व 83/15 (2) शान्ति पर्व 86/19

युद्ध के नैतिक नियम

मानव सामाजिक प्राणी है। समाज के साथ वह अपने विचारों का आदान-प्रदान करता हुआ, लाभ-लोभ और क्षोभ से युक्त होकर तदानुसार अपना आचारण निर्धारित करता था। जब दो साथ या वैमत्य आमने-सामने आकर खड़े हो गये, और ज्ञान विचार विवेक से उसका समाधान नहीं हो सका तो श्रेष्ठ न्याय के लिए युद्ध ही एक मात्र उपाय बचता था। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से महाभारत की व्याख्या करे तो इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भरतवंशी वीरों के युद्ध इतिहास का विवरण महाभारत है।

युद्ध क्षात्र या राजन्य धर्म तथा देवोत्पत्ति के समय इनकी उत्पत्ति बाहुओं से मानी गयी है। अतः देश समाज की रक्षा करना राजधर्म माना गया है। आततायी का दमन अत्याचार के विरुद्ध प्रतिकार श्रेष्ठ क्षत्रिय धर्म कहा गया है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि विपक्षियों या शत्रुओं के ही युद्ध होते थे। वस्तुतः राज्य विस्तार भोग लिप्सा दिग्विजय आदि अभियानों में अपने और पराये जनों से कभी-कभी युद्ध असम्भावी हो जाते हैं। महाभारत में एक तरफ कुरु, पाण्डु और कर्ण की दिग्विजय यात्रा साम्राज्य विस्तार के लिए हुई थी। जिनमें अनेक देश के राजाओं से युद्ध करना पड़ा किन्तु महाभारत का प्रमुख युद्ध स्वजनों के मध्य ही हुआ जिसे हम आज की भाषा में पारिवारिक युद्ध भी कह सकते हैं। यह महाभारत युद्ध एक ही परिवार के पुत्र-पौत्रों तथा विभक्त स्वजन सम्बन्धियों के मध्य युद्ध हुआ। यही युद्ध कौरव और पाण्डवों का युद्ध कहलाया। युद्ध के मूल में यह अवधारणा विकसित हुई कि इसमें एक पक्ष अधर्मी अन्यायी है। मोह ग्रस्त होकर अहंकार से मदान्द हो दूसरे का भाग या राज्य हस्तगत करना चाहता है, इसलिए शास्त्रज्ञ जन सामान्य के मध्य यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि वस्तुतः कौरव पाण्डवों का युद्ध यदि धर्म युद्ध है तो धर्म का पक्ष किसकी ओर था? परिणामानुसार देखे तो इस युद्ध में पाण्डव विजयी हुए और कौरवों का व्यापक सर्वनाश हुआ। नर संहार तो दोनों पक्षों का हुआ किन्तु चिन्तकों ने दुर्योधन को अन्यायी धृतराष्ट्र को पुत्र मोहग्रस्त तथा पाण्डवों को न्याय पक्ष से युक्त कहा। यहाँ महाभारत में प्राप्त युद्ध कारक तत्त्वों का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। इस युद्ध में नैतिक नियम अस्त-शस्त्र संचालन रण-चातुर्य ब्यूह संरचना आदि का उल्लेख संक्षेप में करेगें। महाभारत में कहा गया है कि क्षत्रिय को धर्म युद्ध के लिए सदैव तत्पर्य रहना चाहिए। वीर गति प्राप्त करने वाले क्षत्रियों का जीवन ही सार्थक कहा गया है। शान्ति पर्व में शय्या पर

पड़े हुए मृत्यु प्राप्त क्षत्रिय की निन्दा करते हुए, वीरगति को प्राप्त क्षत्रिय की प्रशंसा की गई है।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरण भवेत्।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन्।।
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति।
क्षत्रियों नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः।।
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
शौटीरणामशौटीर्यमधर्म कृपणं च तत्।।[1]

युद्ध के समाजशास्त्र का अध्ययन करे तो यह सहज ही पता चलता है कि इस महाभारत के मूल में सम्पत्ति का विभाजन है। पाण्डुओं के पाँच गाँवों की न्यायोचित माँग पर भी दुर्योधन बिना युद्ध के भी सुई की नोक के बराबर भी भूमि देने को तैयार नहीं था। कृष्ण के सन्धि प्रस्तावों का विश्लेषण करे तो यह प्रतिक्रिया राजनीति के अन्तर्गत सामनीति कहलायेगी। भीष्म पितामह भी इसके समर्थक थे। उनकी अवधारणा है कि राजा को साम और वेदनीति का आश्रय लेकर प्रतिपक्षी से अपना कार्य निकालना चाहिए, क्योंकि युद्ध का परिणाम बहुत कुछ अनिश्चित रहता है। जय में भी जाने अनजाने अनेक प्रकार की क्षति होती है।

उपायविजयं श्रेष्ठमाहुर्भेदेन मध्यमम्।
जघन्य एष विजयो यो युद्धेन विशाम्पते।।[2]
सम्भृत्य महती सेना चतुरग्गां युधिष्ठिर।
साम्नैव वर्तयेः पूर्व प्रयतेथास्ततो युधि।।[3]

---

(1) शान्ति पर्व 97/23–25 (2) भीष्म पर्व 3/81 (3) शान्ति पर्व 102/16

महाभारत में वर्णित युद्ध के नियम

ऊपर कहा गया है कि महाभारत पारिवारिक युद्ध था। अतः युद्ध को पूर्ण रूप युधिष्ठर आदि पाण्डवों ने सैनिक वेश का परित्याग कर भीष्म, द्रोण श्रेष्ठ सम्बन्धियों से आशीर्वाद माँगते हैं। इससे बड़ी एक पारिवारिक विडम्बना क्या हो सकती है कि गुरूगण आशिर्वाद देकर अपनी विवशता व्यक्त करते हैं कि वे दुर्योधन के अर्थदास है किन्तु जय तो पाण्डुवों कि होगी जहाँ धर्म है वहीं कृष्ण है और जहाँ कृष्ण है वहीं विजय है। इस प्रकार इस धर्म युद्ध में उभय पक्षीय सेनापतियों ने निम्नलिखित नियम बनाये थे। भीष्म पर्व के प्रारम्भ में इन नियमों का इस प्रकार उल्लेख है। युद्ध बन्द होने पर पारस्परिक सौहृदार्य बना रहेगा, स्नेह सम्बन्धों में वैमनस्य न होगा, सेना से बाहर निकलने पर उसे अबद्ध माना जायेगा, रथी को रथी से हाथी घुड़सवार एवं पैदल को समान प्रतिपक्षी से युद्ध करना चाहिए, वार करने के पूर्व सावधान करके ही प्रहार करना चाहिए। युद्ध से भयभीत व्यक्ति पर प्रहार करना उचित नहीं है, शरणागत या किसी अन्य के साथ युद्ध में लिप्त पीठ दिखाकर भागने वाला निःशस्त्र और कवच विहीन व्यक्ति को अवध्य माना जाना चाहिए, अश्वसेवक सूत बोझा ढोने वाले संख्या या भेरी बजाने वालों पर प्रहार नहीं होने चाहिए–

निवृत्ते बिहिते युद्धो स्यात् प्रीतिर्नः परस्परम्।
यथापरं यथायोगं न च स्यात् करुयचित् पुनः।।
वाचा युद्ध प्रवृन्तानां वाचैव प्रतियोधनम्।
निष्क्रान्ताः प्रतनामध्यन्न हन्तव्याः कदाचन।
रथी च रथिना योध्यो गजेन गजधूर्गतः।
अश्वेनाश्वी पदातिश्च पादातेनैव भारत।।
यथायोगं यथाकामं यथोत्साहं यथाबलम्।
सभाभाष्य प्रहर्तव्यं न विश्वस्ते न विहले।।
एकेन सह संयुक्त प्रपन्नो विमुखस्तथा।
क्षीणशस्त्रों विवर्मा च न हन्तव्यः कदाचन।।
न सूतेषु न धुर्येषु न च शस्त्रोपनायिषु।
न भेरासशंख वोदषु प्रहर्तव्यं कथंचन।।[1]

---

(1) भीष्म पर्व 1/27-32

इसी प्रकार शान्ति पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर से युद्ध नियमों की जो व्यवस्था की है। उसका रणनीति शास्त्र से अध्ययन उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उसका सांस्कृतिक महत्व है। क्योंकि इसमें कहा गया है कि संग्राम में कवच विहीन क्षत्रिय से युद्ध नहीं करना चाहिए। छल के साथ युद्ध करने वाले प्रतिपक्षी से उसी प्रकार आचरण अपेक्षित है। शत्रु के संकट ग्रस्त हो जाने पर उस पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत और पराजित शत्रु अबध्य है। विष से बुझे हुए और विपरीत मुख बाण नहीं प्रयोग करना चाहिए। बलहीन और सन्तानहीन शत्रु पर घातनीति विरुद्ध है। शिथिल टूटी प्रत्यन्चा वाले शत्रु पर बाण का प्रहार नहीं करना चाहिए। अधिकार में आये हुए पुरुष को न मार कर उसकी चिकित्सा करानी चाहिए।

स चेत् सन्नद्ध अगच्छेत् सन्नद्धव्यं ततो भवेत्।
स चेत् स सैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाहयेत्।।
नैवा सन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि।।
स चेन्निकृर्ष्या युद्धयेत् निकृत्या प्रतियोधयेत्।
अथचेद धर्मतो युद्धयेद् धर्मणैव निवारयेत्।।
नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी।
व्यसनेन प्रकृर्तव्यं न भीताय जिताय च।।
इषुर्लिप्तो न कर्णो स्यादसतामेतदायुधम्।
यथार्थ मेव योद्धव्यं न क्रुद्धयेत जिघासतः।।
साधूनां तुमिथो भेदात् साधुश्चेद् व्यसनी भवेत्।
निष्प्राणो नाधिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन।।
भग्नशस्त्रों विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।
चिकित्स्यः स्यात् स्वविषुये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत्।।[1]

इसी प्रकार वन पर्व में कहा गया है कि स्त्री, बालक, वृद्ध, रथहीन स्वपक्ष से बिछुड़ा हुआ नष्ठ अस्त्र-शस्त्र व्यक्ति पर वार नहीं करना चाहिए।

---

(1) शान्ति पर्व 95/7-13

तथा स्त्रियं च यो हन्ति बालं बृद्धं तथैव च।

विरथं विप्रकीर्णे च भग्नशस्त्रायुधं तथा।।[1]

स्रान्त, भीत शस्त्रहीन, विपन्न कृतान्जली, वृद्ध, प्रतिपक्षी को आश्रय देने की बात कही गयी है।[2]

तात्पर्य यह है कि महाभारत में सिद्धान्तः मानव जीवन से सम्बन्धित सांस्कृतिक तत्वों से युक्त नैतिक नियमों का उल्लेख, कर्ण, भीष्म, दोर्ण शल्य सभी पर्वो में हुआ है। इन युद्ध के नैतिक नियमों का सांस्कृतिक महत्व ये है कि विपक्षी साम, दाम, भेद नीति से वशीभूत नहीं होता तो न्याय पूर्वक युद्ध करना चाहिए, तथा युद्ध में बलाबल का ध्यान रखकर ही अपनी वीरता का प्रदर्शन मानव धर्म है। शरणागत, बाल, बृद्ध, स्त्री या भयभीत व्यक्ति के न मारने का उल्लेख कर महाभारतकार ने उच्चसदाशय्यता का परिचय दिया है। सैद्धान्तिक रूप में युद्ध के ये नियम अत्यन्त आकर्षक भव्य, उच्च आदर्श नीति सम्मत किन्तु व्यवहारतः जब महाभारत में हुए युद्ध की घटनाओं का अध्ययन करते हैं तो अनेक स्थानों पर इन नियमों का उल्लंघन मिलता है। जैसे हाथी पर सवार भगदत्त का युद्ध रथी कृष्ण से होता है। अभिमन्यु की मृत्यु में कितने नैतिक नियमों का पालन हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार अर्जुन ने वर्ज्रदन्त के साथ युद्ध करते हुए उसके वाहन पर प्रहार किया था। रात्रि के समय युद्ध बंद था किन्तु द्रोर्ण पर्व में रात्रि युद्ध का वर्णन है। इसी प्रकार अश्वत्थामा की पैशाचिक क्रूर प्रतिहिंसा छल पूर्वक भीष्म, द्रोण और संकट ग्रस्त कर्ण का बध उक्त आदर्शो के स्खलन के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से इतना तो सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि भले ही आदिम काल में मनुष्य निरंकुश और स्वच्छंद रहा हो किन्तु बाद में राजा पद का निर्णय हुआ उसकी योग्यतायें निश्चित की गयी एवं योग्यतम् व्यक्ति को उसमें मूर्धाभिषिक्त कर राजा बनाया गया जिसमें भूमि देश प्रजा की रक्षा हेतु कोष, दुर्ग, राज्य व्यवस्था, नीति निर्माण विषयक सिद्धान्त और व्यवहारों का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है महाभारत में ऐसे भी राज्य की परिकल्पना की गयी है। जहाँ न राजा है न प्रजा न दण्ड प्राप्त कर्ता है पस्पर धर्म की रक्षा करते हुए जीवन यापन करने की परिकल्पना करते हुए आदर्श रूप में की गयी है राजा एवं राज्य की दैविक उत्पत्ति

(1) वन पर्व 18/14 (2) वन पर्व 27/11

सम्बन्धित सिद्धान्त महाभारतकार को मान्य है श्रेष्ठ राज्य व्यवस्था से ही राजा को त्रि वर्ग की प्राप्ति होती है। प्रजा का रंजन और रक्षक उसके मूल सिद्धान्त है। महाभारत में राजतंत्र, गणतंत्र और यत्र-तत्र अराजक सिद्धान्त वाले राज भी मिलते हैं। राजतंत्र में सर्वोपरि राजा होता था। शासन व्यवस्था हेतु विभिन्न परिषदें और उनमें कार्य करने हेतु मंत्रीवर्ग नियुक्त होते थे। गणराज्यों में संघबध्यत्ता स्वकर्त्तव्य पालन पर विशेष बल दिया जाता था। राजा में धीरता, मर्यादा पालन प्रजाहित की सर्वोपरिता दुष्टदमन, सन्धि-विग्रह सहित साम, दाम, दण्ड, भेद का ज्ञाता प्रजा वात्सल्य विद्वानों का संग्रहकर्ता इत्यादि शताधिक गुणों की आवश्यकता एवं चर्चा महाभारत के अनेक प्रसंगों में वर्णित है। राज्य के अंगों में मंत्रियों की योग्यता उनके कार्य भूम व्यवस्था दुर्ग व्यवस्था युद्ध के नैतिक, अनैतिक नियमों का वृहद उल्लेख महाभारत में हुआ है। महाभारत एक घटना प्रधान है। अतः स्वभाविक युद्ध सम्बन्धि विस्तृत दिशा निर्देशों उपकरणों सैन्य बलों शस्त्रार्थों के निर्माण युद्ध के समय व्यूह कौशल शत्रु-मित्र तदस्थ से करणीय व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजदूतों की महन्ता, गुप्तचर तथा न्याय एवं दण्ड व्यवस्था का जो उल्लेख महाभारत में मिलता है। वह एक ओर नियमबद्ध शासन की दण्डनीति से भय एवं व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर है। व्यास ने विभिन्न उपदेशों द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं किया इन सिद्धान्तों पर चलकर आदर्श राज्य की परिणति भी विभिद् प्रसंगों में वर्णित है।

साम्राज्य में युद्ध एवं सन्धि की स्थिति

महाभारत में क्षति से त्राण करने वाले को क्षत्रिय कहा जाता था। जिन व्यक्तियों में शौर्य, तेज, धृति युद्ध स्थिति में कुशलता पूर्वक निपटने की दक्षता या क्षमता होती थी। उसे ही राजा बनने का अधिकार था इस प्रकार लोक का रक्षण पालन एवं रंजन उसके महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य राष्ट्र में जनता की सुख शान्ति के साथ ही बाह् आक्रमणों से उसकी सुरक्षा करना और आवश्यकता पड़ने पर सैन्य बल के साथ युद्ध करना राजाओं के प्रमुख धर्म कहे गये हैं, साथ ही महाभारत में साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक अधीनस्थ करद राजाओं के मण्डल बनाकर सुशासन और युद्ध सन्धि की चर्चा की गयी है। आश्रमवासिक पर्व में अरि, मित्र, मित्र-मित्र, अरि मित्र-मित्र, विजिगीषु पार्ष्णिाग्राहासार, आक्रन्दसार, मध्यम और उदासीन तथा सन्धि वृद्धि नीतियों की विस्तृत चर्चा है।

मण्डलानि च बुध्येथाः परेषामात्मनस्तथा।
उदासीन गणानां च मध्यस्थानां च भारत
चतुर्णा शत्रुजातानां सर्वेषामातातायिनाम्।
मित्रं चामित्रमित्रं च बोद्धतत्यं तेऽरिकर्शन।।
तथामात्था जनपदा दुर्गाणि विधिधानि च।
बलानि च कुरु भवत्येषां यथेच्छकम्।।
ते च द्वादश कौन्तेय राज्ञां वै विषयात्मकाः।
मन्त्रि प्रधानाश्च गुणाः षष्टिर्द्वादश च प्रभो।।
एतन्मण्डलमित्याहुराचार्या नीतिकोविदाः।
अत्र षाड्गुण्यमायतं युधिष्ठिर निबोध तत्।।
वृद्धिक्षयौ च विज्ञेयौ स्थानं च कुरुसत्तम्।
द्विसप्तत्यां महाबाहो ततः षाऽगुण्यजा गुणाः।
यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाबलः।।[1]

भौगोलिक साम्य के कारण राजाओं में स्वाभाविक ईर्ष्या, और प्रतिस्पर्धा के द्वारा उत्पन्न

(1) आश्रमवासिक पर्व 6/1-6

शत्रुता युद्ध के कारण बनते थे। कभी-कभी अपने साम्राज्य के विस्तार हेतु या चक्रवर्ति पद प्राप्त करने हेतु युद्ध अवश्यम्भावी हो जाते थे। महाभारत में वर्णित कण का अभियान युद्धि युधिष्ठिर का अश्वमेधिक यज्ञ इसके उदाहरण हैं। महाभारत में एक दूसरे प्रकार के युद्ध की भी चर्चा है। पारिवारिक विभाजन, और वैमनस्य का मूल कारण महाभारत ही है। जिसमें भयाभय सर्वनाश हुआ था। दिग्विजय के लिये किये गयी यात्राओं और युद्धों में यह ध्यान रखा जाता था कि युद्ध का उद्देश्य शत्रुराजा को हरा कर अपनी अधीनता स्वीकार करा लेना है। और उसी के राज्य का वापस कर उसे कराद या अधीनस्थ राजा बना लिया जाता था। भगदत्त, अर्जुन का युद्ध इसका उदाहरण्ण है। इस प्रकार महाभारत में वर्णित युद्धों के अन्तर्गत विजय तथा धन विजय के तत्त्व विद्यमान थे। जैसा कि भीष्म पितामह ने लिखा है कि अधर्म से पृथ्वी पर विजय प्राप्त करने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि उससे राजा को सम्मान नहीं प्राप्त होता है। ऐसी विजय पापपूर्ण व अस्थाई होती है।

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः।
अधर्मविजयं लब्धवा को नु मन्येत भूमिपः।।
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।
साद्यत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ।।[1]

महाभारत में एक आदि अपवाद को छोड़कर सम्पन्न हुए युद्धों के सन्दर्भ में डा0 रघुवीर शास्त्री का मत्तव्य है; कि महाभारत की इसी नीति के कारण सामन्तवाद उपनिवेशवाद जैसी मानवता विरोधी एवं अन्यास विस्तारवादी व्यवस्थाओं से भारतीय राजनीति सदैव मुक्त रही है। महाभारत विजय नीति का पहला उद्देश्य अन्य अविजित प्रदेशों को जीतकर उन्हें सम्राट की अधीनता स्वीकार कराना होता था उसके लिए वे सम्राट को कर देने के लिए बाद्ध होते थे। परराष्ट्रों को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाद्धकरने के लिये प्रायः प्रथमतः राजन्यिक उपायों का प्रयोग किया जाता था। और उससे कार्य सिद्ध होने की आशा रखे पर युद्ध को सीमित राजन्यिक प्रयोग करने की परम्परा थी।[2]

सम्राट युधिष्ठिर की आज्ञा से दिग्विजय के लिये उत्तर दिशा में अर्जुन पूर्व की ओर भीम

(1) शान्ति पर्व 96/1, 2 (2) महाभारतकालीन राज्यव्यवस्था पृ0-440

दक्षिण की ओर सहदेव तथा पश्चिम की ओर नकुल ने प्रस्थान किया। इन विजिगीषु पाण्डवों में राजाओं से प्रेमपूर्वक युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार करने का आग्रह किया था। इस प्रकार महाभारत में युद्ध के दो रूप दिखाई पड़ते हैं।

राज्य विस्तार हेतु धार्मिक, नैतिक नियमों के परिप्रेक्ष्य करद् राज्य बनाना उसके पराजित राज्य को वापस कर प्रीतिपूर्वक मैत्री करते हुए। उसे अधीनस्थ बनाना आदर्शवादी युद्ध कहलाये यहाँ शस्त्र बल अत्यन्त सीमित मात्रा में प्रयोग होते थे। दूसरे प्रकार के वो युद्ध हैं जिनमें अन्याय का आश्रय लेकर युद्ध होते थे। इनका लक्ष्य विजय प्राप्त करना होता था। महाभारत ऐसा ही एक युद्ध था। जो पारिवारिक उत्तराधिकार के लिये लड़ा गया और जिसमें 18 अक्षोणी सेना का विनाश हुआ। यत्र-तत्र कुछ छुट-पुट युद्ध भी हैं जो भत्सन्याय के आधार पर दुर्बल राज्य को अपने राज्य में मिला लिया गया है। साम्राज्य विस्तार के लिए युद्ध के अवसर महाभारत में नहीं मिलते सम्भवतः भारतीय इतिहास में इस नीति का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा है क्योंकि भारतवर्ष की सीमाओं को पार कर पड़ोसी राष्ट्रों की स्वतंत्रता की अपहरण के उदारण नहीं मिलते हैं।

सन्धि की स्थिति :- भारतीय राजन्यिक सिद्धान्तों के मूल के साम, दाम, दण्ड, भेद नीतियाँ व्यहरत होती थी। जिसका तात्पर्य यह है कि राजा दूसरे राजा को समझा बुझाकर धन देकर या परस्पर राज्य में फूट डालकर और इन सब में सफलता न मिलने पर युद्ध के द्वारा दण्ड देने की चर्चा मनुस्मृति, शुक्रनीति इत्यादि में वर्णित है। युद्ध अनिवार्य होने पर श्रेष्यकर कार्य यही कहा गया है, कि वो न्याय धर्म पूर्व युद्ध लड़ता है तो उसे अक्षय मोक्ष की प्राप्ति होती है। मानव मूलतः लड़ाकू प्रवृत्ति का होता है। अतः शक्तिशाली राजा दुर्बल को पराजित कर युद्ध को एक यज्ञ के रूप में सम्पादित करें युद्ध की अनिवार्यता होने के पूर्व सन्धि की। सत प्रयासों की चर्चा महाभारत में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप में मिलती है। सन्धि का एक रूप यह होता था कि दिग्विजय अभियान में निकली हुई सेना प्रतिपक्षी राष्ट्र को मित्र के समक्ष समझ उसकी स्वतंत्रता की पूर्ण रक्षा का दायित्व उद्घोषित करती थी तथा सन्धि का दूसरा रूप किसी न किसी रूप में दोनों पक्षों के मध्य किसी रूप में युद्ध न हो इस हेतु एक निश्चित शर्तो या नियमों का उल्लेख होता था। महाभारत युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण का द्वैत कर्म पाँच गाँवों को माँगकर युद्ध टालने का प्रयास इसी सन्धि के उदाहरण हैं। जैसे युद्ध सर्व प्रथम विदुर ने धृतराष्ट्र को सन्धि का उपदेश किया था; क्योंकि पारिवारिक कलह में अनेक छिद्र हो जाते हैं। जिससे दूसरे को आक्रमण करने

का अवसर मिलता है।

संधत्स्व त्वं कौरव पाण्डु-पुत्रै

र्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु।

सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र।।[1]

धृतराष्ट्र भी सन्धि की चर्चा दुर्योधन से करता है-

एतद्धि कुरवः सर्वे मन्यन्ते धर्म संहितम्।

यत् त्वं प्रशान्ति मन्येथाः पाण्डुपुत्रैर्महात्मभिः।।[2]

भीमसेन भी श्रीकृष्ण से दुर्योधन की हठवादिता की चर्चा कर उन्हें समझाने की चर्चा का आग्रह करते हैं-

यथा यथैव शान्तिः स्यात् कुरुणां मधुसूदन।

तथा तथैव भाषेथा मा स्म युद्ध न भीषयेः।।[3]

सन्धि पराकाष्ठ का उदाहरण कृष्ण का द्वैत कर्म है। उन्होंने अपने कर्म एवं वाणी से सन्धि स्थापना के औचित्य की चर्चा करते हुए कहा कि यह दुर्योधन पाण्डवों का सत्कार करके आगे बढ़ेगा तो उसे सारी पृथ्वी के भोग सहज ही उपलब्ध हो सकेगें। अन्यथा परस्पर ईर्ष्या द्वेष में लड़कर नष्ट हो जायेगें। श्रीकृष्ण ने अनेक दृष्टान्तों द्वारा भ्रातृ द्वैष की चर्चा की है एवं अन्त में पाँच गाँवों की शर्म रखकर सन्धि करने का आग्र किया था। किन्तु अहंकारी दुर्योधन के अस्वीकार करने पर महाप्रलयकारी विनाश हुआ। तात्पर्य यह है कि महाभारत में आवश्यक होने पर धर्म युद्ध की चर्चा तथा युद्ध से पूर्व ऐन-केन प्रकारेण सन्धि के सत् प्रयासों की महत्ता का गायन कहीं प्रत्यक्ष और कहीं पौराणिक राजाओं के उदाहरण देकर किया गया।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि महाभारत काल में राज्य व्यवस्था में एक-दूसरे राज्य से युद्ध होते रहते थे। युद्ध हमेशा सुरक्षा व्यवस्था और राज्य की जनता को सुरक्षित रखने के लिये होते अगर अन्य कोई देश आक्रमण करता था या कोई घरेलू क्लेश होता था तो उसका समाधान पहले शान्ति पर्व पूर्व एवं सन्धि व्यवस्था से करते थे। युद्ध हमेशा आपातकालीन स्थिति में ही होते थे।

---

(1) उद्योग पर्व 36/74 (2) उद्योग पर्व 38/4 (3) उद्योग पर्व 74/1

मित्रराष्ट्रों का महत्त्व

महाभारतकालीन विदेश नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का उल्लेख करते हुए यह लिखा जा चुका है कि शासक अधीनस्त राजाओं के साथ ही अनेक ऐसे देश या राष्ट्रों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करते थे। यद्यपि महाभारत में भारतीय राजनय का मूलमंत्र राज्य की प्राप्ति उसका पालन तथा विस्तार है। चक्रवर्ती राजा होना प्रत्येक शासक की उद्दान लालसा होती थी। किन्तु ऐसा न होने पर शक्ति बल की अपेक्षा कूटनीति का आश्रय लेकर मित्रता करना या उससे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना मित्रराष्ट्र बनाने का एक रूप था गंधार प्रदेश की गांधारी, मद्र प्रदेश की माद्री ऐसे ही उदाहरण हैं। शान्तिकाल में स्वराष्ट्रीय और मित्रराष्ट्रीय नीतियों में जहाँ सज्जनों के संग्रह शौर्य निपुणता सत्य और प्रजाहित का ध्यान रखा जाता था। वहीं शत्रुओं के लिए संकट उत्पन्न करना उन्हें पराभूत करना मित्रराष्ट्रों के माध्यम से किया जाता था। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है–

सतां संग्रहणं शौर्य दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम्।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम्।।
पुरगुप्ति रविश्वासः पौरसंघात भेदनम्।
अरिमध्यस्थ मित्राणां यथावच्चान्व वेक्षणम्।।[1]

(उद्योग पर्व 4/2) में मित्र राजाओं की लम्बी सूची देकर महाभारतकार ने यह बताने का प्रयास किया है; कि युद्ध के समय मित्रराजाओं का सामरिक महत्व बहुत है। इसी प्रकार शान्ति पर्व में चार प्रकार के मित्र राष्ट्रों की सूची प्रस्तुत की गयी है, और उसके पहचान व्यावहार आदि की विस्तृत चर्चा है। भीष्म कहते है कि राजा के मित्र सहार्थ भजमान, सहज और कृत चार प्रकार के होते हैं। इनमें से भजमान और सहज श्रेष्ठ मित्र राजा होते हैं। जिनकी रक्षा एवं पालन पोषण शासक को भली भाँति करना चाहिए।

धर्मात्मा पश्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः।
यर्ता धर्मस्ततो वास्याद् धर्मस्थो वा ततो भवेत्।।
चतुर्णो मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शंकयौ तथापरौ।
सर्वे नित्यं शंकितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः।।[2]

---

(1) शा0 58/6-10 (2) शा0 80/4, 6

कर्ण पर्व में भी मित्र पुरुषों के चार भेद बताकर उनके महत्त्व को निरूपित करते हुए कहा गया है, कि एक सहज मित्र होते हैं दूसरे सन्धि करके बनाये गये मित्र होते हैं। तीसरे दान देकर अपनाये गये मित्र राष्ट्र या राजा होते हैं। शरण में आये हुए राजा होते हैं। अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है–

वदन्ति मित्रं सहजं विचक्षणास्तथैव साम्ना च धनेन चार्जितम्।
प्रताप तश्चोपनतं चतुर्विध तदस्ति सर्वे तव पाण्डवेषु।।[1]

महाभारतकार मानव की मूल प्रकृति के अनुरूप शत्रु मित्र की परिकल्पना करता है वह मनोवैज्ञानिक तथ्य का उद्घाटन करता हुआ कहता है कि मानव चित्त अस्थिर है अतः अवसर आने पर मित्र शत्रु बन जाते हैं। और शत्रु–मित्र वस्तुतः यह परिस्थितियों पर ही निर्भर करता है। इस विषय में राजा को अत्यन्त सचेष्ट रहना चाहिए।

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति।।[2]

इसी बात की पुष्टि अन्यात्र भी की गयी है। विडाल और चूहे के आख्यान के माध्यम से कहा गया है कि न तो कोई किसी का मित्र है। न कोई किसी का शत्रु स्वार्थ ही शत्रु मित्र बनाता है।

न कश्चित् कस्चिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थरतस्तु निबद्धयन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।।
अर्थे रथां निबद्धयन्ते गजैर्वमगजा इव।
न च कश्चित् कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्।।[3]

कर्ण और शल्य ऐसे ही उदाहरण हैं इसके साथ ही महाभारत का दृष्टिकोण नितान्त व्यावहारिक है कि जन्म से कोई भी शत्रु नहीं होता सामर्थ, योग्यता, पराक्रम शत्रु मित्र बनाता हैं।

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा।।[4]

---

(1) कर्ण पर्व 88/28 (2) शा0 88/8 (3) शा0 138/110 (4) शा0 140/5।

महाभारत में सम्मलित हुए राजाओं की सूची पर विहंगावलोकन करें तो हमें सहज ही ज्ञान हो जायेगा, कि महाभारतकार की दृष्टि शत्रु मित्र लेकर कितनी व्यापक और व्यावहारिक है। इस युद्ध में पारिवारिक सगे रक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त अनेक देशों से आये हुए राजा सम्मिलित हुए। जिनमें सगे संबंधी भी शत्रु मित्र बने और दूर रहने वाले राजा भी युद्ध में किसी न किसी रूप में सम्मिलित होकर उन्होंने अपनी शत्रुता या मित्रता को प्रमाणित किया है। इस विषय में महाभारतकार मानव के मानसिक मनोभावसों से पूर्णतया अभिज्ञ जान पड़ता है। कि वस्तुतः राजनीति में शत्रु की पहचान परिस्थिति साक्षेप होती है। फिर भी राजा को येन केन प्रकारेण मित्र राष्ट्रों से संबंध बनाये रखना पड़ता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से इतना तो सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि भले ही आदिम काल में मनुष्य निरंकुश और स्वच्छंद रहा हो किन्तु बाद में राजा पद का निर्णय हुआ उसकी योग्तायें निश्चित की गयी एवं योग्यतम् व्यक्ति को उसमें मूर्धाभिषिक्त् कर राजा बनाया गया जिससे भूमि देश प्रजा की रक्षा हेतु कोष, दुर्ग, राज्य व्यवस्था, नीति निर्माण विषयक सिद्धान्त और व्यवहारों का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है महाभारत में ऐसे भी राज्य की परिकल्पना की गयी है। जहाँ न राजा है न प्रजा न दण्ड प्राप्तकर्त्ता है परस्पर धर्म की रक्षा करते हुए जीवन यापन करने की परिकल्पना करते हुए आदर्श रूप में की गयी है राजा एवं राज्य की वैदिक उत्पत्ति सम्बन्धि सिद्धान्त महाभारताकार को मान्य है। श्रेष्ठ राज्य व्यवस्था से ही राजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है। प्रजा का रंजन और रक्षक उसके मूल सिद्धान्त हैं। महाभारत में राजतंत्र, गणतंत्र और यत्र–तत्र अराजक सिद्धान्त वाले राजा भी मिलते हैं। राज्य तंत्र में सर्वोपरि राजा होता था शासन व्यवस्था हेतु विभिन्नि परिषदें और उनमें कार्य करने हेतु मंत्री वर्ग नियुक्त होते थे। गण राज्यों में संघबध्यता स्वकर्त्तव्य पालन पर विशेष बल दिया जाता था। राजा में धरता, मर्यादा पालन, प्रजा हित की सर्वोपरिता दुष्ट दमन, संधि विग्रह सहित, साम–दाम, दण्ड–भेद का ज्ञाता प्रजा वात्सल्य विद्वानों का संग्रहकर्त्ता इत्यादि सर्वाधिक गुणों की आवश्यकता एवं चर्चा महाभारत में अनेक प्रसंगों में वर्णित है। राज्य के अंगों में मंत्रियों की योग्यता उनके कार्य भूम व्यवस्था, दुर्ग व्यवस्था, युद्ध के नैतिक अनैतिक नियमों का वृहत उल्लेख महाभारत में हुआ है। महाभारत एक घटना प्रदान है। अतः स्वाभाविक युद्ध सम्बन्धि विस्तृत दिशा निर्देशों, उपकरणों, सैन्य बलों, शस्त्रार्थों, के निर्माण युद्ध के समय व्यूह कौशल शत्रु मित्र तदस्थ से कर्णीय व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजदूतों की महान्ता गुप्तचर तथा न्याय एवं दण्ड व्यवस्था जो उल्लेख महाभारत में मिलता है वह एक ओर नियमबद्ध शासन की दण्ड नीति से भय एवं व्यक्ति के स्वविवेक पर निर्भर है। व्यास ने विभिन्न उपदेशों द्वारा राजनैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं किया इन सिद्धान्तों पर चल कर आदर्श राज्य की परिणति भी विभिद् प्रसंगों में वर्णित है।

अध्याय-पंचम

महाभारतकालीन धार्मिक स्थिति

क– महाभारत में देवताओं और देवियों की स्थिति

ख– कर्मवाद एवं भक्तिवाद की प्रबलता

ग– महाभारत में दान की स्थिति

घ– महाभारत में धार्मिक संस्कारों का परिवेश

ड– महाभारत में वीरपूजा तथा अवतारवाद में विश्वास

च– यज्ञ अनुष्ठानों एवं तपस्या का प्रभाव

छ– धार्मिक तीज–त्योहार तथा उपवास विधि

ज– महाभारत में वर्णित लोक परलोक एवं नरक का अनुशीलन

झ– धार्मिक कार्यों का राजनीति पर प्रभाव व मूल्यांकन

अध्याय- पंचम

महाभारतकालीन धार्मिक स्थिति

मानव का जीवन आरम्भ से पर्यन्त तक लोक व्यवहार परस्पर सम्पर्क से ज्ञान अर्जित करता है तथा ऐसा अनुभूत करता है कि विश्व के समस्त जीवों में एक जैसी आत्मा निवास करती है। सभी जीव सुख दुःख अनुभव एक करते हैं [1] इससे यह ज्ञात होता है कि समस्त प्राणियों में एक रहस्यमयी आध्यात्मिक संबंध है।

संस्कृति के मूल में कारक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए शोध कर्त्री ने यह लिखा है कि मूलतः मनुष्य को दो स्तरों पर काम करना पड़ता है। भोजन, वस्त्र, मकान, शासन व्यवस्था उसके बाह्य भौतिक या शारीरिक कार्य हैं तो आंतरिक कार्यों में सौन्दर्य प्रियता धार्मिक कृत्य, दर्शन, स्वर्ग, नरक की परिकल्पना, पुनर्जन्म, अवतारवाद देवी देवताओं की उपासनाओं से संबंधित कार्य आतें हैं। श्रेष्ठ संस्कृति जिसमें इन दोनों पक्षों का संतुलित और सम्यक वर्णन किया है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार को चतुर्वर्ग कहा गया है जो इच्छा करता है। उन्हें पुरुषार्थ की संज्ञा दी गयी है। पुरुषार्थ चतुष्ट्य में मोक्ष सर्वश्रेष्ठ हैं इनमें धर्म सर्वप्रधान है। क्योंकि धर्माचरण द्वारा ही अर्थ और काम की प्राप्ति करता है धर्म से मनुष्य गृहस्थ मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

धर्म मानव जीवन साधना का सर्वाधिक रहस्यमय सूक्ष्म और महाविशिष्ट कर्म है। इसे पुरुषार्थ चतुष्ट्य के रूप में द्वितीय स्थान पर इसलिये रखा गया है कि यह अर्थ और काम को नियंत्रित करता रहे। पश्चिमी विचारकों के एतद् संबंधी विचारों का अलोडन–विलोडन करते हुये हमने देखा है कि वे महाभारत को धार्मिक काव्य न मानकर इसमें निहित धर्म संबंधी उपाख्यानों को प्रक्षिप्त कहा है। जबकि महाभारत के सूक्ष्म विश्लेषण से उसमें धर्म की प्रधानता दिखाई पड़ती है। महाभारत

---

1. शांति 167 वां अध्याय (270/28–27)

के माहात्म्य एवं अन्यत्र प्राप्त अंशों को देखकर निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि महाभारत ज्ञान का अनन्त भण्डार तो है ही यह एक धर्म शास्त्र भी है कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

धर्मशास्त्रमिदं महत्[1]

धर्मशास्त्र मिदं[2]

मोक्षशास्त्र मिदं प्रोक्तं व्यासेनाऽमित बुद्धिना।[3]

मोक्षधर्माश्चकथिताः विचित्राः बहुविस्तराः।[4]

धमचार्थ च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यहिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वंचित्।।[5]

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोप दिश्यते।[6]

रहस्यं चैव धर्माणां देशकाले पसंहितम्।[7]

शान्ति पर्वणि धर्माश्च व्याख्याताः शारतल्पिकाः।[8]

महाभारत में धर्म की प्रधानता थी। इसयुग में शिव, विष्णु, लक्ष्मी, पार्वती जैसे देवत्वता पूज्य माने जाते थे। लोग मोक्ष प्राप्ति के लिये ईश्वर पर विश्वास करते थे। इस युग में पशु यज्ञ के स्थान पर आत्मयज्ञ, आत्म संयम पर बल दिया गया है। अहिंसा संयम, वैराग्य और त्याग का अस्वीकार्य मालुम पड़ता है।

वैदिक युग में रुद्र, इन्द्र, वरुण ऊषा आदि मंत्रों की स्तुति मिलती है। ऋग्वेद की ऋचाओं में इसका प्रयोग हुआ है। उसके अनुसार–

"आ प्रा रंजासि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।[9]

---

1. आदि पर्व 2/383
2. आदि पर्व 62/23
3. महाभारत महात्म्य वर्णन
4. आदि पर्व 2/328
5. आदि पर्व 62/53
6. आदि पर्व 61/16.5
7. आदि पर्व 2/335
8. वही 2/326
9. वन पर्व 205/41

धार्मिक त्योहारों उपवास और यज्ञ अनुष्ठान विधि–विधान से किया जाता था। इस युग में अवतारवाद की प्रधानता थी। कुरीतियां यत्र–तत्र दिखाई पड़ती है।

एकमात्र इहलौकिक स्थिति को धर्म का चरम उद्देश्य बताना महाभारत का ही उद्देश्य नही है। अधिकार धर्मानुष्ठान कष्टसाध्य होते हैं। कष्ट विमुख मनुष्य परलोक की हितकामना से ही धर्म के निमित्त दुःख का भी वरण कर लेता है।

धर्म द्वारा जिस अथ की प्राप्ति हो, उसी से संतुष्ट रहना चाहिये। नीच से नीच व्यक्ति में भी अगर कोई गुण हो तो धर्मज्ञ व्यक्ति उससे अनुराग करते हैं। धर्मध्यानी प्रत्येक अवस्था में संतुष्ट रहता है, वही ऐहिक एवं दूसरा सुख का भागी होता है।

महाभारत के वनपर्व में धर्म अधर्म का वर्णन मिलता है–

श्रुति प्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्वानुशासनम्।[1]

धर्म, अधर्म का निर्णय करने के लिये वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। वेद जिन आचरणों का समर्थन करते हैं, वही धर्म है।

मनु संहिता आदि धर्मशास्त्रों में धर्म बताया है वह धर्म है। महाभारतकार ने धर्मशास्त्रकार के रूप में मनु को अधिक सम्मान दिया है। मनु के वचनों द्वारा अपने मत का समर्थन कराया है। यद्यपि महाभारत में यह नही कहा है कि धर्मशास्त्रों को प्रमाणिक मानना चाहिये, लेकिन धर्मसूत्र, रामायण एवं पुराणों को ही धर्मशास्त्र समझते है। धर्मशास्त्र या स्मृतिशास्त्र के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। वेदों में भी कहते हैं परमोधर्मः है जो कि शास्त्रों में निहित है–

वेदोक्तः परमोधर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः [2]

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्म लक्षणम् [3]

---

(1) अनु0 162 वां अध्याय (2) वनपर्व 206/83

(3) शन्ति पर्व 258/3

श्रुति–स्मृति का सार समझने के लिये धार्मिक रूप को ग्रहण कर सदाचार की सहायता से हम अपना मार्ग प्रशस्त करते हैं। महापुरूष भी सदाचार के मार्ग तय करते हैं। वही उनका प्रकृत पथ है। महाभारत में भी महापुरूषों के गन्तव्य का वर्णन है– तदानुसार–

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्न नैको ऋषिर्यस्यमतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम् महाजनो येन गतः स पन्थाः।। [1]

धर्म के विषय शास्त्रानुमोदित तर्क के द्वारा कोई सिद्धांत नही बनाया जा सकता है, लेकिन जो धर्म के तत्व में लीन है वो महापुरुषों जिस मार्ग पर जाते हैं वह ही मार्ग है।

लेकिन पूर्व महापुरुषों के आचरण की प्रमाणिकता में आशंका करते हैं वो नितान्त अशोभनीय है। [2]

परन्तु मेरे विचार में त्यागी महापुरुषों पर कभी आशंका का विचार करना अपने पाप को सिद्ध करना होता है। पुरुष तो सभी होते हैं लेकिन 'महा होने में बहुत समय लगता है। अर्थात तभी वह महापुरुष सिद्ध होते हैं। दूसरी ओर जिन्होंने विद्या अर्थ आदि की प्रचुरता से प्रसिद्धि प्राप्त की हो, हम उन्हीं को महापुरुष कहते हैं, लेकिन महाभारत में अलग विचार हैं जो वेदशास्त्रों द्वारा बताये आचार विचारों का अवरोध पालन करते हैं, उन्हीं को महापुरुष मानते हैं। इसलिये महापुरुष समझना कठिन होता है। साधारण मनुष्य को सदाचार का ही सहारा लेना चाहिए। यह शायद महाभारत का उद्देश्य है

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्ममृतां वर।

---

(1) वनपर्व 312/117

(2) महाभारतकालीन समाज 275/1

सेविक्तव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना।[1]

सदाचार जो कि धर्म कहता है जो कि मनुष्य हृदय विद्यमान है।

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च में हृदि वर्त्तते[2]

लेकिन महापुरुषों के वास्तविक धर्म तो सत्य, क्षमा,, दया, घृणा हैं इन चारों का पालन मानव लोक दिखावे कि लिये नही कर सकता इसलिये मानव में अन्तःप्रेरणा की आवश्यकता होती है।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा[3]

सार्वजनीन धर्म मनुष्य को कुछ भी दिये बिना किसी अन्य से कुछ भी नही लेना चाहिए दान, अध्ययन, तपस्या, सत्य, शौंच, अक्रोध, यज्ञ आदि क्री धर्म की संज्ञा दी गयी है। महाभारत में भी वर्णित है कि– अक्रोध, सत्यवचन, क्षमा स्वदाररति, अद्रोह, आर्जव व भृत्यभरण ये सभी धर्म के रूप प्रसिद्ध है।

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्याधर्मस्य लक्षणम्।[4]

अक्रोध सत्य बोलना, स्वदाररति, अद्रोह, शौंच और क्षमा ये सार्वजनीन धर्म के समान विभाग कहे जा सकते हैं।

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च।।[5]

समस्त संसार के सुख– दुःख का ही अपने सुख-दुःख का अनुभव को मिला देना ही महाभारत के अनुसार परम धर्म है। धर्म साध्य तथा साधन दोनो हैं, धर्म

---

(1) महा0 शान्तिपर्व महा0 35/48 (2) शांतिपर्व 54/20

(3) उद्योग पर्व 35/56, 57 (4) शा0 296/36/10 पर्व 193/31

(5) शा0 60/7, 8

अंतःकरण की वस्तु है तथा सभी के कल्याण का मार्ग है धर्म का श्रेष्ठ उद्देश्य है सम्पूर्ण संसार की कल्याण कामना व सभी के प्रति अद्वेष रखना धर्म का सार है, विद्वान एकमत से स्वीकार करते हैं अद्रोह, सत्य, दया आदि के प्रधान धर्म कहा है। मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।

तस्मात सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत।।[1]

अद्रोहेणैव भूतानां यः स धर्मः सतां मतः।[2]

सभी की हितचिन्ता व मित्रता ही शाश्वत धर्म है। किसी का अपकार न हो, इस प्रकार जीविका निर्वाह करना सर्वोत्कृष्ट धर्म है। जो मन, वचन, कर्म से स्वयं को संसार के हित में लगाते हैं, वही धर्म का स्वरूप जान लेते हैं अहिंसा ही धर्म का सार है। अहिंसा सत्य पर ही स्थापित होती है। विश्व में अहिंसा उत्कृष्ट अन्य कुछ भी नही। महाभारत के वन पर्व में कहा है कि सत्य है कि अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

अहिंसा परमो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः।[3]

शान्तिपर्व के प्रकरण में वर्णित है कि समयानुसार धर्मकार्यों में परिवर्तन कर लेना चाहिये लेकिन व्यक्ति स्वैचार की कहीं भी उचित नही व्यक्ति किया है। अहिंसा सत्य, अक्रोध के समय पर अधर्म का रूप ले लेते हैं। उसी समय हिंसा आदि को ही धर्म समझकर स्वीकारना चाहिए।

धर्मो ह्यावस्थिक स्मृतः[4]

मानव को कभी भी धर्म का त्याग नही करना चाहिए क्योंकि यही महाभारत का उद्देश्य है। किसी प्रकार की विपत्ति क्यों न आये संघर्ष करते रहना चाहिये धर्म का त्याग नही करना चाहिये। महाभारत में यहां तक वर्णित है कि यदि जीवन

---

(1) महाभारत वनपर्व 193/37 (2) शांतिपर्व 21/11, 12

(3) वन0 206/14 (4) शा0 36/11

सुरक्षित बचाने के लिये धर्म का त्याग करना पड़ता है तो वह व्यक्ति मरे हुये के समान ही हो जाता है।

राजभिर्वेदितव्यास्ते सम्यग्ज्ञानबुभुत्सुभिः।

आपद्धर्मश्च तत्रैव कालहेतु प्रदर्शितः।।

यान बुदध्वा पुरुषः सम्यक् सर्वज्ञत्वमवाप्नुयात।

मोक्षधर्माश्च कथिताः विचित्राः बहुविस्तराः।।[1]

इस प्रकार महाभारत के अन्तः साक्ष्य के आधार पर इसे हम धर्मशास्त्र कहते हैं जिसमें धर्म से संबंधित रखने वाले आचार व्यवहार रहस्य इत्यादि का वर्णन किया गया है। श्रवणफल में भी इसे धर्मशास्त्र के रूप में मान्यता प्राप्त है। सर्वप्रथम धर्म की व्युत्पत्ति उसके अर्थ, धर्म और सम्प्रदाय धर्मशास्त्रों में वर्णित विषयों का संक्षिप्त में विवेचन किया जा रहा है।

1. धर्म शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-

धर्म शब्द का व्याकरणगत मूल 'धृ' धातु पर आधारित है। जिसका अर्थ है। धारण करना धृ एक सकर्मक धातु है। जिसका प्रयोग कर्ता तथा कर्म दोनों में संभव है। महाभारत में धर्म शब्द की दो प्रकार की व्युत्पत्तियों का उल्लेख है।

धनात स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः।

धारणा द्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।

यत स्याद्वारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।[2]

अर्थात धन से धर्म की उत्पत्ति होती है। सब को धारण करने के कारण वह निश्चित रूप से धर्म कहलाता है। धारणा द्धर्ममित्याहु में मनुष्य के धारण करने

---

(1) आदि पर्व 1/327,328

(2) शांतिपर्व 90/17,18, कर्ण 69/59, शांति पर्व 109/11

अपनाने पालन करने और बनाये रखने को धारण कहते हैं। धृ+मन के संयोग से बना शब्द धर्म का प्रयोग कर्ता और कर्म दोनो रूपों में संभव है। धरित लोकान ध्रियते के अनुसार धर्म 'ध' धातु का भाव रूप है। इस प्रकार धर्म शब्द की अनेक व्याख्यायें की जा सकती है। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं में धर्म शब्द पुल्लिंग रूप में प्रयुक्त हुआ है [1]

पितुं नु स्तोषं महि धर्माणं तविषीम् (ऋग्वेद 1/187/1)

अन्य स्थानों में ये पुल्लिंग अथवा न0 पुं0 में प्रयुक्त है जिसका अर्थ है, निश्चित निमय आचरण नियम है। अथर्ववेद (9/17) अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया संस्कार करने से अर्चित गुण के अर्थ में हुआ है। वैशेषिक सूत्र एवं पूर्व मीमांसा में धर्म की परिभाषायँ इस प्रकार दी गयी है–

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमांसा सूत्र 1/1/2)

2. अथातो धर्म व्याख्यास्यामः। यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्विः सधर्मः (वैशेषिक सूत्र)

इसकी एकांगी परिभाषायँ भी मिलती हैं, जैसे अहिंसा परमोधर्मः (अनु0115/1) आनृशंस्य परोधर्मः (वनपर्व 373/76) एवं 'आचारः परमोधर्मः' (मनुस्मृति 1/108) बौद्ध शिक्षा में इसे बुद्ध के उपदेश अथवा अस्त्वि का एक तत्त्व अर्थात् जड़ तत्त्व मन एवं शक्तियों का एक तत्त्व भी माना गया है।[2] महाभारत में धर्म के दो अर्थों का प्रयोग हुआ है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि से वह धर्म है, तथा अधोगति जाने से बचाने, जीवन की रक्षा करने एवं धारण करने से धर्म शब्द व्यहृत **"धर्मो रक्षति रक्षतः"** में भी इसी अर्थ की पुष्टि की गयी है। प्रजा के धारण करने के अर्थ में धर्म करता है। जब मनुष्य उस धर्म का धारण अथवा पालन करता है। तो वह धर्म कर्म बन जाता है। भारतीय जीवन दर्शन वैदिक सहित्य और धर्मशास्त्र

---

1. घृत+मन् शब्द कल्प द्रुम पृ0 783

2. धर्म शा0 का इतिहास भाग 1 पृ05

का अपूर्व संगम है। सामान्य व्यावहारिक जीवन के लिए धर्म इसके विधि निषेधा के साथ नीति आचारगत बन्धनों का भी उल्लेख किया जाता है। क्योंकि धर्म ही मोक्ष का दाता है। महाभारत में प्राप्त धर्मों के कई रूप इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राकृतिक धर्म वह है जिसमें स्वाभाविक रूप से क्रिया होती हो, मनुष्य मात्र को एक समान मानकर जो आचरण किये जायेंगे वो प्राकृति या मानवीय धर्म कहलाते हैं। विशेष धर्म निमित्य अथवा अवसर विशेष पर सम्पादित किये जाने वाले विशिष्ट धर्म है और किसी विशेष वर्ग मत या विचार धारा के अनुसार जो उपासना पद्धति कर्मकाण्ड सम्पादित किये जाते हैं उन्हें साम्प्रदायिक धर्म कहा जा सकता है। जैसा कि **डॉ0 राधाकृष्ण** ने कहा है कि भारतीय धर्म में मान्यताओं का आग्रह नहीं है, ध र्म एक अनुशासन हैं। विशेष मान्यताओं अथवा विधियों का नाम धर्म नही है। सम्प्रदाय सीमित होते हैं। उन्हें अन्तिम और सार्वभौम नही कहा जा सकता। महाभारतकालीन धार्मिक स्थिति का आंकलन करने के लिये सामान्य मानव या प्राकृतिक धर्म की चर्चा संक्षेप में इस प्रकार की जा रही है।

सुप्रसिद्व अंग्रेज विद्वान सर जेम्स फ्रेजर ने धर्म को निम्न रूप में परिभाषित किया है–

By religion.................I understand a prapitiation or conciliatition of powers superior to man which are believed to direct and contral the course of nature and of the human life.[1]

2 <u>सामान्य धर्म के लक्षण</u>–

मानव जीवन के संपूर्ण साधारण सदाचरण, आपत्तिकालीन असाधारण कर्म,

---

1. रिजीजन एण्ड सॉसाइटी पृ0 52

स्थिति आचरण और विधि निषेध आदि का निरूपण इस धर्म के अन्तर्गत हुआ है। धर्म का सिद्धि पालन इसलिये नही कि उससे सिद्धि प्राप्त हो अपितु इसलिये कि वह मानव का प्रथम कर्तव्य है जैसा कि वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की विस्तृत विवेचना पूर्व अध्यायों में की जा चुकी है। यह मानव धर्म जीवन को समग्रता में स्वीकार करता है और उसे ही महाभारत में अनेक रूपों में प्रतिष्ठित किया गया है। जिसमें धृति, क्षमा, दम, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध, अहिंसा, दान तथा अन्य विशेष कर्म आते हैं। इनका विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया जा रहा है।

(क) धृति –

धर्म और धृति के मूल में धृ धातु है। **धर्मो धारयति प्रजा** (उद्योग 137/9) के अनुसार धृति उसका एक अंग हैं महाभारत में धृति की व्याख्या करते हुये सात्विकी,राजसी, तामसी, धृति का उल्लेख है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रिया।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।
यया तु धर्म कामार्थान धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंङ्गेंन फलाकाडंकी धृतिः सा पार्थ राजसी।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेवं च।
न विमुचंति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थे तामसी।। [1]

(ख) क्षमा–

क्षमा का गान महाभारत में बहुत हुआ है। क्षमा ही धर्म है। क्षमा ही यज्ञ है। क्षमा ही शास्त्र है। क्षमा ही तप और शौच है।

क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञ क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्।
य एतदेवं जानाति स सर्व क्षन्तुमर्हति।।

---

(1) श्रीमद्भागवतगीता 18/33–35

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भाविच।

क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्।।

अति यज्ञविदां लोकान क्षतिणः प्राप्नुवन्तिं च।

अति ब्रह्मविदां लोकानति चापि तपस्विनाम्।।[1]

प्रहलाद ने अनवसर पर दी गयी क्षमा की निंदा की है कि इससे व्यक्ति के दास और शत्रु उसकी उपेक्षा करने लगते हैं।

(ग) दम–

महाभारत के अनुसार किसी अन्य की वस्तु को लेने की इच्छा न करना मन को शांत करना गंभीर रहना दम है।

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्ये दौर्यमेव च।

अभयं रोगशमनं ज्ञाने नै तदवाप्यते।।[2]

युधिष्ठिर के प्रश्न पर भीष्म ने कहा था कि दम निःश्रेयश का साधन है, यही सनातन धर्म है। इसे दान, यज्ञ तेज, स्वाध्याय से श्रेष्ठ कहा गया है।

दमं निःश्रेयस प्राहुवृद्धा निश्चितदर्शिनः।

ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः।।

दमात् तस्य क्रियासि द्धिर्यथावदुपलभ्यते।

दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते।।

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।

विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत।

दमेन सदृशं धर्मे नान्यं लोकेषु शुश्रुम।।

दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम।।[3]

---

(1) वन पर्व 29/36–38 (2) शान्ति पर्व 162/12

(3) 2. वहीं 160/7–10

अदान्त पुरुष के वश में मन और इन्द्रियां नहीं होती वह निरन्तर आवेश का भागी होता है। ऐसे व्यक्तियों के लिये दम एक उत्तम व्रत है। महाभारत में दम की प्रशंसा करते हुये लिखा है। क्षमा, दम, धृति, अहिंसा, समता, सत्यवादिता सरलता इन्द्रिय विजय, कोमलता, स्थिरता, कदारता, क्रोधहीनता, प्रियभाषिता आदि गुण उदित होते हैं।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्य मार्दव हीरश्चापलम्।।
अकार्पण्यमसंरम्भः संतोषः प्रियवादिता।
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः।।[1]

महाभारत के सनत्सुजात संदर्भ में दम को 18 गुणों से मुक्त कहा गया है। जिसमें परिदोष दृष्टि, असत्य भाषण स्त्री कामना, पैशुन्यता, कर्त्तव्य की विस्मृति आदि प्रमुख हैं।

दमो ह्मष्टादशगुणः प्रतिकुलं कृताकृते।
अन्ततं चाभ्यसूया च कामार्थों च तथा स्पृहा।।
क्रोधः शोकस्तथा तृष्णालोभः पैशुन्यमेव च।
मत्सरश्च विहिंसा च परितापस्तथारतिः।
अपस्मारश्चातिवादस्तथा सम्भावनऽत्मनि।
एतै विर्ममुक्तो दोषैयः स दान्तः सभ्दिारुच्यते।।[2]

(घ) शौच-

इसका अर्थ अन्तर बाह्य मल का आलन है। अन्तर के राग द्वेष आदि को दूर करना, इनसे ही बाहय शौच संभव है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्ति रार्जवम।
आचार्योपासनं शौचं स्थेर्यमात्मविनिग्रहेः।।[3]

---

(1) वही 160/15—16 (2) उद्योग पर्व 43/23—25

(3) श्रीमद्भगवद्गीता 13/7

इसी प्रकार वैष्णव धर्म प्रकरण पर शौच के संबंध में समासतः कहा गया है।

श्रृणु राजन समासेन धर्मशौचविधि क्रमम।
अहिंसा शौच क्रोधामान्तशंस्य दमः शमः।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चित धर्मलक्षणम्।
ब्रह्मचर्य तपः क्षान्तिर्मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितिश्चैव शमः शौचस्य लक्षणम्।। [1]

ड- इन्द्रिय निग्रह-

वेद उपनिषद, काल से ही शरीर को रथ और आत्मा को रथी एवं इन्द्रियों को अश्व कहा गया है। यदि इन्हें वश में न किया गया तो जीवन यात्रा कुशलपूर्व नही हो सकती। अतः मानव को प्रयत्न पूर्व इन्द्रिय निग्रहः करना चाहिए।

रथः शरीरं पुरुषस्य दृष्टमात्मा नियन्त्रेन्द्रियाण्याहुरश्वान्।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै दर्न्तैः सुखं याति रथीव धीरः।।
षण्णामात्मनि युक्तानामिन्द्रियाणां प्रमाथिनाम्।
योधीरो धारयेद रश्मीन् स स्यात परम सारथिः।।
इन्द्रियाणा प्रसृष्टानां हयानामिव व सर्त्मसु।
धृति कुर्वीत सारथ्ये धृत्या तानि जयेद ध्रुवम।।[2]

स्वर्ग नरक के प्राप्ति और इन्द्रियपरवशता में ही है।

इन्द्रियाण्येव तत् संर्वयत स्वर्गनरकानुभौ।
निगृहीत विसृष्टानि स्वर्गाय नरकाय च।।[3]

(च) सत्य-

महाभारत की मूल कथा धर्माधर्म या सत्यासत्य की कथा है। जिसमें कहा गया है कि सत्य है वो धर्म है, जो धर्म है। वो प्रकाश है। जहां सत्य नही है वहीं अधर्म है।

---

(1) अश्वमेधिक पर्व अ0 –92, पृ0 6/353 (2) वनपर्व 211/23–25

(3) वही 211/19

तत्र यत सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो

य प्रकाशस्तत सुखमिति। तत्र यनृतं सोऽधर्मो।

योऽधर्मस्तत तमोयत् तमस्तद् दुःखमिति।।[1]

सत्य सनातन धर्म है सत्य से ही लोक धारण होता है सत्य ही ब्रह्म है। सत्य के समान कोई तप नही है। जहां धर्म होगा वहीं सत्य की वृद्धि होगी ऐसे वाक्य महाभारत में अनेक स्थानों में मिलते हैं। जैसे–

(क) सत्यं धर्मः सनातनः। – शांन्ति पर्व 162/4

(ख) सत्यं ब्रह्मं शा0 190/1 (ग) नास्ति सत्य समं तपः। शा0 329/6

(घ) सत्यमेव नमस्येतव सत्यं परभार्गत शा0 162/4

महाभारत में कहा गया है कि संपूर्ण लोकों में सत्य के तेरह भेद होते हैं। सत्य, समता, दम, क्षमा, तितीक्षा, अनुसूया, आर्यत्व, धृति, अहिंसा, दया आदि।

सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषु भारत।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।

अमात्सर्ये क्षमा चैव हीस्तितिक्षान सूयता।।

त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा।

अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदशा।।[2]

महाभारत में संयम, स्थान, विशेष में प्राणहित के लिए असत्य बोलना विहित कहा गया है। वैसे परिहास, विलास, काम क्रीड़ाओं में झूठे बोल झूठयुक्त नही है। गौ, ब्राह्मण, दीन स्त्री, अथवा कातर व्यक्ति के लिये असत्य भाषण अन्याय नही है। इस तरह के भाषण महाभारत में मिलते हैं।[3]

कौशिकोपाख्यान में भी इसी बात की पुष्टि की गयी है। यह सत्य ही अश्वमेध से भी अधिक फल देने वाला है।

---

(1) शान्ति पर्व 190/5 (2) शान्ति पर्व 162/9

(3) आदि पर्व 82/16, वनपर्व 208/3, शा0, 319/13

(छ) अक्रोध-

क्रोध मनुष्य का महान शत्रु है। क्योंकि इसके कारण वह कर्तव्य और कर्तव्य भ्रष्ट और मर्यादा विहीन हो जाता है।

क्रुद्धो हि कार्ये सुश्रोणि न यथावत प्रपश्यति।
नाकार्ये न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति।। [1]

वह पाप, गुरुजनों की हत्या, श्रेष्ठ मनुष्यों का अपमान, आत्महत्या यहां तक की उसे कुछ भी अवाच नहीं है।

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद गुरुनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेययोऽप्यंवमन्यते।
वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्य विद्यते तथा।
हिंस्यात क्रोधदवध्योस्तु वध्यान सम्पूजयीत् च।
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद यमसादनम्।। [2]

अहिंसा मानव के महान और सामान्य धर्म के रूप में अहिंसा का गौरागान महाभारत में विस्तार से उपलब्ध है। इसे ही परम धर्म और धर्म का मुख्य लक्षण कहा गया है।

अहिंसा पार्श्ये धर्मं यः साध्यति वोः नरः।।
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते।। [3]

अहिंसा का पालन करने वाला व्यक्ति मोह, मद और मर्त्सता जैसे दोषों को दूर कर सिद्धि काम हो जाता है।

(1) वन पर्व 29/18 (2) वही 29/4-6

(3) अनुशासन पर्व 113/3, वहीं 115/23

अहिंसा लक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।

यदहिंसात्मक कर्म तत कुर्यादात्मवान् नरः।।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।

अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।

अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परं सुखम्।।[1]

(ज) दान–

मानव के परम धर्म के रूप में दान धर्म का विवेचन महाभारतकार ने कई दृष्टिकोण से किया है। अपने अर्जित धन को दूसरे के लिये दे देना ही दान है।[2] ब्राह्मण धर्म में दान लेने और देने की विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी। क्षत्रियों का कर्त्तव्य या मुख्य अंग दान भी है। महाभारत में द्रव्य, गौदान, भूमिदान अन्न, जल, दान करने वाले को परम पद की प्राप्ति होती है। ऐसा उल्लेख है–

कीर्तिभवति दानेन ताऽऽरोग्यम हिंसया।

द्विजशुश्रूयाराज्यं राज्यं द्विजत्वं चापि पुष्फलम्।।

पानीयस्य प्रदानेन कीर्ति भवति शाश्वती ।

अन्नयस्य तु प्रदानेन तृष्यन्ते कामभोगतः।।

सुवर्णश्रृडैस्तु विराजितानां गवां सहस्रस्य नरः प्रदानात्।

प्राप्नोति पुण्यं दिवि देवलोक मित्येवमाहुर्दिवि देवसंघाः।।

प्रच्छते यः कपिलां सवत्सा।

कास्योपदोहां कनकाग्रश्रृडीम्।

तैस्तैर्गुणैः कामदुहास्य भूत्वा।[3]

---

(1) अनु0 116/12, 28, 29

(2) गीता 10/5

(3) अनु0 पर्व 57/19, 20, 27

नरं प्रदातांरमुपैति सा गौः।।[1]

सारांश यह है कि सामान्य धर्म के अन्तर्गत मनुप्रोक्त निम्न धर्म के दस लक्षणों की चर्चा ऊपर की गयी है।

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रि यमिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम।।[2]

इन्ही लक्षणों की चर्चा अवश्मेधिक पर्व में इस प्रकार की गयी है।

अहिंसा शौचमक्रोधमान्तशस्यं दमःशमः।

आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम्।।[3]

इसी संदर्भ में सनातन धर्म के लक्षणों की चर्चा की गयी है। जिसमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध इन्द्रिय निग्रह शील की चर्चा है।

अहिंसार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।

सः स्यादहिंसा सम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः।।

अहिंसा सत्यमक्रोध स्तपो दान दमो मतिः।

अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च।।

एष धर्मः कुरुश्रेष्ठः कथितः परमेष्ठिना।

ब्राह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः।।

अस्मिन धर्मे स्थितो राजन् नरोभद्राणि पश्यति।।[4]

इस दृष्टि से महाभारत का विश्लेषण करने पर यह धारणा सुस्पष्ट होती है कि व्यास की दृष्टि में धर्म के अनेक लक्षण, देश, काल, परिस्थिति वंश कहे गये हैं। व्यास ने युधिष्ठिर से कहा था कि दान, अध्ययन, यज्ञ, सत्यपालन, ये सब धर्म के लक्षण है।

---

(1) अनु0 पर्व 57 / 28 (2) मनुस्मृति 6 / 66

(3) अश्व– 92 (4) शान्ति 109 / 12

तो दूसरी तरफ स्वयं शमन ने मन्तव्य युधिष्ठिर से कहा है। कि अक्रोध सत्य, सम्भाव, इन्द्रिय संयम, मृदुलता से श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म है।

(क) अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।

अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम।।[1]

(ख) तपः स्वाध्याय शीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः।

ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः।।

आजतशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः।

अरण्ये बहवश्चैव दिवं गताः।।[2]

आदि पर्व में अष्टक ने राजा शिवि की धर्मज्ञता का उदाहरण देते हुये कहा है–

दान तपः सत्यमथापि धर्मो ही श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा।

राजन्नेतान्य प्रमेयाणि राज्ञः शिवे स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्धया।।[3]

इसी प्रकार नकुल ने शम, दम, धैर्य, सत्य शौच, धृति ऋजुता से धर्म प्राप्ति की चर्चा की है।

शमो दमस्तथा धैर्य सत्यं शौचमथार्जवम्।

यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः।।[4]

शौनक से जनमेजय ने भी यज्ञ, दान, दया वेदाध्ययन, पवित्रकर्म इत्यादि को धर्म के साघन रूप में उल्लिखित किया है।

यज्ञा दानं दयावेदाः सत्यं च पृथ्वीपते।

पंञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः।।[5]

धर्म के कुछ लक्षणों को स्वर्ग प्राप्तिकर बताया गया है। विदुर ने कहा है, यज्ञाध्ययन, सत्य, क्षमा, दया ये धर्म के आठ मार्ग तथा यही स्वर्ग के हेतु हैं।

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमः घृणा।

अलोभ इति मार्गोऽयं धमस्याष्ठविधः स्मृतः।।[6]

---

(1) शा० 36/10 (2) शा० 19/11–12 (3) आदि पर्व 93/19

(4) शान्ति पर्व 12/17 (5) शान्ति पर्व 152/7 (6) उद्योग पर्व 35/56

तात्पर्य यह है कि तप, दान, श्री, ही, अक्रोध, मिष्ट भाषण, इत्यादि धर्म के अनेक साधन और मार्ग महाभारत में चर्चित है।

तपश्च दानं च शमो दमश्च। ह्यीरार्जव सर्वभूतानुकम्पा।

स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सत्ते। द्वारणि सतैव महान्ति पुंसाम।।[1]

महाभारत में वर्णित धर्म की इस जटिलता को उसका वैशिष्ट्य मानकर **डा0 सुकथनकर** ने लिखा है कि धर्म शास्त्रों के समान महाभारत में धर्म सामान्य सिद्धांत स्वरूप एवं लक्षण में जटिलता और विवध रूपता है।[2]

वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के आवश्यक धर्म और कर्मों की चर्चा की गयी है। यहाँ उनसे भिन्न सामान्य धर्मों के लक्षणों की चर्चा की गयी है।

धर्म और शील-

धर्म और शील का अन्योंआश्रित संबंध है, क्योंकि शील में धर्म की पवित्रता और शील आचार की सात्विकता का समाहार है। शील की महिमा कहीं उपकथाओं और कहीं स्वतंत्र रूप से महाभारत के अनेक स्थलों में मिलती है। शान्तिपर्व में प्रहलाद कथा से यह ज्ञात होता है, कि जहाँ शील रहता है, वहीं धर्म भी निवास करता है। शील के शरीर से निकल जाने पर धर्म भी प्रहलाद के शरीर से निकल गया और सदाचार, सत्य, बल, लक्ष्मी, ने भी इसी शील का अनुगमन किया। उदाहरण द्रष्टव्य–

धर्मे प्रहलाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः।
ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा।
को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः।
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम्।।
शीलेन हि त्रयोलोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः।
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हतं प्रभो।।[3]

---

(1) आदि पर्व–90/22 (2) मीनिंग आफ महाभारत पृ0 – 82

(3) शा0 पर्व 1251/50,51,53,57,61

धर्म की तरह शील के भी अनेक रूप महाभारत में कहे गये हैं। कहीं अद्रोह, अनुग्रह, कहीं अहिंसा कहीं परोपकार, शील के साधन बताये गये हैं। इस प्रकार शील को मनुष्य का सिद्ध आधार कह सकते हैं जिसे धारण किया जाता है। वो धर्म है। और यही धर्म मनुष्य का सहज और निषिद्ध स्वाभाव बन जाता है। तो उसे हम शील कहते हैं, वस्तुतः शील में धर्म और आचरण की पवित्रता का मणिकंचन सहयोग होता है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते।
तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाध्येत संसदि।.
शीलं समासेनैताद् ते कथितं कुरुसत्तम।।[1]

पिछले पृष्ठों में धर्म की परिभाषा सांगोपांग और उसके शाश्वत धर्म लक्षणों की चर्चा की है। महाभारत में धर्म के कुछ विशेषण लगाकर परमधर्म या सनातन धर्म की भी चर्चा की गयी है। वह सामान्य धर्म है। यद्यपि यत्र–तत्र इसे परम धर्म भी कहा गया है। अनु0 गीता में सत्व को परम धर्म कहा गया है। यही बात मोक्ष धर्म में भी कही गयी है।

न हि सत्वात् परो धर्मः कश्चिदन्यो विधीयते।
नास्ति सत्यात् परो धर्मो।।[2]

इसी प्रकार इन्ही लक्षणों को सनातन धर्म कहा गया है। तात्पर्य यह है कि सनातन धर्म की अवधारण के पीछे ऐसे धर्म तत्वों का उल्लेख उनकी आवश्यकता परस्पर अविरोध की भावना का अभाव देशकाल परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्तन की सम्भावना ऐसी विशेषता के कारण ही उक्त गुणों को सनातन धर्म कहा जाता है। भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है। कि सत्य, धर्म, तप, मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्राणियों से अद्रोह अनुग्रह यह सनातन धर्म के लक्षण है।

---

(1) शान्ति पर्व–124 / 66,68 (2) अश्वमेधिक पर्व 39 / 9, शान्ति पर्व 342 / 18

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्य धर्मः सनातनः।

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।।[1]

यत्र—तत्र धार्मिक कर्मकाण्डों को भी सनातन धर्म की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

दर्शे च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः।

चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्म सनातनः।।[2]

सारांश यह है कि धर्म का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धर्म में आस्था करने वाला व्यक्ति एक परशक्ति पर विश्वास करता है, तथा वह सदैव उससे भयभीत रहता है। समस्त मानवों में अपनी जैसी आत्मा की अनुभूति करके वह इस प्रकार के कर्मों को जन्म देता है। जिससे उसकी यश वृद्धि होती है उसके कर्म की प्रतिक्रिया उसके अनुकूल होती है, इसके कर्म अधोगति और उच्चगति के आधार मूल्यांकित होते हैं, जिसके आधार पर हम स्वर्ग अथवा नरकगामी होते हैं। वह जीवन को भोग की वस्तु न मानकर उसे परिवर्तनशील और नश्वर मानता है, इसलिये वह माया ममता, मोह आदि से दूर रहता है। वह सदैव तृष्णा, अंहकार, क्रोध मद ममता से अलग रहकर सभी के प्रति समभाव रखता है। तथा स्वतः कष्ट सहन की क्षमता प्राप्त करके दूसरों को बिना किसी स्वार्थ के सुख प्रदान करता है। धर्म कार्यों के प्रति व्यक्ति विशेष की विशेष अभिव्यक्ति महाभारतकाल वैदिक युग, वा अन्य युगान्तरों से लेकर आज के समय में भी व्यक्ति विशेष की विशेष रूचि रहती है। वह धर्म को ही आधार स्तम्भ बनाकर आगे का मार्ग प्रशस्त करता है।

---

(1) शन्ति पर्व 162/4,5

(2) शन्ति पर्व 269/20

महाभारत में देवताओं और देवियों की स्थिति-

व्यास ने निभ्रन्ति रूप से मानवीय महत्वपूर्ण आचार व्यावहार के सामान्य सनातन या परम धर्म कहा है क्योंकि ये लक्षण त्रिकाल बाधित, सार्वजनीन शाश्वतिक और सर्वकालिक है, किन्तु मानव मन धर्म को विशिष्ट कर्मकाण्डों भावनाओं क्रियाओं या उपासनाओं से जोड़कर देखने का अभ्यासी हैं। इसे हम साम्प्रदायी धर्म कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत जड़ या चेतन विविध वस्तुओं में ईश्वर या भगवान के स्वरूप का दर्शन कर तदविषयक अवधारणाओं का विकास किया जाता है, और उससे अपने कामनाओं की पूर्ति हेतु स्तुति प्रार्थना या उसकी प्रसन्नता हेतु विविध कर्मकाण्ड निर्मित किये जाते हैं। यहां हम संक्षेप में महाभारत में प्राप्त देवी देवताओं का उल्लेख कर उनके स्वरूप और शक्ति की चर्चा करेंगे। क्योंकि गीता के विभूति वर्णन में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि संसार में जितनी भी वस्तुयें विभूति सम्पन्न श्रीयश युक्त और तेजस्वी हैं उनमें उन्हीं का अंश समझना चाहिए। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने विष्णु, राम, रवि, मारीचि, शशि, आदि शक्तियों की चर्चा की है। इस अध्ययन से इतना तो सहज ही पता चल जाता है कि सूर्य, चन्द्र, वरुण आदि देवता ईश्वर की शक्ति से ही तेज संपन्न और शक्तिशाली हैं, तथा उपासक अपने ईष्ट देव को ही परमेश्वर मानकर उसकी पूजा उपासना करके अपने काम्य की सिद्धि करता है। कृष्ण ने भी गीता में कहा है, कि चाहे भक्त जिस देवी देवता की उपासना करें वे सारी आस्थायें कृष्ण में ही आकर परिवशित हो जाती हैं। **सर्वदेव नमस्कृतः केशवं इति रक्षति** अथवा **यो यथा माम प्रपत्यन्ति ताप तेषाम भजाम्याहं।** जैसे वाक्य इस बात के द्योतक हैं कि व्यक्ति को ये स्वतंत्रता है कि वो चाहे जिस भी देवता की उपासना करे उसका फल भगवानं देते है। यहाँ कुछ अन्य देवी देवतओं की महाभारतोक्त चर्चा की जा रही है।[1]

क. तैतिश देवता-

उपनिषद और ब्राह्मण काल से ही 33 देवताओं की परिकल्पना चली आ रही

---

(1) आदि पर्व 67/37

है। जिसमें आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य प्रजापति और इन्द्र ये तैंतिस देवता माने गये हैं।

त्रयस्त्रिंशत इत्येते देवास्तेषामहं तव।

अन्वयं सम्प्रवक्ष्यामि पक्षश्च कुलतो गुणान।।[1]

आगे चलकर इन्द्र और प्रजापति के स्थान पर अश्वनी कुमारों की संख्या जोड़ ली गयी और ये संख्या बढते–बढते तैंतिस करोड देवताओं की हो गयी। बात यह है कि इन विभिन्न देवताओं में किसी न किसी शक्ति का विकास देखकर मनुष्यों ने इन्हें अपने लिए उपयोग सिद्ध देवता रूप में प्रतिष्ठित कर लिया है। जड़ वस्तुओं में चेतना का आरोप करना वैदिक परंपरा से चला आ रहा है। ऋषियों ने अपनी तपस्या या योगबल से इन शक्तियों का साक्षात्कार करते थे। इससे तो इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि इन्द्र, अग्नि, रुद्र, कृष्ण, विष्णु, शिव, यम, इत्यादि देवता संसार में आवश्यक उत्पत्ति पालन और संहार के शक्ति प्रतीक बने। महाभारत में इन्हीं को देवता से आगे बढ़ाकर पूर्ण ब्रह्म की परिकल्पना की गयी है। महाभारत में जड़ वस्तुओं में अतीन्द्रिय अलौकिक शक्ति की परिकल्पना और उसका वर्णन आज के वैज्ञानिक युग में साम्प्रदायिक होने के साथ–साथ अत्यन्त द्रुह प्रतीत होती है। फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि एक ही ईश्वर की विभिन्न अवस्थाओं का आरोप देवता या भगवान के रूप में की जाती रही है। कुछ प्रमुख देवता इस प्रकार हैं।

1. अग्नि–

अनुशासन पर्व में अग्नि को देवताओं का प्रतीक तेजस्वी कहकर ब्रह्म, पशुपति, जातवेदाह उसके पर्याय कहे गये हैं। अग्नि में ही आहुति डालकर उपासना करने वाले अग्निहोत्री कहलाये एतद् विषय के कुछ उदाहरण निम्न है।

---

(1) आदि पर्व 66 / 37

क— अग्निर्हि देवता सर्वाः। (अनु0 85/151)

ख— अग्निब्रह्मा पशुपति रुद्रः प्रजापति (अनु0 85/141)

सहदेव ने माहिषमति नगरी में प्रवेश करते समय इसी अग्निदेव की उपासना की है। इस स्तुति में अग्नि को पवित्र कारका हव्यवाहक, स्वर्गद्वार, उदघाटक, कार्तिकेय जन्मदाता कहा है। एक दो उदाहरण द्रष्टव्य है—

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः।
वेदास्त्वदर्थे जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि।।
चित्रभानुः सुरेश्च अनलस्त्व विभावसो।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशों ज्वलनः शिखी।।
अग्निर्ददातु में तेजो वायुः प्राणं ददातु में।
पृथ्वी बलमादध्याच्छिवं चापों दिशन्तु में।।
एवं स्तुतोऽसि भगवान् प्रीतेन शुचिनां मया।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीति चाग्ने प्रयच्छ में।।[1]

इसी प्रकार खाण्डव प्रस्थदाह के समय मन्दपाल तथा सारिसृक्क जरितारी आदि ऋषियों की स्तुति में अग्नि को परमेश्वर कहा गया है।[2]

2. इन्द्र-

यह वैदिक युगीन देवता है, वासव, सत्यकृतु, पुरिन्दर इसके पर्यायवाची कहे गये हैं। यह देवताओं के राजा शासनकर्ता हैं। स्वर्गलोक उसका निवास स्थान उसकी पत्नी का नाम शचि है। वह अत्यन्त वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करता था। उर्वशी, रम्भा आदि अप्सरायें नृत्य गीत से उसका मनोरंजन करती हैं। वज्र उसका प्रधान अस्त्र है और वृहस्पति उसके मंत्री कहे गये हैं। इस इन्द्र की पदवी प्राप्त करने हेतु अनेक क्षत्रिय राजाओं ने महत कर्म किये है। जिसमें नहुष सफल होकर

---

(1) सभा पर्व 31/42, 43, 45,49 (2) आदि पर्व अ0— 229

दीर्घकाल तक इन्द्र पद पर अभिक्षिप्त रहा। इस कथा से ये निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन्द्र एक उपाधि है जो देवताओं का राजा बन जाये उसे ही इन्द्र कहा जाता रहा है।[1] इन्द्र तीनों लोकों का रक्षक कल्याण कर्ता और सज्जनों का सम्मान कर्ता माना गया है। पृथ्वी को संशय संपदा से संपन्न रखने के लिये इन्द्र ही मेघों को जल वृष्टि का आदेश करता है। महाभारत में कहा गया है कि राजा उपरचरि वसु ने सबसे पहले इन्द्र धनुष गाड़कर इन्द्र की पूजा की थी।

3. ऋभुगण-

देवताओं की ये एक शैली है। ये देवताओं के भी देवता कहे गये हैं। कही इन्हें मारूत इत्यादि भी कहा गया है।

ऋभवो नाम तत्रान्ये देवानामपि देवताः (वन 260/19)

ऋभवो मरूतश्चैव देवानां चोदिता गणः। (शांति 208/22)

4. कुबेर-

ये धनपति कहलाते हैं कुबेर गन्धर्व जातियों का विनायक है, इसका निवास कैलाश पर्वत हैं, कहीं गंधर्वमादन पर्वत को भी बताया गया है। मणि, भद्र और यक्ष इसके प्रमुख वीर अनुचर हैं।

धनानां राक्षसानां च कुबेरमपि चेश्वरम।[2]

(अनु0 शा0 आ0 19, व0 प0 161 और 162 अध्याय में वर्णित हैं)

4. विष्णु-

विष्णु के उपासकों को वैष्णव कहा जाता था। इन्हें पुण्डरीकाक्ष, जनार्दन सर्वव्यापी, अज, कहा गया है। (वन पर्व 101/10, 115/15) कामनाओं की पूर्ति हेतु विष्णु पूजा का महाभारत में बहुविद वर्णन है। मार्गशीर्ष की द्वादशी को केशव की अर्चना करने से अवश्वमेध यज्ञ, पौष मास में नारायण की उपासना से परम माघ में

---

(1) वन पर्व 179/12, उद्योग पर्व 11–17 (2) शान्ति पर्व 122/28

माधव, फाल्गुन में गोविन्द, चैत्र में विष्णु, वैशाख में मधुसूदन, ज्येष्ठ में त्रिविक्रम, आषाढ में वामन, श्रावण में श्रीधर, भाद्र में ऋषिकेश, आश्विन में पदनाभ एवं कार्तिक में दामोदर की पूजा करने से मनोवांछित फल मिलने का उल्लेख मिलता है।

अर्चयेत पुण्डरीकाक्षमेवसंवत्सर तु यः।

जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्धात् बहु सुवर्णकम।।[1]

इसी अनु0पर्व के 149 वाँ अध्याय में भीष्म ने विष्णु सहस्रनाम स्त्रोत की चर्चा की है। जिसके अध्ययन से ये सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विष्णु ही परमब्रह्म है वो ही जगत् की सृष्टि स्थिति या प्रलय के हेतु है, और वे ही समस्त ज्ञान के स्रोत परमादि देव है।

ऋषयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः।

जङ्गमाजङ्गम चेद् जगन्नारायणेद्भवम्।

योगोज्ञानं तथा सांख्य विद्या शिल्पदि कर्मच।

वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत् संर्व जनार्दनात।

एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।

नील्ललोकान् व्याप्य भूतात्मा भुडक्ते विश्वभृगव्यायः।।[2]

धुन्धुमार्ग उपाख्यान में मार्कण्डये द्वारा भगवान् विष्णु के दिव्य स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है। कि प्रलयोपरान्त विष्णु एकारणो में शेष शय्या पर विराजमान होते हैं जिनकी नाभि से दिव्य कमल ने लोकों के गुरु एवं पितामह ब्रह्मा जी विराजमान रहते हैं।

सुष्वाप भगवान विष्णुरप्सु योगत एव सः।

नागस्य भोगे महति शेषस्यामिततेजसः।।

लोककर्ता महाभाग भगवानच्युतो हरिः।

नागभोगेन महता परिरभ्य महीमिमाम्।। [3]

---

(1) अनु0प0 109/15 (2) अनु0 149/138–140 (3) वन0 203/12,13

6. ब्रह्मभक्त-

इन्हें प्रजापत्य एवं पितामह कहा गया है, विष्णु की नाभि से निकले दिव्य कमल पर ये उपस्थित हैं। इनके चार मुख हैं वे चारो वेदों के विद्वान हैं सृष्टि के कर्ता बताये गये हैं।

नाभ्यां विनिः सृतं दिव्यं तत्रोत्पन्नः पितामहः।
साक्षाल्लोक गुरुब्रह्मा पद्मे सूर्य समप्रभः।।
चतुर्वेदश्वतुर्मूर्तिस्तथैव च चतुर्मुखः।
स्वप्रभावाद् दुराधर्षो महाबल पराक्रमः।।[1]

7. यम-

इन्हें मृत्यु का आधिपत्य बनाया गया है, कृष्ण वर्ण रक्त अक्ष, भद्रय शिखा, लाल वस्त्र अविशिष्टक है। इनकी आकृति भयंकर और उनके हाथ में पाश है। ये इन्हें पितृ लोक के अधिपत्य कहा गया है। सावित्री उपाख्यान में इनकी विशेष चर्चा की गयी है।

श्यामावदातं रक्ताक्षं पाशहस्तं भयावहम्।
स्थितं सत्यव्रतः पार्श्वे निरीक्षन्तं तमेव च।।
यमं वैवस्वतं चापि पितृणाम करोत प्रभुम्।[2]

8. शिव-

शिव महादेव, शंकर, रुद्र आदि जिसके पर्यायवाची हैं वे कैलाश के निवासी हैं उन्होंने गंगा को अपने सिर पर धारण किया था और यह कार्य भगीरथ की प्रसन्नता हेतु हुआ था।

कैलासं पर्वतं गत्वा तोषयामास शंकरम्।
तपस्तीव्रमुपागम्य कालयोगेन केनचित।।[3]

---

(1) वन0 203/14–15 (2) वन0 297/9,शा0 122/27 (3) वन0 108/26

अनुशासन पर्व 14वां अ0 का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि उस समय शिव उपासना विस्तृत रूप में प्रचलित हो गयी थी। क्योंकि उन्होंने देवाधिदेव कहकर उनकी प्रसन्नता की कामना चर और अचर करते हैं। वे अनेक रूपधारी हैं। सर्वत्र व्यापक हैं। रुद्र रूप में मतवालों की तरह बात करते हैं और सब प्राणियों के हृदय में विराजमान रहते हैं।

गौरः श्यामस्तथा कृष्णः पाण्डु से धूमलोहितः।

विकृताक्षो विशालाक्षो दिग्वासाः सर्ववासकः।।

अरुपस्याद्यरूपस्य अतिरुपाद्यरूपिणः।

अनाद्यन्तमजस्यान्त वेत्स्यते कोऽस्य तत्त्वत;।।

हृदि प्राणो मनो जीवो योगात्मा योग संज्ञितः।

ध्यानं तत्परमात्मा च भावग्रहो महेश्वरः।।[1]

अनु0पर्व के कोष में 17–18 वाँ अ0 में शिव सहस्र नामक स्तोत्र और उसके पठन का फल वर्णित है। महादेव की मूर्ति के संबंध में भी महाभारत में यत्र–तत्र प्रकाश मे यत्र–तत्र डाला गया है। जिसमें कहा गया। वृषं उनका वाहन हैं, वे नीलकण्ठ त्रिशूलधारी चर्माम्बर युक्त है। पिनांकि त्रयम्बकं उमापति के रूप में राजा सगर ने उनकी उपासना की थी। अर्जुन ने भी उन्हे देवाधिदेव नीलग्रीवा ललाटांक्ष जैसे विशेषणों पशुपति अस्त्र से स्तुति कर प्राप्त किया था। द्रोण पर्व में उनका विस्तृत वर्णन है।

शंकरं भवमीशानं पिनाकिं शूलपाणिनम्।

त्र्यम्बकं शिवमुग्रेशं बहुरूपमुमापतिम्। वन0 106/12, शल्य 44/32

यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं त्र्यक्षं शूलधरं शिवं। वन0 37/57

देवदेव महादेव नीलग्रीव जटाधर /वन039/74–78

---

(1) अनु0 14/162–164

नमोभवाय सर्वाय रुद्राय वरदाय च। द्रोण 78/53–62

वृषभंच ददौ तस्मै सह गोभिः प्रजापतिः। अनु0 77/27

इसके साथ ही महाभारत में लिंग को शिव के प्रतीक रूप में स्वीकार कर उसकी पूजा का विधान मिलता है। द्रोण पर्व में लिखा है कि लिंग पूजा से सनातन आत्योग तथा शास्त्रयोग, स्त्रीयोग की प्राप्ति होती है।

जन्मकर्मतपोयोगास्तयोस्तव च पुष्कला।

ताभ्यां लिङ्गेऽर्चितो देवस्त्वयार्चायां युगे–युगे।।

सर्वरूपं भवज्ञात्वा लिङ्गे योऽर्चयति प्रभुम।

आत्मयोश्च तस्मिन वैशास्त्रपोश्च शाश्वतः।।[1]

सौप्तिक पर्व के 17 वाँ अ0 में शिवलिंग की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है।

9 शिव एवं रुद्र-

कल्याणकारी शंकर का एक रूप शिव है। उमा, गौरी, पार्वती उनकी अर्धांगिनी हैं तो दूसरी तरफ वे सृष्टि संहारक रौद्र रूपा भी हैं।

सरुद्रो दानवान हत्वा कृत्वा धर्मोत्तरं जगत।

रौद्रं रुपमथोत्क्षिप्य चक्रे रूपं शिवं शिवः।।[2]

महाभारत के अनेक पात्रों द्वारा विभिन्न समयों में शिव की स्तुति कर मनोवांछित फल प्राप्त करने के विवरण उपलब्ध हैं। जैसे पूर्वजन्म में द्रौपदी की शंकर आराधना, द्रौपदी स्वयंवर के समय लक्ष्य भेद से पूर्व अर्जुन का स्मरण राजा श्वेत की जरासन्ध कुमारी कंधारी राजा सगर, जयद्रथ, अम्बा, सोमदत्त के वीर पुत्र तथा अश्वत्थामा ने शिव का स्मरण किया था।

10श्रीकृष्ण-

महाभारत को श्रीकृष्ण का शब्द वयुः भी कहा गया है। उनकी ईश्वरी विभूति

---

(1) द्रोर्ण पर्व 201/92–93 (2) शा0 166/63

का वर्णन गीता के साथ ही विभिन्न उपाख्यानों मे भी उपलब्ध है। वे पाण्डुवों के सम्बन्धी और मित्र हैं, और उनकी ओर से संधि विग्रहक दूत भी बनकर गये थे। उनके दार्शिनिक स्वरूप की व्याख्या हेतु योगीश्वर अनादि अनन्त, अज्ञेय, अज, अव्यय, परमब्रह्म जैसे विशेषण मिलते हैं।

11सूर्य-

प्राचीन काल में कुरुराज ने सूर्य की अराधना की थी। कर्ण तो साक्षात ही सूर्य पुत्र कहलाया है। श्रीकृष्ण भी सूर्य की उपासना करते थे। शरशय्या पर लेटे भीष्म ने उत्तरायण की प्राप्ति तक सूर्य का ही स्मरण करते रहे। (वन पर्व3/14–28) द्यौम्य ने युधिष्ठिर को सूर्य का अष्टोत्तर शत नाम सुनाया था जिसमें उन्हें अनन्त, विश्वात्मा, भूताश्रय विश्रुतोमुख कहा है।

सूर्योऽर्यमा भगस्त्वष्टा पूषार्कः सविता रविः।
गभस्तिमानजः कालो मृत्यु र्धाता प्रभाकरः।।
पृथिव्यापश्च तेजश्च एवं वायुश्च परायणम।
सोमोबृहस्पतिः शुक्रो बुधोऽङ्गनेरक एव च।।
भूताक्षयो भूतपतिः सर्वलोकनमस्कृतः।
स्रष्टा संवर्तको वह्निः सर्वस्यादिर लोलुपः।।
त्वामुपस्थाय काले तु ब्राह्मण वेदपारगाः।
स्वशाखाविहितैर्मन्त्रेर्श्चर्चन्त्यृषिगण र्चितम्।।
तव दिव्य रथं यान्तमनुयान्ति व रार्थिनः।
सिद्धचारणगन्धर्वा यक्षगुहकपन्नगाः।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में युधिष्ठिर की स्तुंति से प्रसन्न होकर सूर्य ने ऐसा ताम्र पात्र दिया था। जिसमें द्रौपदी के भोजन करने के पूर्व तक अन्नपूर्ण रहने का उल्लेख है।

---

(1) वन0 पर्व 3/16,17,23,39,40

12 गणेश-

महाभारत में गणेश महाभारत के लेखक के रूप में उल्लिखित है।

ख-देवियां-

महाभारत में देवताओं के साथ–साथ देवी पूजन का विधान भी उल्लिखित हैं सौप्तिक पर्व में देवी के कालरात्रि स्वरूप का वर्णन इस प्रकार हुआ है। श्याम वर्ण शरीर, रक्तवर्ण नेत्र, रक्त चंदन चर्चित, रक्त वस्त्रावेष्टिक थी।

काली रक्तास्यनयनां रक्तमाल्यानुलेपनाम्।
रक्ताम्बर धरामेंकां पाशहस्तां कुटुम्बिनीम।।
दहयूः कालरात्रिं ते गायमानाब स्थिताम्।
नराश्वकुंजरान् पाशैर्वदध्वाधोरैः प्रतस्थुषीम।।[1]

इसी प्रकार मोंसल पर्व में भी इसी काली के भयंकर रूप का उल्लेख हुआ है।[2]

13 गंगा-

सभी धर्मशास्त्रों में गंगा नदी कही गयी है। किन्तु महाभारत में उसे देवी के रूप में भी कहा गया है। सगर सुतों के उद्धार हेतु धरती में आयी गंगा शान्तनु की पत्नी बनी और वह ही भीष्म की जननी थी। गंगा जल का महात्म गुणगान महाभारत में सर्वत्र किया गया है।

श्रुताभिलषिता पीता स्पृष्टा दृष्टाविगहिता।
गंगा तारयते नृणाभुमौ वंशौ विशेषतः।।
दर्शनात् स्पर्शनात पानात तथा गंगेति कीर्तनात।
पुनात्यपुण्यान् पुरुषांञ्छत शोऽथ सहस्रशः।।
य इच्छेत् सफलं जन्म जीवितं श्रुतमेव च।
स पितृस्तर्पयेद गांगमभिगम्य सुरास्तथा।।[3]

---

(1) सौप्तिक पर्व 8/69,70 (2) मौसल पर्व0 3/1 (3) अनु0 26/63,64,65

14 दुर्गा-

युधिष्ठिर ने अज्ञातवास के समय त्रिभुवनेश्वरी दुर्गा की स्तुति की थी। जिसमें यशोदा के गर्भ से उत्पन्न और कंस द्वारा शिला में पटकी गयी, आकाश में स्थित देवी दिव्य मालया धारणी दिव्याम्बरा, खण्डहस्ता पूर्णाचन्द्र मुरवा वाली हैं। वे अष्ट भुजा भी हैं। जिनकी स्तुति से मनुष्यो का उद्धार होता है।

भारावरणे पुण्ये ये स्मरन्ति सदाशिवाम्।
तान वै तारय से पापात् पङ्के गामिव दुर्बलाम्।।
स्तोतुं प्रचक्र में भूयो विविधैः स्तोत्रसम्भवैः।
आमन्त्रय दर्शनाकाङक्षी राजा देवी सहानुजः।।
नमोऽस्तु वरदे कृष्णे कुमारि ब्रह्मचारिणि।
बालार्क सदृशाकारे पूर्णचन्द्रनिभानने।।[1]
तेन त्वं स्तूयसे देवि त्रिदशै पूज्यसेऽपि च।
त्रैलोक्यरक्षणार्थाय महिषासुरनाशिनि।।
प्रसन्ना में सुरश्रेष्ठे दयां कुरु शिवा भव।
दुर्गात् तारय से दुर्गे तत् एवं दुर्गा स्मृता जनैः।
कान्तारेष्ववसन्नानां मग्नानां च महार्वणवे।।[2]

तात्पर्य यह है कि दुर्गति से उद्धार करने वाली देवी दुर्गा कहलायी अर्जुन ने भी युद्ध से पूर्व भगवती दुर्गा की स्तुति की थी, जिसमें उन्हें भद्रकाली, कात्यायनी, महाकाली, अष्टशूलधारिणी, उमा, खड्गखेटक, सावित्री, स्वाहा, स्वधा, तुष्टि दात्रि के उल्लेख हैं।

भद्रकालि नमस्तुभ्यं महाकालि नमोस्तुते।
चण्डि चण्डे नमस्तुभ्यं तारिणि वरवर्णिनि।।
अट्टशूलप्रहरणे खड्गखेटकधारिणि।
गोपेन्द्रस्यानुजे ज्येष्ठे नन्दगोपकुलोदभवे।।

---

(1) 4 विराट पर्व 6/5,6,7,15,20 (2) भीष्म पर्व0 23/5,7,12

स्वाहाकारः स्वधा चैव कला काष्ठा सरस्वती।

सावित्रि वेदमाता च तथा वेदान्त उच्यते।।

तुष्टिः पुष्टि धृतिदीप्तिश्चन्द्रादित्य विवर्धिनी।

भूति र्भूतिमतां संख्ये दीक्ष्यसे सिद्धचारणौं।।[1]

इन्हीं दुर्गा सौम्य रूप उमा शैलपुत्री है।

15श्रीदेवी-

श्रीदेवी ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री है वही लक्ष्मी है। सत्यनिष्ठ और कल्याण और उपासक के पास वो स्वयं ही आ जाती है। शांतिपर्व में उनकी शोभा ऐश्वर्य का विस्तृत वर्णन महाभारतकार ने किया है–

नक्षत्र कल्पाभरणं तां मौक्तिकसस्रजम्।

श्रियं ददृशतुः यद्यां साक्षात् पद्यदलस्थिताम्।।

अहं लक्ष्मीरहं भूतिः श्रीश्चाहं बलसूदन।

अहं श्रद्धा च मेघा च संनति विंजिति स्थिति।।

अहं धृतिरहं सिद्धिरहं त्विड. भूतिरेव च।

अहं स्वाहा चैव, संस्तुतिर्नियतिः स्मृतिः।।

धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनी।

प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम।।[2]

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये अतीन्द्रि सत्ता की ओर प्रारम्भ से ही आकृष्ट रहा है, और वह उसे अपने समीप लाने हेतु प्रतीकों की परिकल्पना की पौराणिक युग तक आते–आते यही प्रतीक देवी–देवता के रूप में उपास्य बन गये। वैष्णव शैव शाल्य या पंचदेव उपासना के साथ अनेक देवियों यक्ष, पिशाच, गन्धर्व इत्यादि की पूजा उपासना का विधान प्रचलित हो गया है। यह पूजा सात्विक राजस, और तामस रूप में की जाती रही है, जिसका विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत् गीता में उपलब्ध है।

---

(1) अनु0 140, शल्य0 44/33 (2) शा0 228/15,22,23,26

कर्मवाद एवं भक्तिवाद की प्रबलता

वैदिक काल से ही मनुष्य का धर्म मोक्ष प्राप्त करना रहा है। एतद् हेतु विभिन्न मार्गों की परिकल्पना की गयी है। जिनमें कर्मवाद सबसे प्राचीन सिद्धांत है। इसमें कहा गया है कि जीव को जन्ममरण के चक्र में कर्मानुरोध से संसार की अनेक योनियों में भटकना पड़ता है उपनिषदों में कामना की गयी है कि व्यक्ति सौ वर्ष तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करें। इस प्रकार वेद, उपनिषद से लेकर पौराणिक युग में कर्म सिद्धांत ने अनेक रूप बदले हैं। श्रीमदभागवतगीता में कर्म एवं सन्यास की विस्तृत चर्चा श्रीकृष्ण ने कर्मयोग को सर्वश्रेष्ठ बताया है भीष्म पितामह ने भी कर्मपुरुषार्थ की शिक्षा के रूप में प्रवृत्ति मार्ग का ही उपदेश किया है। इस प्रकार गीता में श्रीकृष्ण तथा अनु0पर्व में कर्म पुरुषार्थ की ही चर्चा है। कृष्ण कहते हैं कि वे भगवान होते हुये भी कर्म करते हैं–

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एवं कर्मणि।
यहि ह्याहं न वर्तेयं जातुं कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्वन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में आसक्ति रहित होकर कर्म करने की चर्चा भीष्म पर्व में भी की गयी है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भा मा ते संङ्गोऽस्त्व कर्मणि।
योगस्थः कुरु कर्मणि सङ्गंत्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयासिद्धयो समोभूत्वा समत्वं यो उच्चयते।।[2]

संपूर्ण महाभारत का अवलोकन करने से कर्मयोग की तीन विशेषतायें सामने आती हैं।

---

(1) गीता 3/22,23 (2) भीष्म0 26/47,48

1. कर्म चक्र की अनिवार्यता।

2. धर्म चक्र से पलायन धर्म की कायरता है।

3. धर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्मचक्र की अनिवार्यता को भगवान कृष्ण प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा प्राणी से कर्मसिद्ध कराने की बात कहते है।

न हि कश्चित क्षणमपि जातुं तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्मवशः कर्म सर्व प्रकृति जै गुणैः।।[1]

यही बात व्यास ने युधिष्ठिर को समझाई थी।

तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत।
शुभाशुफलं चैते प्राप्नुवन्तीति में मतिः।[2]

कर्म से पलायन हेतु अर्जुन ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये किन्तु सच्ची शांति आत्मसुख वस्तुतः आसक्ति रहित कर्म में ही है। कर्मनिष्ठ व्यक्ति दुष्कर्मों का प्रायश्चित सत्कर्मों से करता है। क्योंकि प्रायश्चित के बिना परलोक में उसे शांति नही मिलेगी।

तद राजन् जीवमानस्त्वं प्रायश्चितं करिष्यसि।
प्रयितश्चिन्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत।।[3]

मोक्ष प्राप्ति के साधनों की दृष्टि से यदि श्रीमद्भागवत गीता का विश्लेषण और वर्गीकरण करें तो अठारह अध्यायों की कर्मज्ञान और भक्ति तीन षष्ठकों में विभक्त किया जा सकता हैं। इन कर्मों के तीन सोपान बनाये जा सकते हैं। प्रंथम सोपान आकांक्षा का है। द्वितीय सोपान कर्तव्य के अभिमान का त्याग, तृतीय सोपान ईशार्पण है, और गीता में साधनमार्ग का संबंध निष्काम कार्य से करके उसका पर्यावसान शरणागत में किया है। कमाकांक्षा में आसक्ति की अनुभूति का अभाव

---

(1) श्रीमद् भागवतगीता 3/5 (2) शा0 32/21 (3) वहीं 32/25

कहा है। अभिमान के परित्याग हेतु गीता में कहा गया है, कि मनुष्य त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति का दास है, अतः उसे कर्म अभिमान करने का अधिकार नही है। कर्मयोगी को कर्मों से पलायन कर संयासी होने का कोई स्थान नही है। गीता के चतुर्थ अध्याय में ज्ञान कर्म एवं संयास पर विस्तृत विचार किया गया है। जिसकी टीकायें विभिन्न मत मतान्तरों में व्याप्त है। जिनका विश्लेषण यहाँ अप्रासंगिक है। साधारण शब्दों में हम यह कह सकते हैं, कि कर्मयोगी संयमी हैं वह संन्यासी के समान ही योग से मुक्त होकर ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। ज्ञान उसके लिये मनः शक्ति के विकास का साधन है। समत्व योग की चर्चा इसी संदर्भ में की गयी है। इस प्रकार जब कर्म कर्ता अनाशक्त बुद्धि, जितेन्द्रिय, विगत स्पृहः हो जाता है तब वह कर्म न करने की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। अज्ञानी तो आसक्ति युक्त कर्म करता है, किन्तु कर्मयोगी अनाशक्त भाव से कर्म करता है। इसी संतुलन से ईश्वर के प्रति शरणागति या प्राप्ति होती है।

संपूर्ण महाभारत में जितने भी कर्मों का वर्णन है, वे दो ही प्रकार के हैं। सकाम भाव से किये गये कर्म जिनका उल्लेख महाभारत में कथायें आख्यान या गाथाओं के रूप में हैं। दूसरा निष्काम भाव से किये गये कर्म जिसमें विशेष रूप से महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन को उपदेश रूप में किया गया है, और अन्त में अर्जुन ने पुनः इस ज्ञान को श्रीकृष्ण के मुख से संक्षिप्त रूप में सुना क्योंकि वह युद्ध विजय और परिवर्तित महाविनाश से उत्पन्न दारुण परिस्थितियों से विचलित हो गया था।

भक्तिवाद-

मनुष्य के कार्यों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या आनंद प्राप्त करना माना गया है। जगत् जड़वानल में फंसकर वह ब्रह्मानुभूति नही कर पाता। जीव इस नश्वर संसार में आकर अपने अंदर स्थित अविनाशी ब्रह्म को भूल जाता है। इसीलिये उसे पुनरपि जन्मान्म पुनरपि मरणं के चक्र में फंसना पड़ता है। जिसकी मुक्ति भक्ति मार्ग से ही संभव है।

भक्ति शब्द भज से सेवायाम् धातु में क्तिन प्रत्यय लगाने से बनता हैं। जिसका व्युत्पत्ति परक अर्थ है, सेवा करना। जीव की सामर्थ्य से परे है, कि वह ईश्वर की सेवा कर सके। इसलिये शांडिल्य भक्तिसूत्र में सापरोनुराक्ति ईश्वरे[1] के अनुसार प्रकृष्ट अनुराग को भक्ति कहा है। श्रीमधुसूदन सरस्वती के अनुसार भगवदभक्ति सेवन से द्रवीभूत चित्त की सर्वेश्वर के प्रति जो अविछिन्न प्रवृत्ति है वही भक्ति है।[2] तात्पर्य यह है कि ईश्वर के अनन्त नाम रूप और भाव की दृष्टि से भक्त अपना संबंध जोडता है। अपनी चित्त प्रवृत्तियों को उसी में लय कर देता है। इस भक्ति के अनेक भेद और विभाग किये गये हैं। मूलतः भक्ति के तीन तत्व होते हैं। उपास्य, उपासक और उपासना। अवतारवाद की प्रतिष्ठा के कारण उपास्य का स्वरूप अंशावतार, कूलावतार से आगे बढ़कर पूर्णावतार और साक्षात परं ब्रह्म के सगुण और निर्गुण की ओर विकसित हुआ।

महाभारत का भक्तिवाद, अवतारवाद एवं पञ्चरात्र के सिद्धांत के अनुरूप वर्णित है। इसमें निर्विवाद रूप से श्रीकृष्ण को उपास्य रूप में चित्रित किया गया है, क्योंकि राजसूय यज्ञ में अग्र पूजा कृष्ण की ही की गयी थी। भीष्म ने कृष्ण को ही सबसे पूज्य कहा है।

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः।।
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं हादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः।।[3]

कृष्ण रूपी उपास्य के स्वरूप का चित्रांकन करते हुये मार्कण्डेय प्रसंग में व्यास जी ने लिखा है, कि बालमुकुंद श्रीकृष्ण, नारायण, विष्णु, ब्रह्म, शक्र, इन्द्र, सोर, प्रजापति, विधाता सभी कुछ वे ही हैं।

---

(1) शंडिल्य भक्ति सूत्र–2 (2) भक्ति रसायन 1/3 (3) सभा पर्व 36/28,29

अहं नारायणों नाम प्रभवः शाश्वतोऽव्ययः।

विधाता सर्वभूतानां संहर्ता च द्विजोत्तमा।।

अहं विष्णुरहं ब्रह्मा शक्रश्चाहं सुराधिपः।

अहं वे श्रवणो राजा यमः प्रेताधिपस्तथा।

अग्निरास्यं क्षिति पार्दो चन्द्रोदित्यौ च लोचने।।

द्यौमूर्धारवं दिशः श्रोत्रे तथाऽयः स्वेदसम्भवाः।

सत्वस्था निरहङ्कारा नित्यमध्यात्मकोविदाः।

मामेव सततं विप्राश्चिन्तयन्तउपसते।।[1]

इन्ही कृष्ण को भगवान मानकर युधिष्ठिर ने अर्न्तयामी उपास्यसृष्टि नियन्ता पुरुषोत्तम इत्यादि विशेषण लगाकर स्तुति की है।

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामहुः सात्वतां पतिम्।

नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः।।

विश्वकर्मन नमस्ते विश्वात्मन विश्वसम्भव।

विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण बैकुण्ठ पुरुषोत्तम्।

वराहोऽग्नि वृहभदानु र्वभस्ताक्ष्र्यलक्षणः।

अनीकसाहः पुरुषः शियिविष्ट उरुक्रमः।

कृष्ण धर्मस्त्वमेवादि वृषदर्भो वृषाकपिः।

सिन्धुर्विधर्मास्तिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्युतः।।[2]

श्रीमद्भगवत गीता के 11वें अध्याय में श्रीकृष्ण की विभूतियों का ऐसा व्यापक वर्णन है जिसे पढकर श्रीकृष्णस्तु भगवान् स्वयं का प्रत्यक्ष बोध होता है, उनके इस विचार स्वरूप के संदर्भ में कुछ श्लोक द्रष्टव्य हैं–

अनेकवक्त्रन्यनमने काभ्दुतदर्शनम्।

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोधतायुधम्।।

---

(1) वन0 189/4,5,7,16 (2) शा0 43/4,5,8,10

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद् युगपदुत्तिां।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मन।।

तत्रैकस्थं जगत कृत्सनं प्रतिभक्तमनेकधा।

अपश्यद देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।[1]

महाभारत के नारायणी उपपर्व में श्रीकृष्ण को पूर्ण भगवान की प्रतिष्ठा करके उन्हें ही संसार का नियामक कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि रूपों में प्रचलित भगवान के सभी रूपों का पयविसान श्रीकृष्ण में हुआ है। एतद् विषयक कुछ श्लोक उदृधत हैं

सुरासुरान् नगरक्षः धिशाचान्

नरान सुपणनिध गन्धर्व यक्षान।

पृथविवधान भूतसंधाश्च

विश्वास्त्वत्सम्भूतान विद्य सर्वोस्तथैव।

ऐन्द्र याम्यं वारूणं वैत्तपाल्यं

पैत्रं त्वाष्टं कर्म सौम्य च तुभ्यम्।

रूपं ज्योति शब्द आकाशवायुः

स्पर्शः खाद्यं सलिलं गन्धउर्वी।

कालो ब्रह्मा च ब्राह्मणाश्च

त्वत्सम्भूतं स्थास्नु चरिष्णु चेदम्।।

दिव्यामृतौ मानसौ द्वौ सुपर्णो।

वाचा शाखाः पिप्पलाः सप्तगोपाः।

दशाप्यन्ये ये पुरं धारयन्ति।

त्वया सुष्टास्त्वं हि तेभ्यः परोहि।।

आत्मानं त्वामात्मनोऽनन्यबोध

(1) श्रीमद्भगवद गीता 11/10,12,13,

विद्वानेव गच्छति ब्रह्म शुक्रम्।

अस्तौषं त्वां तव सम्मानमिच्छन्

विचिन्वन् वै सदृशं देववर्य।

सुदुर्लभान देहिवरान् ममेष्टा।

नभिष्टुतः प्रविकार्षीश्च मायाम्।।[1]

महाभारत को भगवान श्रीकृष्ण का शब्द वपु कहा जाता है। वैदिक काल से लेकर पौराणिक धर्मानुसार पञ्चरात्र तथा सात्त्वत धर्म के सिद्धान्तानुसार सर्वत्र कृष्ण को उपास्य अज, अव्यय, निर्गुण, सगुण ब्रह्म कहा गया है। वे ही संसार के एक मात्र उत्पत्ति पालक और संहर्ता हैं। विविध आख्यानों व्यास कथन एवं कृष्ण का स्वगत कथन भी इस सिद्धांत की पुष्टि करता है। अंशावतार कलावतार, लीलावतार, व्यूह रूप में श्रीकृष्ण भगवान को ही ब्रह्म कहा गया है। शांतिपर्व के 345 अध्याय से लेकर 350 अध्याय तक इन्हीं तत्त्वों का वर्णन है। वैशम्पायन ने कहा है कि–

कृष्ण एव हि लोकानां भावनो मोहनस्तथा।

संहारकारश्चैव कारणं च विशांपते।।[2]

अवतारवाद के साथ उसके कारणों की भी चर्चा विस्तृत रूप में महाभारत में उपलब्ध है। शाप और वरदान के अतिरिक्त गो, ब्राह्मण आदि की रक्षा अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना हेतु भगवान के अवतारकारण कहे गये है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लार्नि र्भवति भारत।

अभ्युत्थानमर्धमस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

इस प्रकार उपास्य रूप में कृष्ण की चर्चा कर महाभारत में साधनों के रूप में अर्चा, पूजा, स्तुति, सदाचार, विवेक, दया, क्षमा, इत्यादि की चर्चा हुई है। इसे हम

---

(1) द्रोण पर्व 201/73,74,76,78 (2) श्रीमद्भगवद्गीता 4/7

दार्शनिक विवेचन के बअन्तर्गत मोक्ष प्राप्ति के साधनों के अर्न्तगत विशिष्ट रूप से चर्चा करेंगे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि गीता में वर्णित है कि कर्म में ही मनुष्य का विशेष अधिकारी होता है फल में नहीं इसलिए महाभारतकालीन युग में कर्म की प्रबलता अधिक थी। प्रत्येक मनुष्य राजा हो या रंक सबको अपने कर्म के प्रति सजग्र रहना चाहिए। पितामह ने भी कर्म पुरूषार्थ की शिक्षा दी। महाभारतकाल में भक्ति की प्रबलता अति थी। महाभारत अनेक उदाहरण द्रष्टव्य होते है कि कृष्ण ने स्वयं कहा था कि जब–2 धर्म की हानि होगी मै अवतार लूगां। व्रत, पूजन, स्तुति, सदाचार आदि का विशेष महत्व उपरोक्त तथ्यों से ही स्पष्ट हो चुका है हमेशा ही कार्य किये बिना कोई वस्तु हस्तस्थ नहीं होती है।

महाभारत में दान की स्थिति

भारतीय धर्म में दान का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि दान देने से मन तो शुद्ध होता है, और विषय वस्तुओं से अशक्ति भी कम होती जाती है। दान की महिमा महाभारत के अनेक पर्वों में मिलती है। भृगु ने भरद्वाज से कहा था कि मूलतः दान दो प्रकार का होता है।

1. परलोक के लिये।

2. इहलोक के लिये।

सत्य पुरुषों को जो कुछ दिया जाता है, वो परलोक में और असत्य पुरुषों को जो दिया गया दान इस लोक में फलदायी होता है।

दानं तु द्विविधं प्राहुः परत्रार्थ मिहैव च।
सभ्दयोयद् दीयते किंचिद् तत्परत्रोपतिष्ठतेः।।
असभ्दयो दीयते यत्तु तद् दानमिह भुज्यते।
यादृशं दीयते दानं तादृशं फलमश्नुते।।[1]

दान की पात्रता और दाता के संदर्भ में विस्तृत चर्चा महाभारत में की गयी है। कहा गया है, कि यश के लोभ भय के कारण अथवा उपकार न करने वाले को दान न दिया जाना चाहिये। नाचने, गाने वाले, हंसी मजाक करने वाले, चोर, निन्दक, कान्तिहीन, अंगहीन, बौने, दूषित कुल में उत्पन्न व्रत एवं संस्कार से शून्य व्यक्तियों को दान नही देना चाहिये।

न दघाद यशसे दानं न भयान्नोपकरिणे।
न नृत्य गीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः।।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके।
न वाग्धीने, विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने।

---

(1) शा0 190/3,4

न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः।

न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते।।[1]

पात्रता के संदर्भ में श्रोत्रिये ब्राह्मण, निर्धन गृहस्थ और अग्निहोत्र करने वाले को ही दान के योग्य माना गया है।

श्रोत्रियाय दरिद्राय गृहस्थायाग्निहोत्रिणे।

पुत्रदाराभिभूताय तथा ह्मनुपकारिणे।।[2]

इसी प्रकार पिता गुरुजनों का निन्दक मिथ्यावादी कृतध्न, वेद विक्रेयता शूद्र से यज्ञ कराने वाले को दिया हुआ दान व्यर्थ कहा गया है।

गुरौ चानृतिके के पापे कृतध्ने ग्रामयाजके।

वेदविक्रयिणे दत्तं तथा वृषलयाजके।।

ब्रह्मबन्धुषु यद् दत्तं यद् दत्तं वृष लीपतौ।

स्रीजनेषु च यद् दत्तं ब्यालग्राहे तथैव च।

परिचारकेषु यद् दत्तं वृथा दानानि षोडश।।[3]

महाभारत में गोदान, स्वर्णदान, धनदान, कन्यादान, शरीरदान की चर्चा करते हुये इन्द्र दमन, शिवि, देवावृध, अत्रि वंशीय, महाराजा अम्बरीष, सावित्री, जमदग्नि पुत्र परशुराम, करंधम पुत्र मरुत, मित्र सहस्रजित, शाल्वराज, लोभपाद, प्रसेनजित इत्यादि के उदाहरण दान महिमा के रूप में दिये गये हैं।[4]

तात्पर्य यह है कि स्वर्ण अग्नि की प्रथम संतान भूमि भगवान विष्णु की पत्नी हैं तथा गो सूर्य की कन्यायें हैं। इसलिये जो व्यक्ति इनका दान करता है। वह परमपद को प्राप्त होता है। इस दान किये हुये धन का संग्रह निषेध कहा गया हैं, उसकी श्रेष्ठगति तो दान में ही है।

लब्धस्य त्यागमित्वाहुर्नभोगं न च संचयम।

तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति।।[5]

---

(1) शा0 36/36–38 (2) वन0 200/27 (3) वन0 200/7,8

(4) शा0 234 (5) शा0 26/28

सत्कार करके दिया दान उत्तम कोटि का याचना करने पर दिया दान मध्यम कोटि का, तथा अवहेलना तथा अश्रद्धा पूर्वक दिया दान अधमकोटि का कहलाता है।

अभिगम्य च तत् तुष्टया दत्तमाहुरभिष्टतम।
याचितेन तु यद दत्तं तदाहुर्मध्यमं बुधाः।।
अवज्ञया दीयते यत् तथैवा स्त्रद्वयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्वादिनः।।[1]

पुरूषार्थ के विविध स्वरूपों में दान-

मानव सभ्यता के विकास के साथ जब उसके मस्तिष्क में ज्ञान का उदय हुआ और वह पुरूषार्थ की प्रेरणा से प्रेरित हुआ तो उसे ऐसा लगा कि वह किसी भी रूप में दूसरे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करे। जब समाज में मुद्रा का प्रचलन नही था और धातुओं का अविष्कार नही हुआ था, उस समय भी उसके हृदय में सहयोग की भावना थी। प्रसवकाल, शारीरिक पीड़ा तथा असाध्य श्रम को साध्य बनाने के लिये वह अपने जैसे व्यक्तियों को सहयोग प्रदान करता था। जिन वस्तुओं का संचय वह अपने जीवन के लिये और भविष्य की सुरक्षा के लिये करता था उसका कुछ भाग वह दूसरों के हित के लिये दे देता था। दान की भावना का उदय यहीं से प्रारम्भ होता है। इस सिद्धांत की पुष्टि अंग्रेज विद्वान **डर्बिन** भी करते है। उनके मतानुसार "जब व्यक्ति जंगली अवस्था में था उस समय व्यक्ति की सहयोग की भावना की दान माना जाता था।" इसी सिद्धांत की पुष्टि एक दूसरे विद्वान **पीटर क्रीपाटकिन** ने भी की है, इनके मतानुसार, जब कोई व्यक्ति भौतिक कारणों से कमजोर होता था और उसका संतुलन बिगड़ जाता था उस समय बौद्धिक और सामाजिक गुणों के आधार पर दान देने और दान लेने की पृथा थी। मनु ने दान पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है, दान के ही माध्यम से गृहस्थ आश्रम की महत्ता स्वीकार की गई है। **मनु** के अनुसार–

(1) शा0 293/18,19

"तपः परं कृतयुगे लेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञ मेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे।"
अर्थात कृत (सतयुग) त्रेता, द्वापर एवं कलयुग में धार्मिक जीवन के प्रमुख रूप क्रम से तप, आध्यात्मिक ज्ञान, यज्ञ एवं दान है।

मनु ने गृहस्थाश्रम की महत्ता गायी है और कहा है कि अन्य आश्रमों से यह श्रेष्ठ है क्योंकि इसी के द्वारा अन्य आश्रमों के लोगों का परिपालन होता है।

"यास्मात्त्रयोऽप्वाश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन महान्हवम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।।

प्राचीन धर्मग्रन्थों में मानव उत्सर्ग के लिये योग, होम और दान तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। योग अथवा यज्ञ के माध्यम से व्यक्ति वैदिक, मंत्रों के साथ कुछ वस्तुओं का त्याग करता है। होम के माध्यम से व्यक्ति किसी वस्तु के लिये किसी देवता के पक्ष में आहुति देता है उसके पश्चात् उस वस्तु का स्वामी दूसरे को बना दिया जाता है तथा दान को देने की स्वीकृति मानसिक या याचिक या शारीरिक रूप से हो सकती है। विविध शास्त्रों में दान की परिभाषा दी गयी है। जो इस प्रकार है।

"अर्थानामुदिते पात्रे यथावत्प्रतिपादनम्। दानमित्यमिनिर्दिष्टिं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।।
अर्थात शास्त्र द्वारा उचित माने गये व्यक्ति के लिये शास्त्रानुमोदित विधि से प्रदत्त धन को दान कहा जाता है।

"पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनवेक्ष्य प्रयोजनम्। केवलं धर्मबुद्वध्या यद्धर्मदानं तदुच्यते।।"
अर्थात जब किसी उचित व्यक्ति को केवल अपना कर्त्तव्य समझ कर कुछ दिया जाता है तो उसे धर्मदान कहा जाता है।

डॉ० विजयनाथ ने अपने शोधप्रबन्ध में दान को इस प्रकार परिभाषित किया है, Giftmaking according to Anthropologists, in its Various aspects of mutul aid redistribution and exchange was central to the economic functioning of all early societies, As One Anthropologist puts it." ।।

सुप्रसिद्ध विद्वान का मत है कि वैदिक युग में दिया जाने वाला दान एक प्रकार आर्थिक सहयोग था, जो विविध उद्‌देश्यों को ध्यान में रखकर व्यक्ति विशेष, संस्था विशेष को दिया जाता था, इसका प्रचलन इस युग के समाज से अर्थ के आदान–प्रदान के रूप में प्रचलित था। इससे यह स्पष्ट होता है कि दाता अपने अतिरिक्त धन का जब सदुपयोग करना चाहता था उस समय वह दान की पृष्ठभूमि का निर्माण करता था और वह सुपात्र याचक, व्यक्ति अथवा संस्था की खोज करता था जिसे वह दान दे सके, इसके पीछे अध्यात्मिक और धार्मिक भावनायें भी कार्य करती थी। वह सोंचता था कि दान देने से उसके पूर्वकाल की गरिमा बनी रहेगी, उसके पूर्वज जो वर्तमान समय में जीवित नही है वे प्रसन्न होगें तथा जब वह दान का यशलाभ करके स्वर्गगामी होगा तो वह अपने किये गये दान के द्वारा वर्तमान नैतिक विकास के साथ–साथ उत्तम गति को प्राप्त करेगा।

एक प्रकार से दान उन लोगों के लिये चुनौती भी थी जो किसी कार्य के बदले कृतज्ञता ज्ञापित करने की भावना रखते थे। इस प्रकार वे अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा, शक्ति और स्थिति अपनी जाति और क्षेत्र मे बनाये रखते थे। उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि व्यक्ति दान देने के समय में कुछ विशिष्ट उद्‌देश्य मस्तिष्क में रखता था। उसका प्रथम उद्‌देश्य अतिरिक्त अर्जित धन का सदुपयोग करना था। इस प्रकार से दिया गया धन कृतज्ञ व्यक्तियों के पास स्थानान्तरित हो जाता था। जो किसी प्रभावशाली कार्य के लिये उसे व्यय करते थे, उस कमी को दान के माध्यम से पूरा कर देते थे। इस प्रकार दान एक प्रकार से आर्थिक सहयोग तथा मुद्रा को आगे बढ़ाना था। इसका यह भी एक उद्‌देश्य था कि संचित धन का वितरण उपयोगिता के आधार पर होता रहे। कालान्तर में दान एक सामाजिक परंपरा और धार्मिक कृत्यों में शामिल हो गया। जब धनी व्यक्तियों के पास सर्वाधिक धन एकत्रित हो जाता था, उस समय वे व्यक्ति जो किसी प्रकार का कोई

उद्योग नही करते थे, तथा अमीरी और गरीबी के अन्तर को कम करते हुये दोनो के मध्य प्रेम बनाये रखते थे। इस प्रकार से उत्पादक और अनुत्पादक दोनों के मध्य प्रेम बना रहता था। वह व्यक्ति जो धनी व्यक्ति से दान प्राप्त करता था उसे दान दाता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी पड़ती थी। और वह दानदाता की अनीति का भी विरोध नही कर पाता था।

दान का मनोवैज्ञानिक आधार यह है कि धर्मभीरू व्यक्ति अधर्म से अपनी रक्षा करना चाहता है और धार्मिक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित रहना चाहता था इसलिये वह सामाजिक बदनामी से बचने के लिये कुछ ऐसे कार्य दान आदि के माध्यम से करना चाहता था जो उसके दुष्कर्मों पर पर्दा डालते हैं। कोई भी याचक यह जानने का प्रयास नही करता कि दाता के पास धन किन स्रोतों से आया और वह किन विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यह दान कर रहा है। कहीं–कहीं याचक भी दानदाता को अपनी शठता का शिकार बना लेता है, उदाहरणार्थ– वामन के रूप में अवतरित भगवान विष्णु ने पाताल लोक के महादानी राजा बलि को अपनी शठता का शिकार बनाया। इसी प्रकार सतयुग में महादानी राजा हरिश्चन्द्र को स्वर्ग के देवताओं ने विश्वामित्र के माध्यम से षड़यन्त्र करके उसे ठगा और याचना करके उसका सबकुछ हरण कर लिया, परिणामस्वरूप उन्हें अपनी दानशीलता के कारण अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कभी–कभी याचक भी दानदाता को धर्मसंकट में डाल देता था।

<u>दान और दक्षिणा का विश्लेषण–</u>

अधिकांश धर्मावलम्बी जो अधिक शिक्षित नही हैं, वे दान और दक्षिणा में विशिष्ट अंतर नही कर पाते। जबकि व्याकरण शास्त्रियों के अनुसार इनमें व्यापक अंतर है। व्याकरण ग्रन्थ शब्दकल्पद्रुम के अनुसार दान को निम्न रूप में परिभाषित किया गया है, "दान, आर्जवे। छिदि। इति कविकल्पद्रुमः।। ऋजुरवक्रस्तस्य भाव

आर्ज्जवं ऋजुकरणम्। अ दीदांसति दीदांसते कालं वर्द्धकिः ऋजु करोतीत्वर्थः। ऋजुभावः इति विद्यानिवासः। दीदांसति साधुः। ऋजुः स्यादिव्यर्थः। छेदे दानाति दानते। इति वोपदेवः। तत्र तिवादयों न स्युरिति रमानाथः।

अर्थानामुदिते पात्रे श्रद्धयां प्रतिपादनम्। दानमित्यामिनिर्दिष्टं व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते।।

सम्प्रदानस्वत्वापादकद्रव्यत्वायो दानमिति।।

दाता प्रतिग्रहीता च श्रद्धादेयंच धर्म्मयुक। देशकालौ च दानानामडगन्येतानि षडिघ्हः।।

मनसा पात्रमुद्दिश्य भूमौ तोयं विनिःक्षिपेत। विद्यते सागरस्यान्तों दानस्यान्तो ने विद्यते।।

परोक्षे करित्यतं दानं पात्राभावे कथं भवेत। गोत्रजेम्यस्तथा दधात् तदभावेरस्य बन्धु वु।।

रचनाकार के अनुसार दान वह धन है जो दानदाता द्वारा अर्जित किया जाता है और याचक को दान में दिया जाता है। यह धन धार्मिक कार्यों के लिये प्रदान किया जाता था। लोग इस धन को साधु संतों, ऋषियों, विद्यादान देने वालों, देवताओं तथा आपत्तियों को दूर करने के लिये दिया करते थे। इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि दानदाता पहले धन अर्जित करता है फिर अर्जित धन को अपनी शक्ति के अनुसार याचक को विधिक उद्देश्यों के लिये दान में देता है।

शोधकर्त्री यह विश्लेषण करती है कि दानदाता अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में श्रद्धा के पात्र व्यक्ति को दान देता है। दान आत्मनिर्भरता के अनुससार निर्दिष्ट कार्यों की व्याख्या करके आवश्यकतानुसार हस्तांतरित किया जाने वाला धन है। यह दान आत्मसुख के लिये, परहित की भावना को ध्यान में रखकर दिया जाने वाला धन है, इसमें दानदाता अपनी श्रद्धा के अनुसार धर्म में वर्णित नियमों के अनुसार देश, काल और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विविध कार्यों के लिये धन देता है, वह अपने मन से सुपात्र का चयन कर उसे भूमि, मुद्रा आदि सौपंता है। वह किसी विशिष्ट समस्या के अन्त के लिये याचक को धन दान देता है, वह खुद को, तुमको और

दूसरे को सकुशल देखने के लिये दान देता है। वह अपने संबंधियों को, अपने अधीन रहने वाले शिष्यों को, परिजनों को और निराश्रितों को दान देता है। वह अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये गौ आदि के लिये दान देता है। वह निवास स्थल बनाने के लिये, धर्मयुद्ध आदि के लिये सामर्थ्य के अनुसार दान देता है। इसलिये वह भिन्न—भिन्न समयों में भिन्न— भिन्न प्रकार के दान देता है। आपत्तिकाल में वह दान देना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह दूसरों का कल्याण सोंचता हुआ व्यक्तियों को विघ्न बाधाओं से दूर करने के लिये भी दन देता है। इस प्रकार से दान देने में उसके धर्म की वृद्धि होती है। उसके गुणों का विस्तार होता है। आहार, मैथुन, निद्रा तथा अन्य नैमित्तिक कर्मो के अतिरिक्त व्यक्ति दान देकर देवलोक और पृथ्वीलोक में अपना स्थान बना लेता है। इस प्रकार वह अपने जीवन में ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। दान से उसके व्यक्तित्व के विधिक पक्षों का विकास होता है वह दान के ही कारण अपने देश में और परदेश में यशलाभ अर्जित करता हैं दान के संबंध में यह धार्मिक विचारधारा भी प्रेरक होती है कि हम मणि, मुक्ता, धन संपत्ति आदि जो भी अर्जित करते हैं वह मृत्यु के पश्चात् सब यहीं रह जाता है। किन्तु जो भी पुण्य कार्य, दान, आदि अच्छे कर्म हम करते हैं, वही हमारा साथ देते हैं।

कूर्मपुराण में दान विधि का विश्लेषण किया गया है इसमें गोदान, भूमिदान, स्वर्णदान आदि को देने की विधि लिखी गयी है। इस प्रकार से व्यक्ति अपने द्वारा किये गये पापों का प्रायश्चित भी करता है। यदि व्यक्ति दान आदि करता है तों उसे नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्ति मिलती है, वह कुष्ठ रोग से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति दूसरों को अन्न दान करता हैं अथवा भोजन कराता है उसे भी पुण्यलाभ होता हैं यदि कोई ज्वर, भगन्दर तथा अन्य रोगों से ग्रसित होता है उसे स्वर्णदान देने से लाभ होता है जो व्यक्ति मोक्ष चाहता है वह गोदान करता हैं नेत्ररोग से

ग्रसित व्यक्ति को घृत, दधि आदि का दान देना चाहिये। नासिका रोग से ग्रसित व्यक्ति को सुगंधित पदार्थ दान में देना चाहिये। कुष्ठ रोगी को तेल दान देना चाहिये। जिहवा रोग से ग्रसित व्यक्ति को स्वादिष्ट रसदार फल का दान देना चाहिये। पित्त रोगियों को पित्तशमन करने वाले पदार्थ दान में देना चाहिये। दुबले व्यक्ति को स्वास्थ्यवर्द्धक पदार्थ दान में देने चाहिये। दुखीः व्यक्ति को ऐसे पदार्थ का दान देना चाहिए जिससे उसकी प्रसन्नता बढे।

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि दान ही श्रेष्ठ कर्म है, दान ही श्रेष्ठ क्रिया हैं। इस प्रकार से दाति, दाशति, राति, रासति, यृक्षाणि, पृणाति, शिक्षति, तुञजति, महतः, दान के दस कर्म व धर्म हैं। इस प्रकार से श्रद्धापूर्वक जो व्यक्ति दान करता है, वह दीर्घ आयु धारण करता है, सुख भोगता है और मोक्ष प्राप्त करता है इसलिये न्यायोचित यही होगा कि दान के माध्यम से उसका फल भोगा जाये। अध्यापन कार्य करने वाले को यजमान अपने घर में दान दे। इसीप्रकार व्यवसाय, कृषि तथा क्षत्रिय धर्म का पालन करने वाला व्यक्ति घमंड को त्याग कर विद्वेष न रखता हुआ, दान को नैतिक कर्म समझता हुआ दान करे।

दान ईश्वर प्रदत्तं वह उदात्त भावना है जो हमें ईश्वर के समान बना देती है। समस्त प्राणियों की बुद्वि में हम दान के कारण ही सदैव याद किये जाते हैं। इस प्रकार से हम इस पृथ्वी में सदैव याद किये जाते हैं। इस प्रकार से हम इस पृथ्वी में सदैव के लिए अपना स्थान बना लेते हैं तथा वैदिक धर्म का अनुसरण करने वाले माने जाते हैं। भूमिदान से श्रेष्ठ दान इस संसार में कोई दूसरा नही है, इस प्रकार से ब्राम्हणों को भूमिदान देकर व्यक्ति पुण्यलाभ कर सकता है। इसी प्रकार तिल, शहद, गंध आदि वस्तुओं का भी दान किया जाता है। जो व्यक्ति धर्म पर आस्था रखता है वह दान देकर अपने गृह में और संसार में लोकप्रियता प्राप्त करता है। दान, विप्र, ब्राम्हण आदि को देना चाहिए। विधाता को वही व्यक्ति प्रिय होता है जो

हृदय से दान की भावना रखता है। जो ब्राम्हणों को दान देता है वह फल को प्राप्त करता है जो वैश्य देव आराधना नही करता और दान देता है वह भी देवताओं का प्रिय हो जाता है । उस व्यक्ति का जन्म लेना व्यर्थ है जो धर्म का अनुसरण नही करता, ईश्वर की उपासना नही करता तथा परहित न सोंचकर दान भी नही करता। इस प्रकार वेदों में दान न करने वाले व्यक्ति की सर्वत्र निंदा की गई है, और दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो व्यक्ति किसी का अहसान नही मानता वह पतित है पापी है और उसकी सर्वत्र निंदा होती है। उसका जन्म लेना व्यर्थ है तथा वह कभी भी मोक्ष नही प्राप्त कर सकता।

दक्षिणा–

आध्यात्मिक विचारकों और धर्मशास्त्रियों के अनुसार दक्षिणा और दान दोनो एक दूसरे से संबंधित है किन्तु दोनो में व्यापक अंतर है। यह शब्द व्याकरण की दृष्टि से स्त्रीलिंग का शब्द है जिसका विश्लेषण "दक्षते इति दक्षिणा" होता है। व्याकरण ग्रन्थ शब्दकल्पद्रम में दक्षिणा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है– "स्त्रीलिंग (दक्षते इति। दक्ष वृग्डौ + "दुदक्षिभ्यामिननन्।" उणां । इतिइनन। ततष्ठाय।। दक्षिण दिक। ततपर्यायः। अवाची 2, शामनी 3, थामी 4, वैवस्वतो 5, इति राजनिर्घण्टः। यथा कुमारे। "दिक दक्षिणा गंध वहं मुखेन व्यलोक निश्वासमिनोतससर्जा।।")

दक्षिण शब्द से एक प्रकार से दिशाबोध होता है, इससे व्यक्ति यह प्रतिज्ञा करता है कि वह दक्षिणमुखी होकर अपने दाहिने हाथ में मुद्रा, वस्तु इत्यादि धारण करके अपने मुख से यह संकल्प युक्त घोषणा करता है कि मैं षटरथ से युक्त अपने नेत्रों से देखता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार वह सब पदार्थ अत्यन्त प्रसन्न मन से अब तुमको प्रदान करता हूँ और तुम्हें प्रसन्नचित्त से विदा करने हेतु यह हमारा उपहार है जो मैं तुम्हें उदारतापूर्वक देता हूँ। यह मेरी पैतृक संपत्ति है। यह दिशा

के अधिपति वृषभ के कंधों में रखकर तुमको प्रदान करता हूँ। यज्ञ आदि संपादित हो जाने के पश्चात् विविध प्रकार के दिये जाने वाले दान के उपरान्त इस दक्षिणा के देने का विधान है। जब कोई भी यज्ञ अथवा धार्मिक कार्य किसी आचार्य, पुरोहित अथवा पुजारी द्वारा संपादित किया जाता है उस समय यज्ञ का वास्तविक फल प्राप्त करने के लिये दक्षिणा देने का विधान है इससे जिस कर्मफल को प्राप्त करने के लिये यज्ञ किया जाता है उसकी पूर्णता दक्षिणा देने के बाद ही मानी जाती है। तथा उसे दक्षिणा के उपरान्त ही समुचित फल की प्राप्ति होती है। ऋषि, मुनियों का यह कथन है कि यदि कर्ता अपने समस्त कर्मों को पूर्ण कर लेता है और दक्षिणा नही देता तो उसे न तो कर्म का फल मिलेगा और न ही देवताओं का स्नेह। इसलिये शुभ मुहूर्त में अपने आचार्य को सम्मानित करते हुये उसके प्रति कुभाव न रखते हुए पवित्र ह्रदय से उसे दक्षिणा देनी चाहिए। इसलिये अच्छे मुहूर्त में जब अच्छा मास हो और अनुकूल गृह हो उस समय आचार्य को सम्मानित करके दक्षिणा देनी चाहिए। कोई भी यजमान चाहे कितने अच्छे चरित्र व गुण वाला हो तथा कितना भी अच्छा कर्म करता हो वह किसी भी समुचित फल को प्राप्त नही कर सकता जब तक वह आचार्य को दक्षिणा देकर सम्मानित नही करता। वह कालान्तर में दरिद्र हो जायेगा। उसके द्वारा अर्जित लक्ष्मी नष्ट हो जायेगी, आचार्य द्वारा दिये गये श्राप से वह दारूण दुख पायेगा, जिस प्रकार से हम अपने गृहों में पितरों को तर्पण करके उनके प्रति श्रद्धा अर्पित करते हैं और देवताओं का पूजन करके उनका वरदान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार हम पृथ्वी के गुरू, आचार्य, ब्राम्हणों और पुजारियों का आशीर्वाद उन्हें समुचित दक्षिणा देकर प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम ऐसा नही करते तो हम पतित होवेंगे। हमें कुम्भिपाक नर्क का दुख झेलना पडेगा। प्रतिकूल कर्मों के कारण हमें यमदूत की ताड़ना सहन करनी पडेगी। यदि दुबारा मनुष्य योनि में जन्म होता है तो हम या तो चण्डाल बनेंगे अथवा दरिद्र के घर पैदा

होगें जो नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित रहेगा। यदि व्यक्ति गौरव प्राप्त करना चाहता है और प्रेम और सदभाव बनाये रखना चाहता है तो वह अपने आचार्यों, गुरूओं को यथाशक्ति दक्षिणा अपनी बृद्धि और क्षमता के अनुसार दे इसी में उसका कल्याण है। इसीलिये दक्षिण दिशा में दाहिने हाथ से अनुकूल मन से दक्षिाणा देने का विधान है।

इससे यह सिद्ध होता है कि दक्षिणा धर्म, संस्कार की समाप्ति के पश्चात् आचार्यों को दिया जाने वाला पारिश्रमिक है। धर्मग्रन्थों में दान करते समय दान देने वाले के हाथ में जल गिराना चाहिए। दान में जब आचार्य दान के पश्चात् जल का प्रयोग करता है, तभी वह दक्षिणा का अधिकारी होता है। किन्तु वैदिक यज्ञों में इसके नियमों में कुछ अंतर है सभी प्रकार के दानों में दक्षिणा अनिवार्य हैं अग्नि पुराण के अनुसार, "सोने चांदी, ताम्र, चावल, अन्न के दान में तथा आदिक श्राद्ध एवं आहिक देवपूजा के समय दक्षिणा देना अनिवार्य नही है। उस युग में दक्षिणा सोने के रूप में ही दी जाती थी, किन्तु स्वर्ण के दान में चांदी की दक्षिणा दी जाती थी। जब बहुमूल्य वस्तुयें दान में दी जाती थी और तुला दान किया जाता था उस समय दान में दक्षिणा एक सौ या पचास या पचीस अथवा दस सिक्कों में दी जाती थी अर्थात दान की हुई वस्तु का दसवां भाग दक्षिणा के रूप में होता था। जो आचार्य किसी धार्मिक सांस्कृतिक कार्य में दक्ष होता था और वह कुशलता पूर्वक उस ध ार्मिक और सांस्कृतिक कार्य को संपन्न कराता था। यज्ञ कराने वाला यजमान उसे उसका पारिश्रमिक दक्षिणा के रूप में देकर उसे सम्मानित करता था।

<u>दान के विविध पर्याय-</u>

दान शब्द अत्यधिक प्रचलित है। उसका अभिप्राय यह है कि जब दाता के पास किसी प्रकार से अतिरिक्त धन संचय हो जाता है तो वह किसी उद्‌देश्य विशेष से प्रेरित होकर अपना अतिरिक्त धन याचक पात्रों को प्रदान करता

है, उसे दान कहते हैं किन्तु दान से जुडे हुये अनेक शब्द भाषा में प्रचलित हैं, जो थोडे बहुत अर्थान्तर के साथ दान के उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं तथा उनका सीधा संबंध दान से ही है। दान के पर्याय के रूप में निम्नलिखित शब्दों का प्रयोग होता हैं–

1. वरदान-

जब कोई भी प्राणी ईश्वर अथवा देवताओं से प्रेरणा ग्रहण करता है और निष्ठापूर्वक उनकी भक्ति करता है, उस समय देवता अथवा ईश्वर, भक्त अथवा याचक की परीक्षा लेते हैं, यदि याचक सत्यनिष्ठ है तो वह अपने भक्त को जो दान भक्त की इच्छा के अनुसार देते हैं उसे वरदान कहते हैं। इसमें धन, अन्न, आयु, शक्ति, अभय, मोक्ष, भक्ति आदि आते हैं।

2. भेंट एवं उपहार–

जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति से मिलने जाता है अथवा किसी व्यक्ति को कतिपय कारणों से सम्मानित करता है उस समय उसके सम्मान में दिया गया धन, वस्तु एवं अन्य सामग्री अथवा भेंट कहलाती है। यह भी एक प्रकार का दान है जिसका जाति, संस्कार तथा धर्म से कोई संबंध नही हैं यह दान किसी भी व्यक्ति की श्रद्धा का मूल्यांकन करता है। विशेषकर यह प्रथा राजा अथवा विद्वान को सम्मानित करने तथा जन्मदिन आदि अवसरों पर अपनायी जाती थी। धार्मिक स्थलों के लिये पुजारियों कलाकारों को सम्मानित करने के लिये भी भेंट और उपहार की प्रथा थी।

3. त्याग और समर्पण–

व्यक्ति जब विश्वकल्याण अथवा मानव कल्याण के लिये दृढ़ निश्चय कर लेता है उस समय वह अपनी संपूर्ण सम्पत्ति उस व्यक्ति अथवा संस्था को दे देता है जिसे वह यह समझता है कि वह उसके त्याग अथवा समर्पण के अनुकूल है।

4. बलिदान-

जब कोई सैनिक अथवा राजा अथवा कोई प्रजाजन राष्ट्र रक्षा अथवा सम्मान रक्षा के लिये संघर्ष करता हुआ अपने प्राणों की आहुति उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिये करता था, तब उसके प्राण त्याग को बलिदान कहते थे तथा यह भी दान की एक कोटि थी।

5. कर-

राजा के अनुशासन को मानते हुये उसे हम जो धन राज्य व्यवस्था के लिये प्रदान करते हैं उसे कर के नाम से पुकारा जाता है यह कर एक प्रकार का दान ही है जो प्रजा द्वारा राजा एवं उसके कर्मचारियों को प्रदान किया हुआ धन है। जिसे वह शत्रु रक्षा, राज्य व्यवस्था, न्याय व्यवस्था तथा जन कल्याण में खर्च करता है। यह भी दान की कोटि में आता है।

6. प्रेम एवं उत्सर्ग-

जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष से प्रेरित होता है। उस समय वह अपनी इच्छाओं का हनन करके उस व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति के लिये सब कुछ अर्पण कर देता है। जिसके प्रति वह प्रेम एवं उत्सर्ग की भावना रखता है। इसका संबंध केवल धन से नही अपितु हदय से है और उस मस्तिष्कजन्य आकर्षण से है जिसके वशीभूत होकर वह व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परित्याग, परिवार के हित के लिये, पारिवारिक आकांक्षाओं का परित्याग समाज हित के लिये, सामाजिक आकांक्षाओं का परित्याग राष्ट्रहित के लिये तथा राष्ट्रहित की आकांक्षाओं का परित्याग संपूर्ण विश्व कल्याण के लिये करता है। उसका यह प्रेम और उत्सर्ग एकांगी न होकर सर्वांगी हो जाता है। इसलिये यह उत्सर्ग एवं प्रेम समर्पण जिसमें तन, मन, धन, शौर्य आदि सभी शामिल है, उच्चकोटि के दान के रूप में आता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान की परिभाषा और उसका क्षेत्र चिरकालिक

और सर्वव्यापी है। उसे संकुचित और संकीर्ण दृष्टिकोंण से नही जोड़ा जा सकता। सभ्यता की प्रथम किरण से लेकर वैदिक युग तक और उसके बाद भी दान की महत्ता और उसका प्रकाश संपूर्ण चराचर में मार्तण्ड के दिव्य आलोक की भांति विस्तृत है, यह अज्ञानता के अंधकार को दूर करके परहित और जनकल्याण की भावना को पुष्पित और पल्लवित करती हैं इसको अपनाकर अनेक महापुरूष चिरंजीवी एवं यशस्वी हुए जो युग की स्मृतियों में हमेशा बने रहेंगे। चूंकि यह शोधप्रबन्ध महाकाव्यों के विशेष संदर्भ में लिखा जा रहा है। अस्तु यह आवश्यक है कि महाभारत का संक्षिप्त परिचय तथा इनमें मिलने वाले दान के विविध प्रसंगों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

महाभारत में धर्म मूलक, अर्थ मूलक, भयमूलक, कामना मूलक, दया मूलक, दान के भेद माने जा सकते हैं। जिन्हें हम विभिन्न उदाहरणों उपकथनों या सूक्तियों से समझ सकते हैं। इच्छारहित रहकर श्रेष्ठ सात्विक ब्राह्मण को दिया गया दान ध र्म मूलक है। कीर्ति अभिलाषी दाता का दान अर्थ मूलक है। अनिष्ट निवारणार्थ दिया गया दान भय मूलक है। किसी की भलाई सोंचकर दिया गया दान कामना मूलक है। अत्यन्त विपन्न को दया वश दिया गया दान दया मूलक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि महाभारत में दान के अनेक रूप दाता की योग्यता आकांक्षा पात्र की योग्यता अयोग्यता इत्यादि की दृष्टि से विस्तृत विवेचन मिलता है। कहना नही होगा कि सुपात्र को दिया हुआ दान ही सभी कामनाओं की पूर्ति में सक्षम हैं।

महाभारत में धार्मिक संस्कारों का परिवेश-

भारतीय सभ्यता और संस्कृति संस्कार प्रदान कही गयी है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद से लेकर पुराण और धर्म शास्त्रों में ये भली भांति से प्रतिपादित किया गया है, कि प्राणी मात्र को आर्य श्रेष्ठ भद्र बनाने के लिये जिस सामाजिक व्यवस्था का विधान किया गया है। उन्हें हम संस्कार कहते हैं। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के प्रथम अध याय में वर्ण आश्रम व्यवस्था तथा पारिवारिक जीवन के साथ संस्कार को भी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तत्व कहा है। शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में वर्णाश्रम व्यवस्था, सामाजिक संस्थायें इत्यादि का विश्लेषण करते हुये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में संस्कारों की चर्चा की गयी है। यहाँ हम स्मृतियों एवं धर्मशास्त्रों में प्रचलित संस्कारों का संक्षेप में विवेचन करेंगे। वर्णाश्रम समाज में गर्भाधान, पुंसवन, सीमान्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्कर्म अन्नप्राशन, चूर्णाकर्म, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि संस्कार इत्यादि मुख्य रूप से स्वीकृत थे। यत्र–तत्र सोलह संस्कारों की भी चर्चा अथवा कुछ धर्म सूत्रों में ब्रह्म संस्कार, दैव संस्कार, हवियेज्ञ एवं सोम संस्थ वर्ग के भेद से चालिस संस्कारों की भी चर्चा है, किन्तु महाभारत में मनु, याज्ञवल्कय स्मृतियों के आधार पर दस संस्कारों की चर्चा है।

1. गर्भाधान संस्कार-

इसे ऋतुकाल संस्कार भी कहा गया है। होम के समय प्रज्ज्वलित आग जिस प्रकार आहुति की प्रतीक्षा करती है, उसी प्रकार ऋतुकाल में स्त्रियाँ पुरुषों की कामना करती हैं। अतैव ऋत्वाभिगमन धार्मिक संस्कार मानकर इसे गृहस्थ के लिये अनिवार्य कहा है। ऐसे गृहस्थों की चर्चा ब्रह्मचारी के रूप में भी की गयी है।

होमकाले यथा वहिः कालमेव प्रतीक्षते।

ऋतुकाले तथा नारी ऋतुमेव प्रतीक्षेत।

नान्यदा गच्छते यस्तु ब्रह्मचर्ये च तत् स्मृतम्।।

अमृतं ब्राह्मणा गाव इत्येतत त्रयमेकतः।

तस्माद गोब्राह्मणं नित्यमर्चयेत यथाविधि।।[1]

गर्भधारण संस्कार के परिप्रेक्ष्य में महाभारत में कुछ विधि निषेधों की भी चर्चा की गयी है। उनकी उत्पत्ति यह है कि संतान कामना से ऋत्वाभिगमन श्रेष्ठ संतान को उत्पन्न करती है। स्वैराचार पाप कहा गया है, और सहगमन के लिये अनेक तिथियों को परित्याज भी बताया गया है। अभिगमन के पश्चात शारीरिक शुद्धि तथा श्रेष्ठ संतान के लिये शुचिता का विशेष महत्त्व दिया गया है। इस गर्भाधारण संस्कार के मूल में धर्म, अर्थ, काम की चर्चा भी महाभारत में की गयी है। जिसमें संयम की प्रधानता थी।

पुंसवन एवं सीमान्तोनयन की चर्चा ही मात्र की गयी है।

2-जातकर्म-

संतान के जन्म होने के पश्चात् पिण्डदान तथा वैदिक संस्कार किये जाते हैं, इन्हे जातकर्म कहते हैं। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है पुत्र और कन्या के जात कर्म में सामान्य से जात कर्म सम्पन्न किया जाता है। जैसे महाराज शांतनु को कृप एवं कृपी शिशु रूप में मिले थे। जिन्हें घर लाकर जातकर्म किये गये थे जो कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है–

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्मणि सर्वशः।

जातकर्मादि संस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः।

जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः।

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु।।

अथाप्तवन्तों वेदोक्ताम संस्कारान पांडवास्तदा।

स हि में जातकर्मादि कारयामास माधव।।[2]

---

(1) अन0 162/41,42 (2) आदि पर्व 74/119,3,आ0 178/2, आ0 109/18, आ0 128/14, शा0 233/2

3-नामकरण-

जातक के जन्म के 11वें या 12वें दिन जो संस्कार किया जाता था, उसे नामकरण संस्कार कहते हैं जैसे श्रीकृष्ण द्वारा परीक्षित के नामकरण की विस्तृत चर्चा अश्वमेधिक पर्व में हैं इसमें स्वस्ति वाचन के अन्नतर श्रीकृष्ण का नामकरण किया। जैसे कि निम्न श्लोकों से विदित होता है।

परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत तदा।।[1]

4-चौलकर्म एवं उपनयन संस्कार-

इन दोनों संस्कारों की विस्तृत चर्चा महाभारत में नाम मात्र का उपलब्ध होती है। कौरव और पाण्डवों के संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में सिर्फ चर्चा मात्र है।

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनायनानि च।।
कश्यपः कृतवान् सर्वगुणाकर्म च भारत।
चौलोपनयनादर्ध्वमुपाकर्म यशस्विनः।
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः।।[2]

इसी प्रकार सावित्री के संस्कारों की चर्चा वन पर्व में की गयी है।[3]

5-विवाह-

विवाह संस्कार की बड़ी महिमा महाभारत में बतायी गयी है, क्योंकि गृहस्थ धर्म मूल में यही विवाह संस्कार है। महाभारत में विवाह योग्य युवक युवतियों की अवस्था प्रकार विवाह सम्बंधी विधि निषेध अनुलोम, प्रतिलोम विवाह की चर्चा द्वितीय अध्याय में की जा चुकी है। इसीलिये पिष्ट प्रेषण से बचने के लिये इतना ही कहा जा सकता है कि महाभारत में देवी देवता, ऋषि मुनी, तथा विवाह के सभी भेद

---

(1) अश्व0 70/11 एवं आदि0 123/19,20 (2) आदि0 123/31 (3) वन0 293/23

महाभारत में मिलते हैं। एक निष्ठता अनंत परस्पर प्रेम आदि विवाह के मूल कारक तत्त्व माने गये हैं।

6-<u>अन्त्येष्टि संस्कार</u>-

वैदिक ऋषियों का जीवन यज्ञमय जीवन था। उनकी संस्कृति यज्ञमयी कहलाती है, जिसमें मनुष्य जीवन के प्रत्येक पर्व को संस्कार संपन्न बताया गया है जिसमे अंतिम संस्कार अन्त्येष्टि संस्कार कहलाता है। अंत्येष्टि संस्कार को हम महाभारत के अनुसार तीन भागों में बांट सकते है।

1. शव पूर्व के कृत्य
2. दाह क्रिया
3. अशौच से शुद्वि श्राद्ध एवं तर्पण आदि।

1. <u>शवदाह से पूर्व की क्रियायें</u>-

शव को वस्त्र द्वारा आच्छादित किया जाता था। भीष्म के शवदाह के पूर्व कहा गया है, कि विदुर एवं युधिष्ठिर ने रेशमी वस्त्र एवं आभूषण से शवाच्छादन किया युयुत्सु ने छत्र लगाया। भीम तथा अर्जुन ने चांवर डुलाये तथा नकुल सहदेव ने उनके सिर पर पगड़ी बांधी।

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम्।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ।
उष्णीषे परिगृहीतां भाद्रीपुत्रावुभौ तथा
स्त्रियाः कौरवानाथस्भीष्म कुरुकुलोद्वहम।
तालवृन्तान्युपादाय पर्याबीजन्त सर्वशः।।[1]

पाण्डु की मृत्यु के पश्चात शवदाह के समय सुगंधित अर्ग का लेप गंगाजल से अभिषेक तदोपरान्त प्रेत कर्म करके यह संस्कार करने का उल्लेख हुआ है।

---

(1) अनु0 168/13,14

ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम।

शुचिकालीय कादिग्धं दिव्यचंदनरुषितम।

पर्याषिंञ्चलेनाशु शातकुम्भमयैर्धटैः।

चंदनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन्।।

कालगुरुविभिश्रेण तथा तुङ्गंरसेन च।

अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन्।।[1]

मौषलपर्व में वसुदेव तथा मरे हुये यादवों के अन्त्येष्टि संस्कार करते हुये शवदाह को पितृमेधकर्म कहा गया है। प्रज्जवलित अग्नि के साथ ब्राह्मणों का शाम, दाह और तिलांञ्जंलि दिये जाने का वर्णन है।

तंवै चतुर्भिः स्त्रोभिरन्वितं पाण्डुनन्दनः।

अदाहय चंदनैश्च गन्धैरुच्चावचैरपि।।[2]

शवदाह के बाद स्नान और मृत्यु व्यक्ति की आत्मा की तृप्ति उदक क्रिया या प्रेत तर्पण किया जाता था। संन्यासियों का या योगबल से प्राण छोड़ने वाले व्यक्तियों का दाह संस्कार नही किया जाता था। मृत्यु के बाद शव दाह के बारह दिन तक अशौच विधि का पालन किया जाता था। तदोपरान्त श्राद्ध, तर्पण आदि संपन्न होने पर उन्हें शुद्ध मान लिया जाता था। युद्ध में मृत्यु होने पर पारिवारिक जन सदमा अशौच से युक्त रहते थे। महाभारत युद्ध के पश्चात राजपरिवार के व्यक्तियों के शवदाह के बाद धृतराष्ट्र, विदुर, पाण्डव, कुरू वंश की महिलाओं ने बारह दिन तक नगर से बाहर रहकर अशौच का पालन किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं, कि महाभारत में संस्कारों का संक्षिप्त रूप में वर्णन है विशेष रूप से अंत्येष्टि संस्कार का इसके अन्तर्गत श्राद्ध, तर्पण विधि का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पितृऋण पर शोध के लिये श्राद्ध एवं तर्पण का विशेष

---

(1) आदिपर्व 126/18,20 (2) मौषल पर्व 7/25

महत्व पिण्डदान आदि अनुष्ठान श्राद्ध है। एवं श्रद्धा सहित जलांजलि तर्पण कहलाता है। भीष्म पितामह, पुलस्तह, वशिष्ठ, पुलहः अंगिरा, कश्यप इत्यादि को पितरों की तरह तर्पणी कहा गया है और तर्पण श्राद्ध प्रत्येक संतान का कर्त्तव्य माना गया है।

जलं प्रतरमाणश्च कीर्तयेत पितामहान

नदीमासद्य कुर्वीत पितृणां पिण्डतर्पणाम।।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में विधि निषेधों का विस्तृत वर्णन अनुशासन पर्व के 90 और 91वें अध्याय में विस्तृत उल्लेख है। पितर अमावस्या को एवं देवता पूर्णिमा को तर्पण की आशा करते हैं। श्राद्ध कर्म में रजस्वला वधिर आदि व्यक्तियों को निषेध किया गया है। पिण्डदान से वे प्रेतत्व कष्ट से वे मुक्ति पा जाते हैं। मृत्यु होने के सालभर बाद जो तर्पण किया जाता है, उसे प्रेत तर्पण कहते हैं। श्रद्धापूर्वक कुश पर पिण्डदान की व्यवस्था का उल्लेख शांतनु की मृत्यु के समय हुआ है। इसी प्रकार विचित्र वीर और पाण्डु का भी श्राद्ध किया गया था। इस अवसर पर और्ध्व देहिक कृत्य संपन्न किये जाते थे। इस अवसर पर ब्राह्मण भोज एवं उन्हें स्वर्णरत्न धन आदि से संतुष्ट किया जाता था[2] महाप्रस्थान से पूर्व युधिष्ठिर ने वासुदेव, बलराम, यदुवंशी वीरों का श्राद्धकर उनहें रत्न वस्त्र, ग्राम, अश्व, देकर ब्राह्मणों को तृप्त किया गया था। जीवित व्यक्ति भी स्वयं अपना पिण्डदान करके श्राद्ध कर सकता था। जिसका फल उसे मृत्यु पश्चात मिलता था। धृतराष्ट्र और गंधारी ने स्वयं अपना श्राद्ध किया था।

एवं स पुत्रपौत्रागां पितृणामात्मनस्तथा।

गान्धार्याश्च महाराज प्रददावौर्ध्व देहिकम्।।[3]

अन्न, जल, दूध, फल आदि से नित्य प्रति पितरों को तृप्त करने का उल्लेख महाभारत में है[4] कृष्ण पक्ष में अपराह्न समय श्राद्ध के लिये श्रेष्ठ माना गया है।

---

(1) अनु0 92/16 (2) शा0 अ0 42 (3) आश्रम वासित 14/15 (4) अनु0 97/8

गुणवान अतिथि के आने पर भी श्राद्ध करने का विवरण उलूकोपाख्यान में मिलता है। रेणुक दिग्विज संवाद में कार्तिक मास में गुड़ मिश्रित अन्न का, भाद्रपक्ष के कृष्ण पक्ष के मध्य योग में गज छाया आदि के उल्लेख से ये निष्कर्ष निकाला जा सकता है। प्रतिपदा से लेकर अमावस्या तक तिथि विशेष में श्राद्ध करने पर क्रमशः भार्या सुदर्शन दुहिता, दिव्य कांति वाणिज्य उननति गो संपत्ति ब्रह्म वर्चस्व पुत्र, धन, रत्न, युद्ध नैपुण्य आदि का फल प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार नक्षत्र विशेष में भी श्राद्ध करने का विस्तृत वर्णन अनुशासन पर्व के 89 अ0 में प्राप्त होता है। गया श्राद्ध का भी वर्णन महाभारत में उल्लिखित है। पिण्डदान श्राद्ध विसर्जन की प्रणाली श्राद्ध काल में स्त्री सहवास से विरक्त तिल, जौ, चावल, उड़द के साथ यत्र–तत्र भैंसे बकरे के मांस से भी पितरों के तृप्ति का उल्लेख मिलता है।[2] इस प्रकार श्राद्ध में ब्राह्मण का वरण वयस्य विद्या युक्त ब्राह्मण का चयन पंक्ति पावन ब्राह्मण की उपयोगिता का उल्लेख भी महाभारत में मिलता है। वनपर्व शांतिपर्व एवं अनु0 पर्व में अपूज्य ब्राह्मण की विस्तृत सूची प्रस्तुत हैं। अस्थियों का गंगा में विसर्जन का उल्लेख भी एक उदाहरण में मिलता है। द्रोणाचार्य सदगति के लिये युधिष्ठिर ने श्राद्ध किया था इससे सिद्ध होता है कि क्षत्रिय ब्राह्मण का श्राद्ध कर सकता है।

निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक मृत व्यक्ति के आत्मीय सृजन उसके आत्मा की शांति के लिये तिलांजलि तर्पण, श्राद्ध, जलाशय का निर्माण आदि सामाजिक हितकार्य श्राद्ध के अन्तर्गत कहे गये हैं।

---

(1) अनु0 अ0 87 (2) अनु0अ0 88

महाभारत में वीर पूजा तथा अवतारवाद में विश्वास

महाभारत के नामकरणों में जय काव्य की चर्चा की गयी है। जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें क्षत्रिय वीरों की युद्ध प्रियता उनकी वंशावली की सुरक्षा तथा महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले श्रेष्ठतम वीरों की चर्चा अत्यन्त विस्तृत एवं भावपूर्ण शब्दों में की गयी है। इसीलिये पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि महाभारत का प्रारम्भ कौरव और पाण्डवों की वीरों यशोगाथा का काव्य है। बाद में धार्मिक तथा अन्य उपाख्यान जोड़े गये हैं। विण्डर नित्स, कीथ, लासैन्य, लुडविंग ने महाभारत को कीर्ति कथा का महाकाव्य कहा है।

महाभारत में योद्धा लोग युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान करने से पूर्व अपने से बड़ो का अभिवादन करते हुए दिखाई देते है। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व युधिष्ठिर भीष्म और द्रोण का अभिवादन करके उनसे विजयी होने का आर्शीवाद प्राप्त करते है। महाभारत मे प्रस्थान के समय देव स्थानो तथा पूज्य-जनों की परिक्रमा करने का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। देवताओं और श्रृषि आश्रमो मे प्रह्वमुद्रा से प्रवेश करने का नियम है। युद्ध में प्रस्थान करते समय वीर लोग ब्राह्मणो को अभिवादन के साथ उपहार, भी भेंट किया करते थे। इसमे मित्रों और समान वयस्को मे मिलते समय हाथ मिलाने का उल्लेख भी हुआ है। शुरू का अभिवादन करते समय शिष्य अपनी हथेली ऊपर रखकर दाई हथेली से दहिना चरण और बाई हथेली से बायाँ चरण छूता है। महाभारत के मंगल श्लोक में भी विजगीषुओं जय नामक इतिहास सुनाने का उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह है कि वैदिक काल से ही वीरपूजा के सूत्र मिलते हैं। प्रारम्भ में इन्द्र, वरूण, ऊषा, मारुत इत्यादि शक्ति संपन्न तत्वों की पूजा उपासना, यज्ञ, आहुतियां देकर उन्हें संतुष्ट करने का विधान मिलता है। जिनका विकास परिवर्ती काल में विष्णु ब्रह्मा, महेश आदि शक्तिशाली देवताओं की पूजा में मिलता है। इसीक्रम में मनुष्यों की वीरता को भी पूज्य रूप

दिया गया। संपूर्ण महाभारत तो वीर पूजा का विश्व कोष है। यहां युद्ध, वीर, दान, धर्म, दयावीर आदि से संबंधित आख्यान, उपाख्यानों का वर्णन मिलता है। यदि उसमें द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण, भीष्म और अर्जुन जैसे क्षत्रिय, एकलव्य जैसे शूद्र की भी वीरता का गौरवशाली वर्णन प्राप्त होता है। अतैव निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है। कि वीरता की ओर आकृष्ट होना मानव मात्र की सामान्य प्रवृत्ति है। वो वीरों की कुशलता कर्मठता सृजनपालन, के प्रति सजगता, युद्ध नैपुण्य आदि की गाथायें सुनाकर स्वयं तो आनंदित होता था। श्रोताओं को भी आनंदविभोर कर देता था। इसीलिये महाभारत के अनेक पर्वों का नाम वीरों पर रखे गये। इस वीर पूजा का समापन आगे चलकर कृष्ण महिमा में परिवर्तित हो गया है। पहले जो वीर पूजा वैयक्तिकगुण धर्म के प्रकटीकरण में दिखाई देता था। बाद में विकसित होते समाज रक्षक की कीर्ति गाथा में परिवर्तित हो गयी जिसके केन्द्र श्रीकृष्ण बने यहां अवतारवाद संबंधी धारणा का संक्षिप्त विश्लेषण किया जा रहा है।

महाभारत में अवतारवाद-

अवतार शब्द 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'त्यृ' तरणप्लवनयोः चासु से 'धञ' प्रत्यय के संयोग से बद्ध है। जिसका धातुगत अर्थ है, उतरकर नीचे आना, किन्तु वैदिक साहित्य से लेकर परिवर्ती सभी साहित्यों में इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। अवतारवाद का प्रारम्भ कहां से हुआ इसमें विवाद है। अधिकांश विद्वान इस भावना को बहुत परिवर्ती सिद्ध करते हैं।

अवतारवाद का अर्थ-

नीचे उतरना, सब जगह परिपूर्ण रहने वाले सच्चिदानंदस्वरूप परमात्मा अपने अनन्य भक्तों की इच्छा पूरी करने के लिये अत्यधिक कृपा से एक स्थान–विशेष में अवतार लेते हैं और छोटे बन जाते है। दूसरें लोगों का प्रभाव या महत्त्व तो बड़े हो जाने से होता है पर भगवान का प्रभाव या महत्त्व छोटे हो जाने से होता है।

कारण कि अपार, असीम, अनन्त होकर भी भगवान छोटे तो बन जाते हैं, यह उनकी विलक्षणता ही है। जैसे– भगवान् अनन्त ब्राह्मण्डों को धारण करते हैं, परन्तु एक पर्वत को धारण करने से भगवान 'गिरधारी' नाम से प्रसिद्ध हो गये। इसी प्रकार अवतार लेने में भगवान की विशेषता है जब भी संसार में अनिष्ट होता है। तो भगवान किसी भी छोटे बड़े रूप में अवतार लेते हैं जैसे भी साधारण आदमी जिस स्थिति पर है, उसी स्थिति पर आकर भगवान वैसी ही लीला करते हैं।

सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग इन चारो युगों की ओर देखा जाये तो इनमें भी क्रमशः धर्म का हास होता है। सतयुग में धर्म के चारो चरण रहते हैं। त्रेतायुग में धर्म के तीन चरण रहते हैं। द्वापरयुग में धर्म के दो चरण रहते है और कलियुग में धर्म का एक चरण शेष रहता है। जब युग की मर्यादा से अधिक धर्म का हास हो जाता है तब भगवान धर्म की पुनः स्थापना के लिये अवतार लेते हैं। लेकिन भगवान अजन्मा और अविनाशी है। भगवान न स्वयं अर्जुन से कहा है कि जब जब धर्म की हानि होगी और अधर्म की वृद्धि होती है। तब–तब ही मैं अपने आपको स्वयं ही साकार रूप में प्रकट करता हूँ और मैं अपने भक्तों की रक्षा करने के लिये पापकर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म भलीभांति स्थापना करने के लिये मैं युग–युग में प्रकट हुआ करता हूँ।

यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाम साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धमसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे।।[1]

अवतारी और अवतार शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में ऋग्वेद(6/15/2) एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण (2/9/3/3) में अवतारी अथर्ववेद(18/3/3) शुक्ल यजुर्वेदीय

(1) श्रीमद्भगवतगीता 4/7,8

(17/6) में अवन्तर प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण (9/1/2/27)यजुर्वेदीय मैत्रायणी संहिता (2/10/1) बाल्मीकि रामायण, महाभारत में इस शब्द का या इसके समानार्थी शब्दों का प्रयोग हुआ है। पुराण, बौद्ध सहित्य, जैन साहित्य, नाथ संत सगुण साहित्य में यह शब्द दिखाई देता है। उक्त सभी स्थलों को देखकर यह प्रतीत होता है, कि प्रारम्भ में अवतार का प्रयोग उतरने के अर्थ में होता था। कालान्तर में विष्णु के जन्म, प्रादुर्भाव एवं अंशोद्भव से इसका संबंध हुआ। अवतार विरोधी सम्प्रदाय में अवतार शब्द का तात्पर्य पौराणिक अवतारों के अनंतर या मनुष्य के सामान्य जन्म के अर्थ में प्रचलित हुआ। अवतारवाद से संबंधित इसके पर्याय के प्रादुर्भाव, निर्माण, सृजन, सगुण रुप, वाय चरण, नरतन चारण और प्राकट्य विशेषरुप से प्रचलित हुये।[1]

वैदिक साहित्य से लेकर ब्राह्मण महाकाव्यो एवं पौराणिक ग्रन्थों में अवतारवादी सिद्धांतों की व्यवहारिक व्याख्या मिलती है जहां भगवान के अनेक अवतारों की चर्चा हैं मुख्यतः अवतारवाद की दो परम्परायें प्रचलित हैं। दशावतार और चौबीस अवतार कहीं–कहीं सोलह अवतारों की भी चर्चा हैं। पांचरात्र साहित्य और श्रीमदभगवत से अवतारवाद को अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी है। पांचरात्रों में परवासुदेव के व्यक्त जिन ब्यूह विभव अर्न्तयामी और अर्चा रूप का वर्णन हुआ है उनमें लीला या चरित्र प्रधान तत्त्वों की अपेक्षा उपास्य तत्त्वों का अधिक प्राधान्य है। इस प्रकार कालावतार, कल्पावतार, एवं युगावतार तथा कार्य की दृष्टि से पूर्ण, अंश, कला, विभूति, पुरुषावतार, गुणावतार आवेश लीला रूप आदि सिद्धांतों का प्रतिपादन विभिन्न दार्शनिक मंतों से की गयी है। महाभारत के नारायणोपाख्यान में 6 और 10 दो सूचियों का उल्लेख हैं शांतिपर्व के नारायणोपाख्यान पांचरात्र के मतानुसार संकर्षण वासुदेव आदि रूप चल पड़े। इसमें अवतार रूपों की चर्चा है।

---

(1) मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद –डॉ० कपिल देव पाण्डेय पृ0

तस्मात सर्वे सम्भवति जगत् स्थावरजंङ्गमम्।

सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः स सर्व कर्मसु।।

यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।

ज्ञेयः स एव राजेन्द्रः जीवः संकर्षणः प्रभुः।।

संकर्षणाच प्रद्युम्नों मनोभूतः स उच्यते।

प्रद्युम्नाद योनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः।।

मयैतत् कथितं सम्यक तव मूर्ति चतुष्टयम्।

अहं हि जीवसंज्ञातो मयि जीवः समाहितः।।[1]

महाभारत में विष्णु के मत्स्य पूर्ण, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, कृष्ण और कल्कि, दशावतारों की विस्तृत चर्चा की है।

मत्स्यः कूर्मो वरादृश्च नरसिंहश्च वामनः।

रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्ली च ते दश।।[2]

इस परिप्रेक्ष्य में प्रजा को निर्भय करने, महासार में डूबते लोग और वेदों के उद्वार समुद्र मंथन के समय पीठ पर मंदराचल धारण करने पृथ्वी के समुद्र में डूब जाने पर उसका उद्धार करने हेतु हिरण्यकश्यप का संहार, राजा बलि से तीन पग भूमि मांगने क्षत्रिय कुल संहार, एवं रावण वध हेतु उक्त अवतारों के कारण बताये गये हैं। यही कृष्ण के विभिन्न कृत्यों में अवतार के प्रयोजन वर्णित है।[3] गीता में अवतारवाद के की भी विस्तृत चर्चा हैं जिसमें अधर्म का नाश धर्म की स्थापना प्रमुख है। साधु रक्षा, दुष्टों का संहार तो प्रत्येक अवतारी पुरुष का कार्य रहा है। गीता में ही कृष्ण के विराट रूप का विस्तृत वर्णन है। जिसमें एक तरफ ऋग्वेद में कहे गये पुरुष ब्रह्म का निरूपण हैं, तो दूसरी ओर निखिल ब्रह्माण्ड निर्माता पालक और संहर्ता रूप में उल्लेख, किया गया है। महाभारत को अवतारवाद की एक नयी

---

(1) शान्ति पर्व 338/39,41,46 (2) शा0 339/78 (3) वहीं 339

दृष्टि से देखा जा सकता है। अनुश्रुतियां एवं परिवर्ती गुणों में अर्जुन और श्रीकृष्ण को नर नारायण की संज्ञा से अविभीत किया गया है।

यदाश्रोषं नरनारायणौं तौ।

कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।

अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक,

तदा नाशंसे विजयाय संजय।[1]

इसी परिप्रेक्ष्य में अवतारवाद की विस्तार से व्याख्या करने के लिये सर्वप्रथम रूपक अलंकार के माध्यम से दुर्योधन और कृष्ण को वृक्ष पर रूपक बनाया गया है।

दुर्योधनों मन्युमयो महाद्रुमः,

स्कन्ध कर्णः शकुनिस्तस्य शाखाः।

दुःशासनः पुष्पफले समृद्वे,

मूलं राजा धृत्राष्ट्रोमनीषी

युधिष्ठरो धर्ममयो महाद्रुमः,

स्कन्धोऽर्जुनो भीमसेनोऽस्य शाखाः।

माद्रीसुतौ पुष्पफलो समृद्धे

मूलं कृष्णो ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च।।[2]

तदोपरान्त महाभारत के प्रत्येक पात्र को किसी न किसी रूप में विष्णु के अंशावतार के रूप में चर्चा की गयी है। जिसे निम्नतालिका से स्पष्ट देखा जा सकता है।

महाभारत के पात्रा	अनुशीरूप
भीष्म	वसु
विदुर युधिष्ठिर	धर्म

(1) आ0 1/174 (2) वहीं 1110,111

कर्ण	सूर्य
कृष्ण—बलराम	विष्णु
द्रोपदी	यज्ञाग्नि
भीम	वायु
अर्जुन	इन्द्र
नकुल, सहदेव	अश्विनीकुमार
सात्त्विकी	सत्यक
कृतवर्मा	हृदिक
द्रोण	अग्निपुत्र भरद्वाज
शकुनि	सुबल[1]

इसी प्रकार स्वर्ग पहुंचकर उक्त पात्र अपने मूल अंश में विलीन हो गये थे।[2] इन संकेतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता हैं कि महाभारत में अवतारवाद का व्यापक स्परूप मिलता है। यदि कथा को रूपक मान लिया जाये तो श्री थडान्स ने लिखा है कि मन बुद्वि, चित्त और पंच तंमात्रा जीवन की आठ शक्तियां हैं। जिनका महाभारत की कथा में स्त्री पुरुष का रूप दे दिया गया है। महाभारत के सभी पात्र मानस क्षेत्र में समावेश होते हैं। क्योंकि ये सभी पात्र चंद्रवंशी हैं।[3] इस प्रकार के महाभारत प्रारम्भिक रूप में वीर पूजा के रूप में लिखा गया होगा। जिसका क्रमशः विकास और विस्तार अवतारवाद में किया गया है। क्यों कि परमात्मा से ही सृष्टि बनती है? इसमें प्रकृति और उसका कार्य संसार तो प्रतिक्षण बदलता रहता है। कभी क्षणमात्र एक रूप नही रहता है। परमात्मा तथा उनका अंश जीवात्मा दोनो संपूर्ण देशकाल आदि में नित्य निरंतर रहते हैं। इनमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नही होता। परमात्मा हमेशा निष्काम भाव का प्रसार करने के लिये

---

(1) आ० 63/9—117 (2) स्वर्गारोहण अ० 3 (3) मिन्टी ऑफ—थडान्स पृ० 22—23

भगवान अवतार लेते है यहां शंका हो सकती है कि वर्तमान समय में धर्म का हास और अधर्म की वृद्धि बहुत हो रही है फिरभी भगवान अवतार क्यों नही लेते? इसका समाधान यह है कि युग को देखते हुये अभी वैसा समय नही आया है, जिससे भगवान अवतार लेंकर त्रेतायुग में राक्षसों ऋषि मुनियों को मारकर उनकी हड्डियों के ढेर लगा दिये थे। यह तो त्रेतायुग से भी गया बीता कलियुग है पर अभी धर्मात्मा पुरुष जी रहे हैं उनका कोई नाश नही करता। दूसरी एक बात और है जब धर्म का हास और अधर्म की वृद्धि होती है। भगवान की आज्ञा से सन्त इस पृथ्वी पर आते हैं। अथवा विशेष साधक पुरुष प्रकट हो जाते हैं। जब साधकों और संत महात्माओं से भी लोग नही मानते, प्रत्युत उनका विनाश करना प्रारम्भ कर देते है और जब ध र्म का प्रचार करने वाले बहुत कम रहते हैं। तथा जिस युग में जैसा धर्म होना चाहिये उसकी अपेक्षा भी बहुत अधिक धर्म का हास हो जाता है, तब भगवान स्वयं आते हैं।

यज्ञ अनुष्ठानों एवं तपस्या का प्रभाव

वैदिक सभ्यता यज्ञ प्रधान रही है। यज्ञ संपन्न करना ब्राह्मणों का विशिष्ट धर्म और कर्म कहा गया है। इसी यज्ञ पद्धति का विकास महाभारत और पौराणिक काल में विशेष रूप से हुआ है। वैदिक काल के जो यज्ञ सरल और आडम्बर रहित होते थे। धीरे–धीरे राजाओं के द्वारा विशिष्ट रूप लेने लगे जिनसे भिन्न एहिक और आयुष्मिक कामनायें पूर्ण हाने की स्थितियों का उल्लेख होने लगा ऐसे यज्ञ बड़ी भव्यता से आयोजित होते थे। जिसमें जनता की सहभागिता सुनिश्चित की जाती थी। ब्राह्मणों के पुष्कल यात्रा में स्वर्ण धन्य, धान्य देकर उपकृत्य किया जाता था। विस्तृत भोजों का आयोजन तथा दीर्घ काल तक चलने के कारण ये यज्ञ अत्यन्त व्यय साध्य हो गये, उत्श्रेष्ठि यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ, वाजपेय यज्ञ, एवं दीर्घ सात्विक यज्ञ उसके उपकरण प्रयोग विधियों की चर्चा महाभारत में हुई है। जिसे शोधकर्त्री ने द्वितीय अध्याय में ब्राह्मणों के कर्म संपादन के परिप्रेक्ष्य में उल्लेख किया है। इस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों के समंन्वय से इन यज्ञों का विस्तार हुआ है, जिसे गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक यज्ञ कहा है।

अफलकाँडक्षिभिर्यज्ञोविधि दृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विक।।
अभिसंघाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धिराजसम्।।
विधिहीनम सृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहित यज्ञं तामसं परिचक्षते।।[1]

युधिष्ठिर द्वारा किया गया अश्वमेधिक यज्ञ का विस्तृत वर्णन महाभारत में मिलता है, जिसमें यज्ञ भूमि की तैयारी यज्ञ मण्डप की सजावट अश्वमेध यज्ञ का

---

(1) अनु0 106 / 11–13

जब पंच पाण्डव द्रोपदी सहित वनवास बिता रहे थे इसी बीच व्यासदेव आकर अर्जुन को पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिये तपस्या करने भेज देते हैं, उनकी तपस्या से प्रसन्न हो भगवान शिव उनकी परीक्षा लेने के लिये किरात का रूप धारण कर इनसे युद्ध करते हैं उनकी वीरता से प्रसन्न होकर उन्हें पाशुपत अस्त्र देते हैं और संरक्षण का भी वचन देते हैं।

तात्पर्य यह कि महाभारत तप और यज्ञ अनुष्ठानों का भी विशेष महत्त्व था अगर किसी को अस्त्र–शस्त्र की प्राप्ति करनी होती थी तो वह ईश्वर की तपस्य के माध्यम से दिव्यास्त्र तक प्राप्त कर लेते थे महाभारत मे इस प्रकार के कई उदाहरण द्रष्टव्य हुए है। और इस काल मे यज्ञ और अनुष्ठान आदि कृत्य भी होते थे। हव्य पूजन के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। यज्ञ के माध्यम से जल वर्षा भी हो जाती थी, लोगों के रोग द्वेष का अन्त होता था, एवं वातावरण शुद्ध होता था। महाभारत में अश्वमेघ यज्ञ, वाजपेय आदि का भी वर्णन उपलब्ध होता है। यज्ञ और अनुष्ठान आदि से मानव हृदय को आत्म शन्ति प्राप्त होती है।

धार्मिक तीज त्यौहार तथा उपवास विधि

व्रत एवं तप भारतीय संस्कृति की एक विशिष्ट विशेषता है, अपनी कामनाओं की पूर्ति हेतु प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी व्रत का पालन करता है। महाभारत में व्रत के समय अनेक संस्कारों क्रियाओं का उल्लेख है। युधिष्ठिर के प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कुछ तिथियों सम्बन्धी व्रत और नियमों की चर्चा की है। ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिये सामान्य रूप सें तीन रात उपवास करने का विधान है। महर्षि अंगिरा ने पंचमी, षष्ठी और पूर्णिमा के समय व्रत और उपवास और उसके फल का वर्णन इस प्रकार किया है।

ब्रह्मक्षत्रे त्रिरात्रं तु विहितं कुरुनन्दन।
द्विस्त्रिरात्रमथैकाह निर्दिष्टं पुरुषर्षभ।।
वैश्याः शूद्राश्च यन्मोहाटुपवासं प्रचक्रिरे।
त्रिरात्रं वा द्विरात्रं वा तयोर्व्युष्टिर्न विद्यते।।
चतुर्थ भक्तक्षपणं वैश्ये शूद्रे विधीयते।
त्रिरात्रं न तु धर्म ज्ञैर्विहितं धर्मदर्शिभिः।।[1]

इसी प्रकार वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, सावन, भाद्रपद, अश्विनी, कार्तिक, इत्यादि महीनों में संयमपूर्वक जितेन्द्रि होकर व्रत करता है उसे धन–धान्य, पुत्र, तीर्थ स्थान का फल संमृद्ध शील अभिचर ऐश्वर्य का भोक्ता और अन्त में स्वर्ग लोक में प्रतिष्ठित होता है। अनु0 पर्व के अन्तर्गत दान धर्म में व्रत और उपवास विधानों का वर्णन है। जिसे अत्यन्त संक्षिप्त रूप में यहां उदधृत किया जा रहा है। इस प्रसंग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की चर्चा पिछले पृष्ठ में की जा चुकी है। यहाँ विशिष्ट महीनों में रखे गये व्रतों एवं उनसे प्राप्त फलों का उल्लेख किया जा रहा है।

मार्गशीर्षे तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत्।
भोजयेच्च द्विजाञ्शक्त्या स मुच्येद व्याधिकल्बिषैः।।

---

(1) अनु0 106 / 14–15

चैत्र तु नियतो मासमेकभक्तेन यः क्षिपेत्।

सुवर्णमणि मुक्ताढये कुले महति जायते।।

ज्येष्ठा मूलं तु यो मासमेक भक्तेन संक्षिपेत।

ऐश्वर्यमतुलं श्रेष्ठं पुमान स्त्री वा प्रपद्यते।

इतिमासा नरव्याघ्र क्षिपतां परिकीर्तिताः।

तिथीनां नियमा ये तु श्रृणु तानपि पार्थिव।।[1]

इसी प्रकार विशिष्ट तिथियों में किये गये व्रत उपवासों की महाभारत में विशेष चर्चा की गयी है। युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर में भीष्म ने भगवान विष्णु प्रोक्त द्वादशी व्रत के विधान और उसके महात्म की चर्चा इस प्रकार की है। जिसमें कहा गया है, कि मार्गशीर्ष से लेकर कार्तिक मास तक सभी द्वादशी तिथियों में कमलनयन विष्णु की पूजा कर जो व्यक्ति उपवास करता है उसे अपमृत्यु का भय नही होता और वह अनेक यज्ञों के फल का भागी होता है।

द्वादश्यां मार्गशीर्षे तु अहोरात्रेण केशवम्।

अर्च्याश्वमेघं प्राप्नोति दुष्कृतं चास्य नश्यति।।

अहोरात्रेण द्वादश्यां माघमासे तु माधवम।

राजसूयमवाप्नोति कुलं चैव समुद्धरेत्।।

अर्चयेत पुण्डरीकाक्षमेवं संवत्सरं तु यः।

जातिस्मरत्वं प्राप्नोति विन्धाद् बहु सुवर्णकम्।।

अतः परं नोपवासो भवतीति विनिश्चयः।

उवाच भगवान विष्णु स्वयमेव पुरातनम्।।[2]

---

(1) वहीं 106/17,23,25,31 (2) अनु0 109/3,5,15,17

परिवर्तित स्मृति शास्त्रों में वर्णित चान्द्रायण और सान्तपन व्रतों की चर्चा भी महाभारत में मिलती है। इस प्रकार महाभारत में विशिष्ट मासों तिथियों में व्रत उपवास की चर्चा कर उनके महत्व का विस्तृत गुणगान किया गया हैं महाभारत के युद्धोपरान्त दुखाी अन्यमनस्क युधिष्ठिर तप कर देह को सुखाना चाहते थे। तब भीष्म ने तपस्या के प्रभाव का उल्लेख करते हुये बताया है कि इससे स्वर्ग सुयश आयु उच्चपद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं।[1]

निष्कर्ष यह है कि व्रत एवं तप कामनाओं को प्रदान करने वाला धार्मिक कृत्य है। इस संबंध में *डॉ0 शकुन्तला रानी ने लिखा है,* ''व्रत और तप धर्मसाधना के आंतरिक और आध्यात्मिक पक्ष है। इनसे भारतीय धर्म भावनाओं की उदारता मानवीय भावना तथा स्वतंत्रता का संरक्षण प्राप्त होता है। व्रत और तप से प्राप्त जिस महात्म का गायन उसके विधि निषेधों का उल्लेख महाभारत में हुआ उससे कायिक, वाचिक और मानसिक शुद्विता होती है। व्यक्ति की आत्मा निर्मल होकर *''पुर्नापि जन्मम पुर्नापि मरणं''* के चक्र से मुक्त हो जाती है।

---

(1) अनु0 पर्व 157/8

<u>महाभारत में वर्णित लोक परलोक एवं नरक का अनुशीलन</u>

भारतीय धर्म साधना प्रारंभ से मोक्षप्रदान रही है। इसका तात्पर्य यह है कि मरणोपरांत जीव किसी अन्यत्र लोक में जाता है ऐसी मान्यता अन्य धर्म सम्प्रदाय में भी मिलती है। विश्व की प्राचीन संस्कृतियों का यदि अध्ययन किया जाये तो यह बात सहज ही ज्ञात हो जायेगी कि इस लोक से परे किसी दूसरे लोक की परिकल्पना सर्वत्र मिलती हैं यह अवस्था वैदिक सभ्यता, मेसोपोटामिया, बेबीलोन की सभ्यता आदि में भी दिखाई पड़ती हैं मिस्र के पिरामिड संभवतः यही सूचित करते हैं कि मृत्यु के पश्चात् जीव को अन्य लोक में ऐसी ही सुविधायँ प्राप्त होंगी। जैसा उसमें इस लोक में धार्मिक कृत्यों का संपादन किया होगा। इन सब में वैदिक वाङ्मय में तीन अवस्थाओं का उल्लेख स्वर्ग–नरक और आवागमन से मुक्त मोक्ष अवस्था की प्राप्ति। लोक मान्यता यह है कि जीव इस लोक में सतकर्म करने पर स्वर्ग पद का भागीदार होता है। और अपने सतकर्मों का भोग कर पुनः इस संसार में जन्म लेता है। यही बात पाप कर्म के साथ लगी हुयी है, कि अपने कदाचारों दुष्कर्मों या धर्मशास्त्र निषिद्ध कर्मों के करने से नरक के कष्टों को भोग कर पुनः पृथ्वी पर आता है। इस आवागमन को पुनः जन्म का सिद्धांत कहा जाता है। एक तीसरी अवस्था की परिकल्पना वेद, उपनिषद, पौराणिक साहित्य में मिलती है। जिसे मोक्ष की अवस्था कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न धार्मिक कृत्यों का संपादन कर ज्ञान कर्म भक्ति आदि मार्गों का अवलम्बन लेकर यही जीव अपने अंशी परमात्मा से मिल जाता है। सद्या मुक्ति, क्रम मुक्ति इत्यादि का विस्तृत विवरण उपनिषदों में मिलता है। यहां हम सबसे पहले स्वर्ग–नरक की चर्चा कर और अन्त में मोक्ष की अवस्थाा का उल्लेख करेंगे। यद्यपि मोक्ष साधना दर्शन का विषय हैं अतः इसका विस्तृत उल्लेख शोध प्रबन्ध के अगले षष्ठ अध्याय में किया जायेगा।

महाभारत के शांति पर्व में स्वर्ग नरक, की चर्चा हुयी है। कहा गया है कि स्वर्ग प्रकाश युक्त और नरक अंधकार से आछन्य है।

स्वर्गः प्रकाशः इत्याहुनर्रकः तम एव च।

सत्यानृतं तदुभयं प्राप्यते जग्तीचरैः।।[1]

यहीं की व्याख्या करते हुये कहा गया है, कि ज्ञान और अज्ञान दोनो के समिश्रण से जाग्रतिक जीवों की श्रृष्टि होती है। सत्य और अमृत धर्म और अधर्म प्रकाश और अंधकार दुःख और सुख इत्यादि युगम धर्म और अधर्म के प्रतीक हैं, और यहीं से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अतः विज्ञय मनुष्य को चाहिये कि इस लोक में प्राप्त होने वाले सुखों को अनित्य मानकर उसे स्वर्ग और आगे बढ़कर मोक्ष की कामना करनी चाहिए। स्वर्ग की विशेषता बताते हुये ये कहा गया है कि वहां सुखदायनी हवा चलती है। मनोहर सुगंध छायी रहती है, भूख, प्यास, ऊर्जा, और पाप के कष्ट का फल वहाँ नही मिलते।

सुसुखः पवनः स्वर्गे गन्धश्च सुरमिस्तथा।

श्रुत्पिपासा श्रमो नास्ति न जरा न च पापकम्।।[2]

नरक में सुखों का अभाव होता है। जो लोग क्रोध, लोभ, हिंसा, असत्य, धार्मिक क्रियाओं से विहीन हैं। वे न तो इस लोक में सुखी होते हैं न ही परलोक में वे नाना प्रकार के रोग व्याधि और ताप से संतप्त रहते हैं। नरक में इस प्रकार के दुःख ही दुःख उसे प्राप्त होतें हैं। जबकि स्वर्ग सुखदायी है।

नित्यमेव सुखं स्वर्गे सुखं दुःखमिहोभयम्।

नरके दुःखमेवाहुः सुखं तत्परमं पदम्।।[3]

स्वर्ग नरक की यह परिकल्पना अनेक पुराणों स्मृति शास्त्रों से विकसित होकर आज भी हिन्दू समाज में इसकी परिकल्पना परिव्याप्त है। महाभारतकार की

---

(1) शा0 190/3 (2) शा0 191/13 (3) शा0 190/14

यही मान्यता प्रायः सर्वत्र दिखाई देती है। कि जीव इस लोक में कार्मों के बंधन में अबद्ध होकर त्रिवर्ग–अर्थ, धर्म, काम की प्राप्ति के हेतु अनेक कर्म करता है। वस्तुतः इनके माध्यम से वह स्वर्ग नरक को ही प्राप्त करता हैं क्योंकि चतुर्थ अवस्था मोक्ष की है। जिसमें इन्द्रियातीत होकर अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ जीव लोक परलोक की मायिक द्वन्दों से परे होकर निर्वाण या मोंक्ष पद की प्राप्त करता है और यही जीव का काम्य है, जिसकी महत्ता सर्वत्र गायी गयी है। दार्शनिक मत मतान्तरों में भी इसी मोक्ष को पाने का सतत् प्रयास और क्रियाशील रहने के विवरण मिलते हैं। व्यास ने लिखा है–

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत।
सुखं वै ब्राह्मणे ब्रह्म निर्वदे नाधि गच्छति।।[1]

सारांश यह कि महाभारत में कर्मो के अनुरूप स्वर्ग–नरक की प्राप्ति होती थी। वैदिक सभ्यता, वेबीलोन सभ्यता, मेसोपोटामिया आदि अन्य लोक में उक्त सुविधायें प्राप्त होती थी। मानव स्वकृव्यानुरूप ही लोक परलोक में सुख–दुःख प्राप्त होता है। संसार में जो जन्म लेता है, उसका अन्त निश्चित है और मनुष्य को अपने सत्कर्मों के अनुसार ही त्रिवर्ग की प्राप्ति होती है।

---

(1) शा0 189/7

धार्मिक कार्यों का राजनीति पर प्रभाव व मूल्यांकन

यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि धारणा धर्म है इस संसार में जीव की उत्पत्ति और विकास क्रम कि चाहे जैसी अवस्था रही हो किन्तु विश्व के प्रत्येक भाग में सामाजिक संगठन हेतु जहाँ राजनीतिक तंत्र विकसित हुआ, वहीं इसके एहिक विकास समता स्वतंत्रता तथा अमानुष्कि (पारलौकिक) उन्नति हेतु किसी न किसी धार्मिक क्रियाओं तद्जन्म विधि निषेधों का विकास भी हुआ। महाभारतकार का यह उद्घोष आज भी प्रासांगिक है। न ही मानुषात श्रेष्ठ तरंग ही किंचित मनुष्य से कुछ भी श्रेष्ठ वस्तु नही है। ऐसे मानव समाज की सुगठित सुव्यवस्थित रखने के लिये महाभारत में जिस धार्मिक क्रियाकलापों विधि निषेधों की चर्चा की है। वह वैदिक उपनिषद धारा से विकसित हुयी है। जिसमें यदि वीर पूजा के लिये अतीन्द्रिय अतिशक्ति सम्पन्न व्यक्तियों की चर्चा हैं, जिसमें भीष्म, अर्जुन, द्रोण, अर्श्वस्थामा आदि प्रमुख हैं तो सामाजिकों के लिये अनेक देवी देवताओं की परिकल्पना कर उनके पूजा के विधान भी उल्लिखित हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि महाभारत में अर्ध करते हुये इष्ट देव की उपासना या अन्य धार्मिक कृत्य संपादित कर चर्म पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जायेगी। इस हेतु व्यास ने एक ओर कर्मवाद की प्रधानता दी है। जिसमें गोतोक्त स्थिति प्रज्ञता से युक्त निष्काम भाव से कर्मरत रहने का विधान है। तो दूसरी ओर उपास्य के प्रति अन्य भाव से प्रेम या भक्ति भाव प्रदर्शित कर जीव अपना काम्य प्राप्त कर सकता हैं।

सामाजिक जीवन में दान, दया, सदाचार दाक्ष्णय से युक्त विभिन्न प्रकार के वैयक्तिक सामाजिक और धार्मिक संस्कार का भी उल्लेख हुआ है, क्योंकि धार्मिक संस्कार ही समाज रूपी शरीर को एकता के सूत्र में आबद्ध रखते हैं। राजाओं के द्वारा संपादित यज्ञ आदि जहाँ उनकी धार्मिक प्रवृत्ति के द्योतक है वही प्रजा को दान आदि से संतुष्ट करने का भी प्राविधान बताया गया है। ऐसे अल्प अथवा दीर्घ कालिक यज्ञों से समाज में राजाओं का महत्व और उनकी लोक प्रियता स्थापित होती थी।

महाभारत में सामाजिक धर्मों के अतिरिक्त वैयक्तिक धार्मिक कृत्यों का भी विस्तृत उल्लेख मिलता है। इनमें त्यौहार व्रत और उपवासों का विशेष स्थान है। स्त्रियों के लिये पात्विक व्रत हेतु कुछ व्रत एवं अनुष्ठानों की भी चर्चा सतीत्व महिमा की प्रशंसा महाभारत में मिलती है। साथ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिये विहित निर्दिष्ट कर्मो तथा उनसे प्राप्त लोक परलोक की महिमा का गायन भी महाभारत में किया गया है। महाभारतकार की मान्यता आज के वैज्ञानिक युग में भी बद्धमूल है, कि सत्यकर्मों का परिणाम सुख और स्वर्गलोक की प्राप्ति है, तथा दुष्कृत्यों का कर्म दुःख और नरक है। अवतारवाद तथा पुर्नजन्म के कारण मोक्ष की परिकल्पना भी धार्मिक कृत्यों के मूल्य में बतायी गयी है।

सारांश यह है, कि महाभारतयुगीन राजनीतिक समाज पर श्रेष्ठ उच्च, उदात्त, मानवीयता पर आधारित धार्मिक कृत्यों का जो वर्णन महाभारत में उपलब्ध हैं। उससे एक ओर सुसंगठित राज्य की परिकल्पना तो मिलती ही है। धार्मिक सम्पन्न व्यक्ति राज्य विरुद्ध या अराजकता विस्तार से अपने को अलग मानता था। इस प्रकार धर्माधारित राजनीति की चर्चा सिद्धांत और व्यवहार रूप में महाभारत में मिलती है। जहां न कोई दण्ड पाने वाला व्यक्ति है, न ही दण्ड देने वाला व्यक्ति परस्पर स्वधर्म की रक्षा करते हुये जीवन यापन की परिकल्पना महाभारतकार ने की है। ऐसी उच्च धार्मिक अवस्था के कारण ही यह संभव हो सकता है कि संपूर्ण समाज, समता, समानता बन्धुत्व और न्याय पर विश्वास रखकर अपना जीवनयापन करें। जब भी राजा पदविभूषित होता तो उसका राजतिलक अवश्य किया जाता था एवं धार्मिक कार्यों के आधार पर ही राजनीति की बागडोर राजा को सौंपी जाती थी। धर्म संबंधी कार्यों का राजनीति पर अनुकूल ही प्रभाव पड़ता था धर्मों के अनुरूप ही राजनीति या राज्य दरबार के अंदर प्रवेश होने पर सर्वप्रथम राजमंत्री, ऋषि आदि सभी को नमस्कार पूर्ण एवं चरण स्पर्श पूर्ण हृदय से अभिवादन करना होता था, इन्हीं सब संस्कारों के द्वारा ही हम अपनी एक नयी छाप समाज के सामने छोड़ते

हैं, जो की आदिमकाल में इतिहास रूप में वर्णित होकर अन्य को तुलनात्मक रूप स्मरण कराती है यही शोधकर्त्री की मनोभावना है।

महाभारत में धार्मिक स्थिति का अवलोकन कर जो कुछ कहा गया हैं इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यास ने तद्‌युगीन समाज में प्रचलित कर्म एवं भक्तिवाद की प्रबलता के साथ धार्मिक संस्कारों के प्रतिपादन वैयक्तिक शुद्वता हेतु व्रत, उपवास, यज्ञ, अनुष्ठान, विभिन्न धार्मिक संस्कार ज्ञान, सदाचार, विवेक, देवी—देवताओं की पूजा उपासना पुर्नजन्म में विश्वास स्वर्ग—नरक की परिकल्पना वर्णित है, इससे यह ज्ञात होता है कि महाभारतकालीन समाज के लोग धार्मिक होते थे। परस्पर धार्मिक समभाव रखते हुये अपने संस्कारों की पूर्ति.के लिये कर्मकाण्डों पर विशेष बल देते थे। राजा वर्ग द्वारा अपने व्यक्तिगत कर्मकाण्डों को संपादित करते हुए प्रजा के मनोरंजन हेतु विशाल यज्ञ, समारोह उत्सव संपन्न करते थे। तथा पुष्कल मात्रा में धनराशि याचकों को देकर स्वधर्म पालन के लिये पीडित करते थे। धार्मिक कट्टरता संकीर्णता महाभारत में कम मिलती है। सहिष्णुता उदारता, व्यक्तिगत धर्मपालन की स्वतंत्रता इस काल की प्रमुख विशेषतायें रही हैं। जिसमें राजनीतिक हस्तक्षेप का पूर्णतः अभाव था।

अध्याय-षष्ठ

महाभारतकालीन दार्शनिक स्थिति

क– महाभारतकालीन धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

ख– धर्मिक सिद्धान्त एवं धर्म

ग– भारतीय दर्शन में महाभारतकालीन नैतिकता की स्थिति

घ– गीता में निहित जीवन दर्शन एवं नैतिकता

ड– महाभारत में नैतिकता का सामाजिक पक्ष

च– महाभारतकालीन दार्शनिक विचारों का सामाजिक जीवन पर पडे प्रभाव का विश्लेषण

छ– महाभारत मं चित्रित आत्म विजय एवं आत्म संयम

ज– दर्शन एवं व्यवहार पक्ष की दृष्टि से वैदिककाल एवं महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा

झ– नैतिकता के विषय में मौलिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोंण

अ– महाभारत के दार्शनिक विचारों का राजनैतिक जीवन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण

अध्याय-षष्ठ

महाभारतकालीन दार्शनिक स्थिति

दर्शन शब्द दृशिर् धातु में करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय का योग करने पर बनता है। 'दृश्य तेऽनेनेति दर्शनम्' जिसके माध्यम से प्रेक्षण किया जाये उसे दर्शन कहते हैं। डॉ0 यारस नाथ द्विवेदी ने लिखा है-कि प्रेक्षण का अर्थ है प्रकृष्ट रूप में देखना।[1] ज्ञान दृष्टि या दिव्य दृष्टि से देखना ही दर्शन शब्द का अभिधेय है। जैसा कि डॉ0 राधाकृष्णन ने लिखा है जिसके द्वारा आत्मदर्शन हो वह दर्शन है। वह दर्शन या तो इन्द्रिय जन्य निरीक्षण हो सकता है। या प्रत्यक्षी ज्ञान अथवा अन्तरदृष्टि द्वारा अनुभूत हो सकता है।[2] दर्शन का अंग्रेजी रूपान्तर फिलॉसफी (Philosophy) है। जो ब्रीक के फ्लास तथा सोफिया शब्द से मिलकर बना है। इसकी परिभाषा करते हुए डॉ0 नगेन्द्र ने लिखा है-फिलॉसफी का अर्थ हुआ ज्ञान या विद्या का प्रेम यहाँ ज्ञान का अर्थ तथ्यों की जानकारी नहीं वरन् विश्व और मानव जीवन के गहनतम् प्रश्नों के सम्बन्ध में अभिज्ञता है। सुकरात ने दर्शन को आन्तिरक अध्ययन की ओर मोड़ा और कहा कि आत्मज्ञान ही दर्शन का मुख्य उपदेश है। दर्शन जीवन के मूल विश्वव्यापी प्रश्नों और मूल्यों का व्यवस्थित अध्ययन है। यह अध्ययन कभी विश्लेषणात्मक होता है। और कभी संश्लेषणात्मक होता है।[3] पाश्चात् विद्वान जानडिवी का विचार है कि दर्शन उस ज्ञान की प्राप्ति का महत्व प्रकट करता है। जो जीवन के आचरण को प्रभावित करता है। भारतवर्ष में दर्शन तत्व ज्ञान आत्मज्ञान या परमात्म ज्ञान का वाचक है। यहाँ आत्मा को ही दर्शन श्रवण मनन और चिन्तन का विषय बताया गया है।

आत्मा वा अरे दृश्टव्यः श्रोतव्यों निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।[4]

(1) भारतीय दर्शन पृ.1 (2) भारतीय दर्शन भा.1, पृ.37 (3) मानविकी परिभाषिक कोश-दर्शन खण्ड पृ.156
(4) बृहदारण्यक उप. 2/4/5

महाभारतकालीन धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शन जीवन अनुभूति की नवता को सदैव ग्रहण करते रहे हैं। मानव की जिजीविषा संघर्षशील परिस्थितियों में उसका विकास घटित होता रहा है। और इस प्रकार यहाँ दर्शन आध्यात्मिकता के रूप में विकसित होता रहा है। औपनिषद भाषा में इसे पराविद्या कहा गया है। आत्मा सम्बंधी ज्ञान पराविद्या का विषय है। तो शेष जगत अपराविद्या के अन्तर्गत कहा गया है। वैदिक काल में श्रृष्टि के पल-पल परिवर्तित रूप मेघों का गर्जन, तर्जन, विद्युत नर्तन प्रकृति के कोमल कठोर एवं भयावह रूप को देख वैदिक ऋषि उसमें भी एक ही ब्रह्म के दर्शन करता था। इस प्रकार यहाँ दर्शन की दो धारायें प्रारम्भ से ही दिखाई देती रहीं।

(1) आस्तिक दर्शन (2) नास्तिक दर्शन

आस्तिक शब्द भारतीय परम्परा में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है-

(1) ईश्वर पर आस्था रखने वाले व्यक्ति को आस्तिक कहते हैं।

अस्ति ईश्वर इति मतिर्यस्य स आस्तिकः।[1]

मनुस्मृति में नास्तिकों को वेद निन्दक कहा गया है।[2] पाणिनि के कथानुसार परलोक के अस्तित्व पर आस्था करने वाला व्यक्ति आस्तिक कहलाता है।

अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः।
अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः।।
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।
दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिकः।।[3]

इस प्रकार आस्तिकता के तीन कारक तत्व माने गये, ईश्वर पर आस्था वेद आप्तवाक्य है। एवं परलोक के आस्तित्व पर विश्वास।

वैदिक काल में अतिप्राकृत शक्तियों पर विश्वास किया जाता था, साथ ही परमात्मा के व्यापक निंभकार सर्वोपर स्वरूप की अनुभूतियाँ अभिर्व्यजित है। इसीलिए पश्चिमी विचारक वेदों में बहुदेववाद की परिकल्पना करते हैं। यद्यपि वेदों में एकम् सद् विक्रम बहुधा वदन्ति कहकर एक ही ब्रह्म के दर्शन की स्वीकृति वैदिक औपनिषद धाय में मिलती है। इस दर्शन के

(1) शब्द कल्प द्रुम पृ. 198 (2) मनुस्मृति 2/11 (3) अष्टाध्यायी 4/4/60 एवं कौमुदीकार्य की वृत्ति

छः भेद किये गये हैं। वैशेषिक दर्शन, न्याय दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, पूर्वमीमांसा दर्शन एवं उत्तर मीमांसा दर्शन तथा नास्तिक दर्शन भी छः कहे गये हैं। चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, वैभाषिक दर्शन, सौत्रान्त्रिक दर्शन, योगाचार दर्शन एवं माध्यमिक दर्शन।[1]

महाभारत में जीव स्परूप :- जीव प्राण धारा धातु में 'क' अथवा 'घञ्' प्रत्यय का योग करने पर जीव शब्द बनता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि दुःख का अनुभव करने वाले शरीरस्थ आत्मा को जीव कहते हैं।[2] ऋग्वेद और आत्मा शब्द अनेक बार आये हैं। डॉ0 गणेशदत्त शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में आत्मन शब्द से मानवदेह श्वांस जीवन शक्ति शरीर आत्मा एवं मानव के निजी व्यक्तित्व का निर्देश किया गया है।[3] ऋग्वेद के वागाम्मृणीय सूक्त में जीवात्मा एवं परमात्मा का विवेचन है। जिसका विकास उपनिषदों में विशेष रूप से हुआ है। बृहदारण्योपनिषद में आत्मा को ही दर्शनीय श्रवणीय माननीय और धृतव्य कहा गया है।[3] भारतीय तत्व ज्ञान इस तत्व को प्रतिष्ठा देता है। कि मन, बुद्धि, चित्त, पंचइन्द्रियों और पंचप्राण आत्मा के ही भाग हैं। जब तक कि जीवन की सत्ता विद्यमान है। तभी तक इन सब में गति है। उपनिषदों में जीव के परिप्रेक्ष्य में ही आत्मा का विस्तृत विवेचन हुआ है। इसे हम तीन रूपों में इसी प्रकार समझ सकते हैं।

(1) आत्मा का स्वरूप क्या है।

(2) क्या आत्मा इसी जीवन काल तक रहती है। या इसके उपरान्त भी इसका निवास है।

(3) आत्मा की कितनी अवस्थायें हैं।

इस सम्बन्ध में कठोपोनिषद कहता है कि जीवात्मा प्राणों में बुद्धि वृत्तियों के भीतर रहने वाले दिव्य स्वरूप हैं। रूपक अलंकार के द्वारा यमराज नचिकेता को समझता है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्तोत्याहुर्म नीषिणाः।।4

तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में आत्मा ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में जीव और आत्मा का विस्तृत

---

(1) भारकतीय दर्शन-पारस नाथ एवं हिन्दू धर्म कोश-राजवली पाण्डेय पृ.315 (2) मनुस्मृति 12/3 (3) ऋग्वेद में दार्शिनिक तत्व पृ.99 (4) कठोपनिषद 2/3/4

विश्लेषण उपलब्ध है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरिया अवस्था का उल्लेख मुण्डक उपनिषद में हुआ है। यह जीवात्मा न जन्म लेता है। और न ही मरता है। यह शाश्वत और अज है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[1]

कहना नहीं होगा कि औपनिषद धारा में जीव और आत्मा का जो सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। इन्हीं के अनुसार महाभारत में भी जीवात्मा का स्वरूप मिलता है। इसके शान्ति पर्व में भरद्वाज और भृगु के सम्बन्धों के माध्यम से जीव की सत्ता पर अनेक तर्क वितर्क प्रस्तुत किये गये हैं। भरद्वाज प्रश्न करते हैं कि यदि प्राण वायु ही शरीर को जीवित रखती है तो शरीर में ही जीव की सत्ता को स्वीकार करना व्यर्थ है। क्योंकि मृत्यु के समय जीव की उपलब्धि नहीं होती है।

यदि प्राणयते वायुर्वायुरेव विचेष्टते।

श्वसित्याभाषते चैव तस्माजीवो निरर्थकः।।

जन्तोः प्रमीयमाणस्य जीवो नैपोलभ्यते।

वायुरेव जहात्येनमूष्मभावश्च नश्यति।।[2]

भरद्वाज के अनेक तर्कों को काटते हुए, भृगु ने जीव की सत्ता तथा नित्यता की अनेक युक्तियों को सिद्ध करते हुये कहा है कि शरीर के आश्रय से रहने वाला जीव उसके नष्ट होने पर भी नहीं नष्ट होता जैसे समिधाओं के जल जाने पर भी अग्नि का नाश नहीं होता है।

न शरीराश्रितो जीवस्तस्मिन नष्टे प्रणश्यति।

समिधामिव दग्धानां यथाग्नि दृश्यते तथा।।[3]

शरीर के नाश होने पर जीव आकाश की भाँति स्थित होता है।

तथा शरीर संत्यागे जीवो ह्याकाशवत् स्थितः।

न गृह्यते तु सूक्ष्मत्वाद् यथा ज्योतिर्न संशयः।।[4]

इस प्रकार आकाशवत कह देने से जीवात्मा को अजर, अमर और अखण्ड रूप में कहा गया है। श्रीमद्भगवदगीता में अर्जुन के व्याह मोह का निराकरण आत्मा की नित्यता के आधार

---

(1) कठो. 1/2/18 (2) शान्ति पर्व 186/1, 3 (3) शान्ति पर्व 186/2 (4) शान्ति 187/6

पर ही किया गया है। गीता में नाशवान् शरीर में रहने वाली आत्मा को नित्य और अप्रमेय कहा गया है। जिसका न तो जन्म होता है और न ही उसकी कभी मृत्यु होती है।

अन्तवन्त इसे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।
न जायते भ्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[1]

यह आत्मा अक्षेद्य, अदाह्य अल्लेद्य एवं नित्य है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारूतः।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोष्य एवं च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।[2]

शरीर और जीव सम्बंधो को क्षेत्र एवं क्षेत्र तव्य कहा गया है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतधोवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।[3]

इसके अतिरिक्त आश्वमेधिक पर्व में भी आत्मा के स्वरूप का विस्तृत चिन्तन है। उपनिषद के रथरूपक की व्याख्या इसी परिप्रेक्ष्य में हुई है। साथ गोतोक्त क्षेत्रज्ञ की भी चर्चा यहाँ की गयी है।

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मनः।
नियमे च विसर्गे च भूतात्मा मन एव च।।
अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा।
बुद्धिरैश्वर्यमाचष्टे क्षेत्रज्ञश्च स उच्यते।।[4]

शान्ति पर्व में भी आत्मा की नित्य सत्ता का प्रतिपादन मनु ने किया है कि भूतों के भीतर रहने वाला उनका अन्तर्यामी ज्ञान स्वरूप आत्मा को अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण भी नेत्रों द्वारा नहीं देखा जाता है।

---

(1) श्रीमद्भगवद्गीता 2/18, 20 (2) श्रीमद्भगवद्गीता 2/19, 23 (3) श्रीमद्भगवद् गीता।3/1 (4) अश्वमेधिक पर्व 51/1, 2

तद्वद् भूतेषु भूतात्मा सूक्ष्मो ज्ञानात्मवानसौ।

अदृष्टपूर्वश्चक्षुर्भ्यो न चासौ नास्मि तावता।।[1]

तात्पर्य यह है कि स्थूल देह अथवा लिंग शरीर में रहने वाला अभूत आत्मा तत्त्व ज्ञान से ही जाना जा सकता है। जन्म मृत्यु वृद्धि जरा इत्यादि देह के धर्म है। न ही इस आत्मा की उपलब्धि न ही शरीर के अन्तर्गत ही होती है। ये आत्मा शरीर से व्युक्त नहीं है।

महाभारत में जगत का स्वरूप :- गत्यर्थक 'गम्लृ' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय का योग करने पर जगत् शब्द की सिद्धि होती है। 'गच्छतीति जगत', अर्थात जो सतत गतिशील बना रहता है वह जगता है।

इसी प्रकार 'सृ गतौ' धातु में 'घञ्' प्रत्यय का प्रयोग करने पर 'संसार' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार जिससे प्राणी परलोक गमन करता है। उसे जगत् या संसार कहते हैं। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि प्रलय में सत्य और असत्य कुछ भी नहीं था। वायु शून्य में और आत्मालम्बन से श्वास प्रश्वांस युक्त केवल ब्रह्म स्थित था।

नासदासीन्नो सदात्तदानी नायीद्रजोनो व्योमा परोयत्।[2]

प्रश्न यह है यदि श्रृष्टि हैं तो किसने उसे उत्पन्न किया ? जिसने उत्पन्न की उसे कार्य के लिए किसने बाध्य किया। इन प्रश्नों के उत्तर दार्शनिक ग्रन्थों के साथ ही साथ महाभारत में भी दिये गये हैं। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त (10/90) में कहा गया है कि सर्वप्रथम आदि पुरूष से विराट की उत्पत्ति हुई उस विराट से देव पशु पक्षी, प्राणी और क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र उत्पन्न हुए। इसी प्रकार अथर्ववेद के मन्यु सूक्त (11/4/8) में कहा गया है कि जिस प्रकार पूर्व युग में सोम, अग्नि, इन्द्र थे। परमात्मा ने उसी प्रकार पृथ्वी, द्यौ, अंतरिक्ष की रचना की है। इसी मत का विकास आगे सांख्य दर्शन में हुआ है। महाभारत के वन पर्व में कहा गया है कि जैसे मकड़ी स्वतः जाला उत्पन्न करती है। उसी प्रकार परमेश्वर मनुष्य, देव, गंधर्व, स्थावर भूतों की रचना करता है।

सृष्टवा देवमनुष्यांस्तु गन्धर्वोरगराक्षसान्।

स्थावराणि च भूतानि संहराभ्यात्मभयया।।[3]

---

(1) शान्ति पर्व 203/7 (2) ऋग्वेद 10/29/1 (3) महाभारत वन पर्व 189/30

इसी प्रसंग में भगवान बालमुकुंद मार्कण्ड से कहते हैं कि मैं ही सभी स्थावर प्राणियों देव आदि की रचना तथा संहारकर्ता हूँ। मैं ही आकाश, पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा इस संसार में चराचर वस्तुऐं हैं। उनका निर्माण करता हूँ।

ततो विबुद्धे तस्मिस्तु सर्वलोपितामहे।
एकीभूतो हि स्रक्ष्यामि शरीराणि द्विजोत्तम।।
आकाशं पृथिवीं ज्योतिर्वायुं सलिलमेव च।
लोके सच्च भवेच्छेषमिह स्थावर जंगमम्।।[1]

एक अन्य प्रसंग में भृगु भरद्वाज संवाद के माध्यम से जगत् गुरू की उत्पत्ति का व्यापक विवरण किया गया है। युधिष्ठिर ने पितामह से प्रश्न किया था कि यह सम्पूर्ण स्थावर जगम जगति की उत्पत्ति कहाँ से हुई और प्रलयावस्था में ये किसमें लीन हो जाता है। भीष्म ने भरद्वाज और भृगु के संवाद के माध्यम से यह समझाया कि भगवान नारायण सम्पूर्ण जगत् स्वरूप है। वही अन्तरात्मा और सनातन पुरुष है। वे ही कूटस्थ अविनाशी अव्यक्त प्रकृति से परे इन्द्रिय अतीत हैं। उन्होंने संकल्प मात्र से पुरुष को उत्पन्न किया और उससे प्राणियों का जन्म मरण होता है।

नारायणो जगन्मूर्तिरन्तरात्मा सनातनः।
कूटूस्थोऽक्षर अव्यक्तो निर्लेपो व्यापकः प्रभुः।।
प्रकृतेः परतो नित्यमिन्द्रियैरप्य गोचरः।
स सिसृक्षुः सहस्रांशादसृजात् पुरुषं प्रभुः।।
मानसो नामं विख्यातः श्रुतपूर्वो महर्षिभिः।
अनादिनिधनो देवस्तथामे द्योऽजरामरः।।[2]

इसी प्रसंग में प्रकृति के निर्माण का क्रम भी दिया गया है जिसमें महाम तत्व, अहंकार, शब्द, तन्मात्रा, जल, अग्नि, वायु और पृथ्वी उसमें स्वयम्भु तेजोमय दिव्य कमल एवं वेदमय ब्रह्मा जी और उनसे ही इस समस्त रचना का प्राकट्य उल्लिखित है।

---

(1) वन पर्व 189/48, 49 (2) शान्ति पर्व 182/11

सोऽसृजत् प्रथमं देवो महान्तं नाम नामतः।

महान् ससर्जाहंकारं स चापि भगवानथ।

आकाशमिति विख्यातं सर्वभूतधरः प्रभुः।।

आकाशाद भवद् वारि सलिलादग्निमारूतौ।

अग्निमारूत संयोगात् ततः समभवन्मही।।

ततस्तेजोमयं दिव्यं पद्यं सृष्टं स्वयम्भुव।

तस्मात् पद्यात् समभवद् ब्रह्म वेदमयो निधिः।।[1]

इस प्रकार शान्ति पर्व में आकाश से चार स्थूल भूतों की उत्पत्ति तथा पञ्चमहाभूत गुणों एवं शरीर के अन्दर प्राण अपान वायु की जीव सत्ता वर्ण विभाग आदि का वर्णन हुआ है।[2] महाभारत में जगत् उत्पत्ति के अनेक स्थल हैं। जिसमें संसार की उत्पत्तिं के विभिन्नमत दिये हैं। नारद और असित देवल संवाद में जीवात्मा की उत्पत्ति सृष्टि से सम्बन्ध का निरूपण हुआ है। आसित कहते हैं कि सृष्टि के समय परमात्मा प्राणियों की वासनाओं से प्रेरित हो समय पर जिन तत्वों से सम्पूर्ण भूतों की सृष्टि करते हैं। उन्हें पंचमहाभूत कहते हैं। और परमात्मा की प्रेरणा से ही पंचतंत्रों द्वारा प्राणियों की श्रृष्टि होती है।

येभ्यः सृजति भूतानि काले भाव प्रचोदितः।

महाभूतानि पञ्चेति तान्याहुर्भूत चिन्तकाः।।

तेभ्यः सृतजि भूतानि काल आत्मप्रचोदितः।

एतेभ्यो यः परं ब्रयादसद् ब्रूयादसद् ब्रूयादसंशयम्।।[3]

इसी प्रसंग में श्रृष्टि के अनेक तत्त्वों का उल्लेख हुआ है। जिनका विवरण पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। इस विवरण में लगभग क्रम वही कहा गया है अर्थात् पञ्चमहाभूत तथा काल विशुद्ध भाव और अभाव इन आठ तत्वों से सृष्टि का निर्माण होता है। ये ही प्रलय के अधिष्ठान हैं। पंचेन्द्रिय उनके विषय चित्तबुद्धि पंचकर्मेन्द्रियाँ इत्यादि की विस्तृत चर्चा करना पिष्ट प्रेषण होगा।

गीता में कहा गया है कि इस जगत के कर्ता ब्रह्मा हैं। कल्पान्त में सम्पूर्ण भूत ब्रह्म की

---

(1) शान्ति पर्व 182/13-15 (2) शान्ति पर्व अध्याय 182, 183, 184, 185 (3) शान्ति पर्व 275/4, 5

प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। एवं भावी सृष्टि में उन्हीं से निर्माण होता है-

(क) सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।

(ख) प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्यस्नमवंश प्रकृतर्वशात्।।[1]

यह श्रृष्टि ब्रह्मा के दिन में उत्पन्न होती है। और उसकी रात्रि में अव्यक्त में यह लीन हो जाती है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञ के।।[2]

उद्योग पर्व में धृतराष्ट्र ने सनत्सुजात से पूछा है कि उस अजन्मा और पुरातन पुरुष पर कौन शासन करता है? श्रृष्टि रचना में उसे क्या सुख मिलता है। यह श्रृष्टि सत्य अथवा असत्य या सत्यासत्य है। इसके बहुत प्रमाणिक उत्तर महाभारत में नहीं दिये गये। धृतराष्ट्र ने पूछा है-

कोऽसौ नियुङ्क्ते तमजं पुराणं, स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण।
किं वास्य कार्यमथवा सुखं च, तन्मे विद्वान् ब्रहि सर्व यथावत्।।[3]

इस विस्तृत उत्तर इसी प्रसंग में देकर विकारवाद का सैद्धान्तिक प्रतिपादन किया गया है। जिसका निष्कर्ष यह है कि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। परन्तु आसुरी प्रवृत्ति वाले जीवों की दृष्टि में यह श्रृष्टि स्त्री पुरुष के सहयोग से उत्पन्न हुई है। और इसमें कोई दूसरा कारण नहीं है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।[4]

महाभारत में माया का स्वरूप :- 'मा' माने और माङ् माने' धातु में य तथा टाप् प्रत्यय का योग करने पर माया शब्द निष्पन्न होता है। 'मीयतेऽनया इति माया।' अर्थात् जिसके द्वारा (अपरिमेय को) मापा जाता है; उसे माया कहते हैं। माया का आशय है, या=जो, मा=मत; अर्थात् जो वास्तव में है नहीं; किन्तु भ्रम के कारण जिसकी प्रतीति होती है। उसे माया कहते हैं।

---

(1) गीता 9/7, 8 (2) गीता 8/18 (3) उद्योग पर्व 42/16 (4) गीता 16/8

दार्शनिक ग्रन्थों में विद्यामाया और अविद्या माया आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति, अध्यारोप आदि की विस्तृत चर्चा हुई है। महाभारत में माया का विवेचन कम ही स्थलों पर हुआ है। सनत्सुजात धृतराष्ट्र प्रसंग में जीवात्मा की महत्ता और माया के सम्बन्ध की विवेचना की गयी है। जिसमें माया का पर्यायवाची शब्द विकार की चर्चा है। अर्थात् जो नित्य स्वरूप भगवान है। वे ही परमब्रह्म माया के सहयोग से इस ब्रह्माण्ड की श्रृष्टि करते हैं। यह माया है। परब्रह्म की शक्ति है।

य एतद् वा भगवान् स नित्यो
विकारयोगेन करोति विश्वम्।।
तथा च गच्छक्तिरिति स्म मन्यते।
यथार्थयोगे च भवन्ति वेदा।।[1]

निष्कर्ष यह है कि यहाँ ध्यातव्य है कि प्राचीन शब्द माया में शक्ति एवं कपट प्रपंचना शब्द हुये थे। भरद्वाज और भृगु के संवाद में भी माया को परमात्मा की शक्ति कहा गया है।

यदा तु दिव्यं तद् रूपं ह्रसते वर्धते पुनः।
कोऽन्यस्तद्वेदितुंशक्तो योऽपि स्यात् तद्विधोऽपरः।।[2]

माया की विस्तृत चर्चा गीता में हुई है। जिसके अनुसार ईश्वर की माया त्रिगुणात्मक और दुष्तर हैं। जो सम्पूर्ण जीवों को मोहित कर लेती है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।[3]

ईश्वर जीव के हृदय प्रदेश में स्थित होकर अपनी माया से उसे नचाता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।[4]

इसी माया के बन्धन रज्जु में अबध्य जीव हृदस्थ ईश्वर को नहीं पहचान पाता।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृत ज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।[5]

इसी गीता में माया के अपरा रूप के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन,

---

(1) उद्योग पर्व 42/21 (2) शान्ति पर्व 182/34 (3) श्रीमद्भागवत् गीता 7/14 (4) श्रीमद्भागवत् गीता 18/61
(5) श्रीमद्भागवत् गीता 7/15

बुद्धि, अहंकार, आदि तत्त्व कहकर इसे जड़ कहा गया है।

भूमिरापोऽनलो वायुः रवं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्न प्रकृतिरष्टण्धा।।[1]

एवं पराप्रकृति सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाली चेतन रूपा होती है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम्।
जीभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।[2]

इस प्रकार महाभारत में माया को ईश्वर की शक्ति कहकर उसकी उत्पत्ति और नियामक परब्रह्म को कहा गया है। इसी माया के सहयोग से श्रृष्टि की रचना होती है।

<u>महाभारत में मोक्ष का स्वरूप</u> :- मोक्ष–मोक्ष शब्द 'मुच्लृ मोक्षणे' और 'मुच् प्रमोचने मोदने च;' इन दो धातुओं में 'घञ्' प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। इस प्रकार मोक्ष शब्द के निम्नांकित अर्थ होते हैं–

(1) मोचने संसार बन्धनराहिते अर्थात माया के बन्धनों से छुटकारा।[3]

(2) ब्रह्मस्वरूपावाप्तौ च अर्थात ब्रह्मत्व की प्राप्ति।[4]

संसार में जीव मायिक बन्धनों के कारण स्वपर का अनुभव करता है। इसी के अभाव को मोक्ष कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार जीव को आत्मज्ञान होने पर उसके अविद्या जनित दुःख का विनाश होना ही कैवल्य या मोक्ष है।

तद्भावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।[5]

इसी प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार दुःख की निवृत्ति या छुटकारा पाना मोक्ष कहलाता है।

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः।[6]

तात्पर्य यह है कि मुक्ति या मोक्ष जीवात्मा का चरम काम्य है। इसमें जीव का आत्मा अंश अपने अंशी परमात्मा में मिल जाता है। महाभारत में मोक्ष के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है। उमा महेश्वर संवाद में मोक्ष को इस प्रकार परिभाषित किया गया है। महेश्वर ने कहा है कि हे उमा मोक्ष से उत्तम कोई तत्व नहीं और न मोक्ष से श्रेष्ठ कोई गति है। ज्ञानी पुरुष उसे

---

(1) वहीं 7/4 (2) गीता 7/5 (3) शब्द स्तोम महानिधि : पृ. 336 (4) वहीं 336 (5) योगदर्शन/साधनपाद 25 (6) न्यायदर्शन 1/22

कभी निवृत्त न होने वाला श्रेष्ठ एवं अत्यान्ति सुख मानते हैं।

नास्ति मोक्षात् परं देवि नास्ति मोक्षात् परा गतिः।

सुखमात्यन्तिकं श्रेष्ठमनिवृत्तं च तद् विदुः।।

नात्र देवि जरा मृत्युः शोको वा दुःखमेव वा।

अनुत्तममचिन्त्यं च प्रद् देवि परमं सुखम्।।[1]

यह मोक्ष नित्य अविनाशी अक्षोभ्य, अजेय, शाश्वत, शिवस्वरूप असुरों के लिए स्पृहणीय है। ज्ञानी लोग ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानं मोक्षज्ञानं विदुर्बुधाः।

ऋषिभिर्दे वसंधैश्च प्रोच्यते परमं पदम्।।

नित्यमक्षर मक्षोभ्यमजेयं शाश्वतं शिवम्।

विशन्ति तत् पदं प्राजाः स्पृहणीयं सुरासुरैः।।[2]

मोक्ष के साधन :- वैदिक काल से औपनिषद युग तक मोक्ष साधनों की विस्तृत मीमांसा हुई है। प्रारम्भ से ही दो प्रकार के मत प्रचलित रहे हैं। महाभारत का अध्ययन करते हुए यह देखा जा सकता है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए उस समय समाज में दो मत प्रचलित थे। प्रथम–साधन, संसार त्याग और निष्क्रयता से मोक्ष की प्राप्ति की जाती थी। पारिभाषिक शब्दों में इसे हम वैराग्य का मार्ग कहते हैं। इसे ही कहीं निवृत्ति मार्ग ही कहा गया है। द्वितीय मार्ग है संसार में रहकर धर्माचरण द्वारा मोक्ष प्राप्ति इसे प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। वस्तुतः ईश्वर से जीवात्मा का तदात्म्य होना ही वैदिक ऋषियों या आर्यो का अन्तिम लक्ष्य कहा गया है। कुछ लोग सत्य, विवेक धर्माचरण द्वारा ज्ञान प्राप्त कर कर्म करते हुए, मोक्ष प्राप्त करते हैं। औपनिषद शास्त्रों में सद्य मुक्ति और क्रम मुक्ति की चर्चा इसी परिप्रेक्ष्य में हुई है। महाभारत का मत वैराग्य की ओर अधिक प्रतीत होता है क्योंकि गीता में कर्म संन्यास की विस्तृत व्याख्या शंकराचार्य ने की है। यद्यपि कुछ स्थानों में सदाचार है। गृहस्थ आश्रम में रहकर कर्मयोग द्वारा मोक्ष प्राप्ति करने का उल्लेख धर्म सम्मत् माना गया है। गीता में ये कहा गया है जो जीव ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। उनका पुन्यःजन्म बाधित हो जाता है। यही मोक्ष है। परम् गति है।

---

(1) महाभारत अनुशासन पर्व अ. 145, पृ. 6008 (2) वहीं 145 पृ. 6008

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निर्वन्ते तद् धाम परमं मम।।[1]

गीता में योग को मोक्ष का साधन कहा गया है। जिसमें जीव साधना कर प्रणायाम करता हुआ, स्वाध्यान दोनों भौहों के मध्य में केन्द्रित कर योग बल से शरीर का परित्याग करता है। उसे मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रयाण काले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सत्तं परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्।।[2]

यहाँ हम प्राक्कथन न्याय वैशेषिक, सांख्य योग, पूर्व मीमांसा, और उत्तर मीमांसा या इससे सम्बन्धित विस्तृत साम्प्रदायिक विश्लेषण न कर दर्शन सम्बन्धी सामान्य सैद्धान्ति दृष्टि के अनुसार महाभारत के उदाहरण देकर उसके दार्शनिक मत के समीप जांने का प्रयास किया है। किन्तु महाभारत में षड्दर्शन का भी वर्णन है। किन्तु उसके पूर्व सामान्य जीवन में सदाचार परिचय देना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि महाभारत मं जिस धर्म का प्रवृत्तंन किया गया है। उसके मूल में कर्म, सदाचार, नैतिकता, ज्ञान इत्यादि का प्रवृत्तंन कर विभिन्न सोदाहरणों से उसकी व्याख्या की गयी है। इन्हें हम दार्शनिक मतों में नहीं बाध सकते।

महाभारत में नैतिकता एवं आत्मविजय का वर्णन महाभारत में संसार को अनित्य माना गया है। गीता सहित अनेक पर्वो में इसकी पुष्टि भी हुई है। कौरव वंश के विनाश के साथ लक्ष्याधिक लोगों की मृत्यु को देखकर निश्चय ही यह धारणा बध्य मूल हो जाती है कि जो पैदा होता है वह निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त होगा। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

(क) एवं रणे पाण्डव कोपदग्धा।
न नश्येयुः संजय धार्तराष्ट्राः।।[3]

(ख) एकसार्थ प्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्यकालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना।।[4]

(ग) सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।।[5]

---

(1) श्रीमद्भागवत् गीता 8/21 (2) गीता 8/10 (3) उद्योग पर्व 26/27 (4) स्त्री पर्व 2/10 (5) शान्ति पर्व 27/30

जातस्य हि ध्रुवोमृत्यु मृत्यु ध्रुवम् जन्म अजायता मृतस्य च।[1]

संसार की अनित्यता पर महात्मा विदुर ने एक रूपक प्रस्तुत किया है। कि एक पथिक रास्ता भूलकर विभिन्न जन्तुओं से युक्त जंगल में पहुँच जाता है। वह आरण्य अच्छेद्य जाल से घिरा है। उसमें पर्ण लताओं से अवेष्टित एक कूप है। वहाँ मधुमक्खियों का एक छत्ता है। जिसके रस के पान हेतु जीव विपत्तियों को भूल जाता है।[2] इस प्रकार सामान्य दर्शन का यह पहला सिद्धान्त हुआ, यह संसार नश्वर है। क्षणिक सुख प्राप्ति हेतु, जीव नाना विधि विपत्तियों को सहन करता है। रूप, यौवन, धन, सम्पत्ति, जीव, प्रियजन सब अनित्य हैं। स्त्री, पुत्र, बंध बान्धव सब को बिछुड़ना है। विषय वासनाओं की कभी भी पूर्ति से जीव तृप्त नहीं हो सकता।

पथि संगतमेवेदं दारैरन्यैश्च बन्धुभि।

नायमत्यन्त संवासो लब्धपूर्वो हि केनाचित।।[3]

तात्पर्य यह है कि जब यह संसार अनित्य है। तब उसकी समस्त वस्तुएँ उपभोग कर इन्द्रिय लालसा को बढ़ावा ही देना है। क्योंकि भोग्य वस्तुओं के उपभोग के विषय में वासनायें इस प्रकार बढ़ती रहती हैं। जैसे अग्नि में घी की आहुति डालने से उसकी ज्वाला बढ़ जाती है।

न जातु कामः कामामुपभोगेन शाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।[4]

पिंगल उपाख्यान से भी विषय वासनाओं के त्याग जन्य सुख की चर्चा की गयी है। इसी प्रकार राजा जनक की निर्लिप्ता की महत्ता गाकर महाभारतकार ने इस नीति का प्रतिपादन किया है कि नैतिकता पूर्वक जिन लोगों ने जीवन यापन किया है। वे श्रेष्ठ आदर्शवान और अन्त में मोक्ष को प्राप्त करने वाले हुए हैं।

महाभारतकार मनोवैज्ञानिकों की भाँति मानसिक अशान्ति के मूल में स्नेह या अनुराग नैतिकता का परित्याग मानता है। आत्मचिंतन तथा ज्ञान द्वारा आत्म-विजय प्राप्त की जा सकती है। विषयानुराग मुक्तिकामी के लिए अन्तकट ब्याधि स्वरूप है। जिसका उपशमन होने पर जीव आत्ममंथन से विरक्त हो जाता है। और फिर वह अनाशक्ति योग को पा नहीं सकता

---

(1) गीता 2/27 (2) स्त्री पर्व अ. 5 एवं 6 (3) शान्ति पर्व 3/9/10 (4) आदि पर्व 75/50

इसलिए कामनाओं की अतिस्पृहा को आत्मसंयम द्वारा संयम रखना चाहिए।

स्नेह मूलानि दुःखानि स्नेहजानि भयानि च।
शोक हर्षो तथाऽऽयासः सर्व स्नेहात् प्रवर्तते।।
स्नेहाद् भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा।
अश्रेस्यस्कावुभावेतौ पूर्वस्तत्र गुरूः स्मृतः।।
विप्रयोगे न तु त्यागी दोषदर्शी समागमे।
विरागं भजते जन्तुर्निर्वशे निखग्रहः।।[1]

चित्त शुद्धि के साधन एवं प्रयोजन :- मोक्ष की दार्शनिक अवधारणा प्रस्तुत करते हुए, पिछले पृष्ठों में कहा गया है कि आत्म संयम से आत्म विजय कर जीवात्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है। इसे ही मोक्ष कहा गया है। यह सायुज्य, सालोक्य, सारूप्य इत्यादि रूपों में इनका वर्णन किया गया है। वस्तुतः चित्त शुद्धि के उपरान्त जब मन निर्मल हो जाता है तब सुख-दुःख संसारिक अशक्तियों से वह विरक्त हो जाता है। ऐसे समय फिर मोक्ष प्राप्त करने के लिए आचार्य अनुष्ठान व्यर्थ प्रतीत होते हैं। यह मन ही मनुष्य की यज्ञ भूमि है और इसके स्थिर और प्रसन्न होने पर जीव को चरम पुरुषार्थ प्राप्त हो जाता है। शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से मोक्ष तत्व के विषय में जिज्ञासा की जिसके उत्तर में भीष्म ने कहा है आलौकिक ज्ञान, आप्त काम, संन्यास, यम नियम अभ्यास के द्वारा चित्त की शुद्धि तदोपरान्त मोक्ष प्राप्ति का वर्णन किया है।

मोक्षे हि त्रिविधा निष्ठा दृष्टान्यैमौक्षक्ति मैः।
ज्ञानं लोकोत्तरं यच्च सर्वत्यागश्च कर्मणाम्।।
ज्ञाननिष्ठां वन्दन्त्येके मोक्षशास्त्रविदो जनाः।
कर्म निष्ठां तथैवान्ये यतयः सूक्ष्मदर्शिनः।।
काषायधारणां मौण्डयं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुम्।
लिंगन्युत्पथभूतानि न मोक्षायेति मे मतिः।।

---

(1) वन पर्व 2/28, 29, 31

यदि सत्यपि लिंगऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणम्।
निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिंगमात्रं निरर्थकम्।।
अकिंचन्ये न मोक्षोऽस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनम्।
किंचन्ये चेतरे चैव जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते।।[1]

सामान्यतः महाभारतकार की दर्शन सम्बन्धी इसी धारणा का प्रतिपादन हुआ है। इसके साथ ही परिवर्तीकाल में प्रचलित दार्शनिक मतों के मूल रूप भी महाभारत में मिलते हैं। सांख्य योग पूर्वोत्तर मीमांसा की चर्चा भी दार्शनिक दृष्टि से हुई है, इसका विस्तृत विवेचन यहाँ समीचीन नहीं है। किन्तु इन दर्शनों के मूल सिद्धान्तों की चर्चा महाभारत के परिप्रेक्ष्य में यहाँ की जा रही है।

सांख्य दर्शन :- यह अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। इसके प्रमुख व्याख्याता उपदेशक कपिल कहे गये हैं। यद्यपि भारत में जैगषि, ससित, देवल, पराशर, सांख्य विद् आचार्य माने गये हैं। जिनमें याज्ञवल्कय सर्वश्रेष्ठ सांख्य शास्त्रीय कहलाये हैं।

जैगीषव्यस्यासितस्य देवलस्य मया श्रुतम्।
पराशरस्य विप्रषैर्वार्षगण्यस्य धीमतः।।
मृगोः पञ्चशिखस्यास्य कपिलस्य शुकस्य च।
गौतमंस्यार्ष्टिषेणास्य गर्गस्य च महात्मनः।।
नारदस्या सुरेश्चैव पुलस्त्यस्य च धीमतः।
सनर्तकुमारस्य ततः शुक्रस्य च महात्मनः।।
कश्यपस्य पितुश्चैव पूर्व मेव मया श्रुतम्।[2]

सांख्य दर्शन के अनुसार पदार्थ निरूपण :- प्रत्येक दर्शन सांसारिक रहस्यों का उद्घाटन अपनी दृष्टि से करता है। इस क्रम में ऋषि कारक पदार्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। याज्ञवल्क और जनक प्रसंग में आठ पदार्थ प्रकृति और 16 पदार्थ विकृति कहलाये हैं। अव्यक्त महातत्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, वायु ये आठ प्रकृतियाँ एवं

---

(1) शान्ति पर्व 320/38, 39, 47, 48, 50 (2) शा. 318/59-61

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिक, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, वाणी, हाथ, पैर,लिंग, गुदा और मन यह सोलह पदार्थ विकृत हैं।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराश्चापि षोऽश।
तत्र तु प्रकृतीरष्टौ प्राहुरध्यात्मचिन्तकाः।।
अव्यक्तं च महान्तं च तथाहंकार एव च।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकारानपि में श्रृणु।
श्रोत्रं त्वक्वैव चक्षुश्च जिव्हा घ्राण च पञ्चमम्।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च।
बाक च हस्तौ च पादौ च पायुर्मेढं तथैव च।।[1]

सत्त्व, रज और तम तीन गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त कहा जाता है। अव्यक्त से महात्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्त से अहंकार अहंकार से भूतगुणी युक्त मन, मन से पञ्चभूत शब्द, स्पर्श, रूप एवं गन्ध श्रोत्र, त्वचा, जिव्हा एवं प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान नामक पञ्च वायु इस प्रकार अव्यक्त महत् अहंकार और मन ये चार पञ्चभूत शब्द आदि पाँच तनमात्रायें पाँच ज्ञानेन्द्रि, पाँच कर्मेन्द्रिया सब मिलाकर सांख्य दर्शन में ये 24 तत्त्व या पदार्थ कहे गये हैं।[2] इस प्रकार सांख्य सम्मत् 24 तत्त्वों की चर्चा महाभारत में अन्यत भी हुई है। जिसमें महातत्त्व को सूत एवं अहंकार को विराट कहा गया है। इस दर्शन के सम्बन्ध में श्री सुखमय भट्टाचार्य ने लिखा है कि अव्यक्त अवस्था से एक ही समय में व्यक्त अवस्था की प्राप्ति होती है। इन 24 तत्त्वों के ऊपर एक और पदार्थ है। किन्तु उसमें निंगुणता होने के कारण उसे तत्त्व नहीं कहा जासकता इस तत्त्व का नाम है पुरुष तत्त्व, पुरुष अमूर्त एवं असंग होता है। इस कारण वह किसी का भी अधिष्ठाता नहीं हो सकता वह चेतन एवं उपाधि रहित है। प्रकृत रूप में अमूर्त होते हुए भी श्रृष्टि प्रलय विधायिनी प्रकृति में प्रतिबिम्बित होने के कारण दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के समान वह मूर्तिमान है।[3]

---

(1) शा. 310/10-13 (2) शा. 310/3-18 (3) महाभारतकालीन समाज पृ. 579

महाभारत में सांख्य दर्शन वैशिष्ट्य :- महाभारत में ब्रह्म विद्या के साथ सांख्य का सामञ्जस्य किया गया है ऐसा वेदान्त के किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं उपलब्ध होता है। भीष्म ने कहा कि तत्त्वों का स्वरूप जान लेने पर पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष अपना स्वरूप जान लेता है, और उसे मुक्ति मिल जाती है। इस ज्ञान का रहस्य जान लेने पर मनुष्य मृत्युभय से मुक्त हो जाता है। वह केवल आत्मा स्वतंत्र पुरुष केवल स्वतंत्र स्वरूप ब्रह्म के साथ मिलकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै।
स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वमाप्नुते।।[1]

यह ज्ञान नारद ने वशिष्ट से भीष्म और युधिष्ठिर तक परम्परित रूप से चलता रहा है। आचार्य पञ्चशिख ने राजा जनक को पहले जाति निर्वेद (जन्म ही दुःख का कारण है) तत्पश्चात् कर्म निर्वेद एवं अन्त में सर्वनिर्वेद का उपदेश किया था।

जाति निर्वेद मुक्त्वा स कर्मनिर्वेदम ब्रवीत।
कर्म निर्वेद मुक्त्वा च सर्व निर्वेदम ब्रवीम।।[2]

सांख्य दर्शन में कहा गया है कि प्रकृति जड़ होते हुए भी कर्त्री होती है। पुरुष निष्क्रीय किन्तु चेतन होता है। पुरुष निमत्त कारण मात्र होता है। पुरुष निमत्त कारण होता है। उपादान नहीं प्रकृति की बहुमुखी परिणति का नाम ही श्रृष्टि है। एवं ईश्वर की इच्छा से व्यक्त वस्तुएँ अपने कारण में विलीन हो जाती हैं। प्रकृति के इस विलीनी कारण के बाद एक मात्र पुरुष, परमार्थ में प्रतिष्ठित रह जाता है। यह महाभारतीय सांख्य दर्शन की अपनी विशेषता है।

(क) अनागतं सुकृतवतां परां गति स्वयम्भुवं प्रभवनिधानमव्ययं।
सनातनं यदमृतमव्ययं ध्रुवं निचाय्य तत् परमृतत्वमश्नुते।।[3]

तात्पर्य यह है कि वाचस्पत मिश्र, माधवाचार्य इत्यादि दार्शनिकों को कपिल दर्शन को निरीश्वर वादी कहा है। जब कि सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में महाभारत जिस मत की प्रतिष्ठा करता है। उसमें ईश्वर को स्थान मिला है। यह ईश्वर की जगत का सृष्ठा व संहारक बताया गया है। इस प्रकार महाभारत में वर्णित सांख्य दर्शन वेदान्त के अत्यन्त निकट हैं।

---

(1) शा. 308/30 (2) शा. 218/21 (3) शा. 206/32

महाभारत में योग दर्शन :- योग मार्ग के प्रवृर्तक आचार्य पतंजलि माने जाते हैं जिसमें चित्त वृत्तियों के निरोध का नाम योग कहा गया है। महाभारत में इस योग की व्यापक मीमांसा और प्रशंसा की गयी है। भीष्म स्तवराज, गीता तथा शान्ति पर्व के अनेक अध्यायों में योग को मुख्य मार्ग मानकर उसका विवेचन विश्लेषण किया गया है। गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि योगी पुरुष, तपस्वी ज्ञानी एवं कर्मों से भी श्रेष्ठ है।

योग तत्वज्ञान का मूलमंत्र यही है कि वासना का निरोध कर चित्त निरुद्ध करना चाहिए। चित्त निरोध में यम, नियम, आसन आदि में मन स्वस्थ्य शान्त होकर परमतप को प्राप्त करता है।

रागं मोहं तथा स्नेहं कामं क्रोधं च केवलम्।
योगाच्छित्त्वा ततो दोषान् पञ्चैयाम् प्राप्नुवन्ति तत्।।[1]

इस प्रकार यम नियम आसन प्रणायाम, माधि इत्यादि साधनों को अपना कर योगी अविनाशी पद को प्राप्त करता है।

प्रवेश्यात्मनि चात्मनं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापंहन्ति पुनीतानां पदमाण्नोति सोऽजरम्।।[2]

योग के भेद :- महाभारत में स्थूल योग और सूक्ष्म योग की चर्चा है। इस हेतु सगुण और निर्गुण यह मुख्य दो साधन बताये गये हैं। किसी विशेष देश में चित्त की स्थापना धारणा है। मन की धारणा के साथ किया गया प्रणायाम सगुन है। और मन को निंबीज समाज में एकाग्र करना निंगुण प्रणायाम बहुलता है।

वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः।
सूक्ष्ममष्टगुणं प्राहुर्नेतरं नृपसत्तम।।
द्विगुणं योग कृत्यं तु योगानां प्राहुरुत्तमम्।
सगुणं निर्गुणं चैव यथा शास्त्र निदर्शनम्।।
धारणं चैव मनसः प्राणायामश्च पार्थिव।
एकाग्रता च मनसः प्राणायामस्तथैव च।।[3]

---

(1) शा. 300/1 (2) शा. 300/38 (3) शान्ति 216/7-9

महाभारत के विभिन्न प्रकरण में विकीर्ण योग सम्बन्धी सिद्धान्तों को दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि इसमें योग के साधन परिच्छेद्, विभूति परिच्छेद, और केवल्य परिच्छेद् का वर्णन है।

साधन परिच्छेद के अन्तर्गत गीतोक्त यमनियम, आसन, अष्टांग नियम पर बल दिया गया है। कृष्ण ने संन्यास और योग में एकत्व स्थापित करते हुए वैराग्य अभ्यास और त्याग पर बल दिया है। भीष्म पर्व में वासना भूत मन से योग साधना असम्भव है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासन मात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धेये।।[1]

इस प्रकार साधन परिच्छेद के अन्तर्गत गीता में ज्ञान योग, कर्म योग, और भक्ति योग की विस्तृत चर्चा है। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायें उपसम्प्रदाएँ में गीतोक्त इन साधनों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से की गयी है। शंकराचार्य से लेकर द्वैतवाद, द्वैता, द्वैइतवाद विशिष्टा द्वैतवाद एवं आधुनिक दार्शनिक विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इनकी व्याख्या विश्लेषण किया है। यहाँ पिष्टपेषण से बचने के लिए अत्यन्त संक्षेप में यहाँ तीनों का विवेचन किया जा रहा है।

(१) ज्ञान योग :- श्रीकृष्ण ने कहा है कि द्रव्यमय यज्ञादि से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।
श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।[2]

इसी प्रसंग में अग्नि का उदाहरण देकर यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि ज्ञानाग्नि

(1) भीष्म पर्व 30/10-12 (2) भीष्म 29/28 एवं 33

में सभी कर्म भष्म हो जाते हैं।

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि र्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसत्कुस्ते तथा।।

ज्ञानयोग की महत्ता निरूपित करते हुए यह कहा जा सकता है कि कर्म योग और भक्ति योग इसके पूरक हैं। कर्मयोग–मानव अहार निशि कर्म करना पड़ता है। चाहे ये कर्म उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो अथवा मानसिक या आध्यात्मिक छुत्त पिपांसा की तृप्ति के लिए। गीता में जीवकृत कर्मो को अकर्म विकर्म आदि भागों में बाँटा गया है। वहाँ योगसु कर्मसु कौशलम् कहाँ गया है। महाभारत युद्ध के पूर्व अर्जुन का जो मोह हुआ था इसका निराकरण कृष्ण ने कर्मयोग का उपदेश कर निराकरण किया था। निष्कर्म अनुष्ठान के बिना निष्कर्म ज्ञान नहीं उत्पन्न होता इस प्रकार असक्त चित्त से कर्म का अनुष्ठान वास्तविक कर्म संन्यास है। और इसी को कर्मयोग की संज्ञा दी गयी है।

कर्मण्येवाधिकास्ते मा कलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

योगस्थः कुरू कर्माणि संग त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते।।[1]

गीता के अतिरिक्त सनंत्सुजातीय, वन पर्व में धर्मव्याध के उपाख्यान में, शान्ति पर्व के तुलाधार जवालि के उपाख्यान में, शान्ति पर्व के तुलाधार जवालि संवाद में विशुद्ध कर्म योग की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस कर्ममार्ग में ध्यान धारणा प्रणायाम आदि से मन को वश में करना पड़ता है। मन बुद्धि एवं इन्द्रियों की एकाग्रता आती है। ध्यान, वेदांध्ययन, सत्यवचन, ऋजुता, तितीक्षा, क्षमा, आचार्य सनशुद्धि, पापनाशक होते हैं। और इस प्रकार प्रणायाम कर व्यक्ति अपना काम्य प्राप्त कर लेता है।

(२) विभूति परिच्छेद :- इसके अन्तर्गत यह कहा गया है कि विभिन्न साधनायें सम्पादित कर जीव अनेक सिद्धियों को प्राप्त करता है। अग्नि, जल, वायु आदि शक्तियाँ उसके अधीन हो जाती हैं। सिद्धि योगियों की अनेक विभूतियों का वर्णन महाभारत में हुआ है। जिसमें

(1) भीष्म पर्व 26/47, 48

वरदान, तद्जन्म श्रेय साधना जीव को सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति एवं उनके कुपित होने पर अभिशाप के फलस्वरूप नाश आदि के प्रचुर उदाहरण महाभारत में मिलते हैं। नारद, सनत्सुजान, ब्रह्मचारिणी सुलभा व्यास द्वारा योग बल से धृतराष्ट्र को महाभारत के दृश्यों को दिखाना योगज विभूतियाँ ही हैं।

(3) कैवल्य परिच्छेद :- कैवल्य का वास्तविक अर्थ है मोक्ष जीव अपने परम पुरुष के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। विलीन हो जाता है। सब उपासनाओं साधनों कर्मों की चरम सारथकता कैवल्य साधना है।

नाकृतात्मा कृतात्मानं जातु विद्याज्जनार्दनम्।
आत्मनस्तु क्रियोपाये नान्यत्रोन्द्रियनिग्रहात्।।
एतज्ज्ञानं विदुर्विप्ता ध्रुवमिन्द्रिय धारणम्।
एतज्ज्ञानं च पन्थाश्च येन शक्ति मनीषिणः।।
अप्राप्यः केशवो राजन्निन्द्रियैरजितैर्नृभिः।
आगमाधिगमाद् योगाद् वशी तत्वे प्रसीदति।।[1]

तात्पर्य यह है कि व्यास शुक संवाद, भीष्म, युधिष्ठिर उपदेश, कृष्ण, अर्जुन संवाद आदि के माध्यम से महाभारत की यह मान्यता प्रतीत होती है कि योग के द्वारा ईश्वर या मोक्ष को पाया जा सकता है। योगी ध्यान द्वारा अपनी आत्मा को समाहित कर ईश्वर में स्थित रूप मोक्ष या कैवल्य को प्राप्त कर लेता है और इस हेतु अष्टांग मार्ग के साथ शुद्धाचरण विवेक वैराग्य अनाशक्ति जैसा विहित कर्म तथा अनेक निषिद्ध कर्मों का उल्लेख किया है। यह योग शारीरिक कर्म है जिसे भक्ति साधना द्वारा समान्वित कर नये मार्ग का प्रतिपादन किया गया है।

मीमांसा दर्शन :- सांख्य और योग दर्शन के बाद मीमांसा दर्शन का क्रम आता है। इसके दो भेद कहे गये हैं। पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा सूत्र के कर्ता महर्षि जैमिनी व्यास के ही शिष्य कहे गये हैं। वेद कर्मकाण्ड को लेकर उनकी प्रमाणिकता आदि विमर्श हेतु पूर्व मीमांसा की रचना की गयी है। महाभारत में पूर्व ओर उत्तर मीमांसा के कुछ प्रकरण प्रसंगवसात उल्लिखित हुए हैं। धर्म मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा जिन्हें हम क्रमशः कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड कहा जाता

(1) उद्योग पर्व 69/17, 20, 21

है। दोनों एक हैं। कर्म द्वारा मलिन चित्त से ज्ञान काण्ड का उपदेश समझ में ही नहीं आयेगा शास्त्र विहित मित्त एवं नैमित्तक धर्म का फल चित्त शुद्धिमात्र है। आनुषंगिक रूप में स्वर्ग आदिफलों की प्राप्ति कही गयी है। अतः पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड को शास्त्रीय महत्व देकर उसका वैशिष्टय निरूपित किया गया है। स्यूमरश्मि कपिल संवाद में पूर्व मीमांसा के अनुरूप वेद को प्रमाणवादी मानकर तदानुसार कर्म करने की चर्चा की गयी है। जिसमें शब्द ब्रह्म (वेद) और परम् परमात्मा को प्राप्त करने के लिए कर्मरत होने की बात कही गयी है।

वेदाः प्रमाणं लोकानां न वेदाः पृष्ठतः कृताः।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत।।
शब्द ब्रह्माणि निष्णातः परं ब्रह्मधिगच्छति।
शरीरमेतत् कुरुते यद् वेदे कुरूते तनुम्।।[1]

(क) पूर्व मीमांसा में कर्म की उपयोगिता और उसका उपदेश :-

महाभारतकार की मान्यता है कि कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति मृग मरीचिका का मात्र है। अतैव प्रत्येक संसारी जीव को कर्मकाण्ड का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि तदानुरूप कर्म यज्ञ यज्ञापि अनुष्ठान सम्पन्न कर शरीर एवं मनु को शुद्ध करना चाहिए। उपर्युक्त प्रकरण में लिखा गया है–

कृत शुद्ध शरीरो हि पात्रं भावति ब्राह्मणः।
आनन्त्यमात्र बुद्धयेदं कर्मणां तद् ब्रवीमि ने।।[2]

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर अन्तेष्टि संस्कार के लिए वैदिक मंत्रों का प्रयोग करना चाहिए। ऐसे ही मंत्रों का प्रयोग शास्त्रोक्त अनुष्ठान रहित या संस्कार भ्रष्ट व्यक्ति ब्रह्म विद्या का अधिकारी नहीं हो सकता कर्म के उद्देश्य के रूप में मोक्ष लाभ की चर्चा की गयी है। शान्ति पर्व में मोक्ष धर्म का पूरा प्रकरण अनेक अध्याय में वर्णित है। इस वर्णन का वैशिष्ट यह है कि विभिन्न ऋषियों के संवादों द्वारा विभिन्न दर्शनों या मतों में उल्लिखित मोक्ष प्राप्त के साघन और मोक्ष स्वरूप का एक स्थान पर वर्णन है। इस वर्णन को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि ऋजु स्वभाव सत्यनिष्ठ शान्ति परायण, सदाचारी व्यक्ति ही शास्त्रोक्त विहित कर्म कर मोक्ष

(1) शान्ति पर्व 269/1-2 (2) शान्ति 269/3

प्राप्त करता है।

स्वकर्मभिः शंसितानां प्रकृत्या शंसितात्मनाम्।
ऋजूनां शमनित्यानां स्वेषु कर्मसु वर्तमाम्।।
सर्वमान्त्यमेवासीदिति नः शाश्वती श्रुतिः।
तेषामदीनसत्त्वानां दुश्चराचारकर्मणाम्।।
स्वकर्मभिः सम्भृतानां तपो घोरत्वमागतम्।
तं सदाचामाश्चर्य पुराणं शाश्वतं ध्रुवम्।।[1]

पूर्व मीमांसा के अनुरूप ही महाभारत में कर्म को यज्ञ का स्वरूप दिया गया है तथा इस संज्ञा की महिमा का गायन बहुविद् रूप में हुआ है। यहाँ यह उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक है कि कर्मो के वैराग्य रूप को देखकर सुन कर अनुष्ठान की ओर प्रेरित होना कोरा भ्रम है। इनसे स्वर्ग आदि भोगपदार्थो की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु मोक्ष प्राप्त करने वाले जिस निश्चयात्म बुद्धि की आवश्यकता होती है उसका इनमें नितान्त आभाव रहता है। गीता या भीष्म पर्व में कहा गया है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरूनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यव सायिनाम्।।
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मनः सवर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।[2]

इस प्रकार जीव कृत समस्त कर्मो को यज्ञ स्वरूप मानकर सात्विक रास एवं तामसिक यज्ञों की विस्तृत विवेचना कर गीता में ये प्रतिपादित किया गया है। यज्ञ रूप या कर्मो का अन्तिमफल या प्रतिपादित किया गया है। यज्ञ रूप या कर्मो का अतिफल या लक्ष्य भगवत् प्राप्ति होना चाहिए। जब तक शरीर उस परम ब्रह्म को सर्वतो भावेन सश्रद्ध भाप से समस्त कर्मो को समर्पित नहीं करेगा तब तक उसकी बाह् क्रियायें प्रदर्शन मात्र होगी भक्ति सहित पत्र पुष्प

(1) शान्ति 270/18-20 (2) श्रीमद्भागवद् गीता 2/41-43

निवदेन करने पर भगवान उसे ग्रहण कर उसके कर्मरूप यज्ञ को सार्थक बना देते हैं। इस प्रकार गीताकार ने यह उपदेश किया है कि जीव के समस्त कर्म भगवत अपर्ण से करना चाहिए।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।
दैव मेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावसरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।
श्रेयान् द्रव्यामयाद् यज्ञाज्ज्ञनयज्ञः परंतप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।
तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिन स्तत्वदर्शिनः।।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यासि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।[1]

तात्पर्य यह है कि महाभारत में बहिरंग प्रधान कर्मो की उपेक्षाकर आत्म शुद्धि अर्थ जिस यज्ञ की महिमा का गायन किया गया उसके मूल में निष्काम कर्म तो है ही भगवदाराधना ही उसका ध्यये मात्र है। क्योंकि बहिरंग प्रधान यज्ञ में जो आहुति दी जाती है। उससे मेघ अन्य भूत जगत की क्रमशः उत्पत्ति कही गयी है। यज्ञ का मूलतः उद्भव याज्ञिक अनुष्ठाता के कर्म से होता है। कर्म वेद जनित है और वेद की उत्पत्ति अक्षर परम ब्रह्म से हुई है। इसीलिए यज्ञ में सर्वव्यापक ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है। गीता के यज्ञ प्रकरण में यही बात प्रतिपादित की गयी है। साथ ही महाभारत में इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि ये यज्ञ कर्म स्वार्थ से उपरत परार्थ हेतु सम्पादित करने का विधान किया गया है। अन्य कर्म दीर्घकालीन नहीं होते यथायथ रूप से यज्ञादि कर्म करने के उपरान्त ब्रह्म जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यह बात सनत्सुजात पर्व में धृतराष्ट्र के समक्ष प्रतिपादित की गयी है। महाभारत के विभिन्न प्रसंगों में यज्ञ सम्बन्धी प्रयुक्त

---

(1) श्रीमद्भागवद्गीता 4/24-28, 33, 34, 35

वस्तुओं तथा कुछ पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। यज्ञ में अर्ध्वयुस के सर्वोपरि स्थान पर होता है। होता का द्वितीय स्थान तदोपरान्त ऋत्विक का स्थान आता है। यज्ञ सामग्री में सुत्रुक, आज्य, पुरुराश, इध्त्मा, यूप, सोम, चमस आदि उपकरण तथा अन्त में औधृत स्नान का उल्लेख मिलता है।

चषालयूप चमसाः स्थाल्यः पाज्यः स्रुचः स्रुवाः।
तेष्वेव चास्य यज्ञेषु प्रयोगाः सप्त विश्रुताः।।[1]

यज्ञाग्नि प्रज्वलित करने हेतु अग्निहोत्री को अरणी को सदैव पास रखनी पड़ती थी और उसको मंथन के लिए दण्ड की आवश्यकता होती थी। इसी प्रकार महाभारत में पंञ्च महायज्ञ, नित्ययज्ञ के रूप में उल्लिखित है। कामनापूर्ति हेतु जिन यज्ञों का बृहद्रूप में सम्पादन किया जाता था उससे अश्वमेध, राजसूय सर्वमेध, नरमेध साधायस्यक ज्योतिष्टोम, राक्षस, सर्वसत्र, पुत्रेष्टि यज्ञ, वैषणव यज्ञ एवं दूसरे का सर्वविद् अहित करने हेतु अभिचार क्रिया प्रदान करने हेतु यज्ञों का विवरण महाभारत में मिलता है। इन यज्ञों से अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। युधिष्ठिर ने अश्वमेध और राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया था। अश्वमेघ यज्ञ में राजा को सम्पूर्ण वेश में अपना आधिपत्य सिद्ध करना होता है। इस हेतु एक अश्व को सज्जित कर विचरण करने हेतु स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता था इस अश्व को जो पकड़ेगा उसे अश्व कर से पराजित करेगी। (आश्वमेधिक पर्व में अध्याय 71, 72 में) इस यज्ञ का वर्णन है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का वर्णन सभापर्व में हुआ है। जिसमें यज्ञ विषयक व सामग्री और प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। इस यज्ञ में भीष्म पितामह गुरू द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्योधन आदि सम्मिलित हुये थे।[2] सर्प सत्र जनमेजय ने पितृ हत्या का प्रतिशोध लेने के सर्पो के विनाश हेतु आयोजित किया था। अभिचार आदि यज्ञ में रक्त विनाश हेतु आयोजित किया था। अभिचार आदि यज्ञ में रक्त पुष्प कंट काम्विता नाना प्रकार के फल मूल की आवश्यकता एक है।

ओषाध्यां रक्तपुष्पाश्च कटुकाः कण्टकान्विताः।
शत्रूणामभिचारार्थभाथर्वेषु निदर्शिताः।।[3]

---

(1) वन पर्व 121/5 (2) सभा पर्व 35 अध्याय (3) अनुशासन पर्व 98/30

उत्तर मीमांसा :- उत्तर मीमांसा को वेदान्त कहा जाता है। शड् आस्तिक दर्शनों में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन में श्रुतियों के ज्ञानकाण्ड की मीमांसा प्रस्तुत की गयी है। इस मीमांसा दर्शन में ब्रह्म विषयक जिज्ञासा का समाधान हुआ है। इसलिए उत्तर मीमांसा का प्रमुख आधार ग्रंथ ब्रह्म सूत्र है। महाभारत में मोक्षधर्म श्रीमद्भगवद्गीता एवं सनत्सुजातीय प्रकरण में वेदान्त दर्शन का वर्णन है। विद्वान लोग इन प्रकरणों को उपनिषद के भाष्य एवं वार्तिक रूप में ग्रहण करते हैं। डॉ0 सुखमय भट्टाचार्य ने लिखा है कि कर्मकाण्ड का प्रथम उद्देश्य चित्त शुद्धि है। कर्म के द्वारा जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो भगवान का स्वरूप जानने की इच्छा जागरुक होती है। और उसी समय ले जागरूक व्यक्ति वेदान्त श्रवण का अधिकारी हो जाता है। रागद्वेष से विमुक्त एवं ब्रह्मचारी ही ब्रह्मज्ञान का अधिकारी माना जाता है। और ऐसे मनुष्य को दिया हुआ उपदेश ही फलता फूलता है।[1]

वेदान्त दर्शन का मूल ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र है। इसमें कुलचार अध्याय हैं। और प्रत्येक अध्याय में चार पद हैं। ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय में सभी औषनिषद वाक्यों को ब्रह्म के निरूपण में प्रवृत्त बताकर ब्रह्म को इस जगत् का अभिन्न निमत्त एवं उपादान कारण कहा गया है। इसके द्वितीय अध्याय में सांख्य दर्शन में निरूपित प्रधान कारण बाद वैशिष्क दर्शन में प्रतिपादित परमाणुकारणवाद का खण्डन किया गया है। तृतीय अध्याय में परमात्मा को प्राप्त कराने वाली ब्रह्म विद्या और उपासना के सम्बन्ध में विचार किया गया है। एवं चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के स्वरूप, जीवमुक्ति तथा क्रम मुक्ति के साथ ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों की चर्चा और विभिन्न साधनों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली मुक्ति के आनन्द का वर्णन किया गया है। इस वेदान्त दर्शन का अध्ययन जिज्ञासु को गुरूकुल में रहकर करना पड़ता था। सनत्सुजात पर्व में कहा गया–

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं, यन्मां पृच्छन्नति हृष्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या, विद्या हिसा ब्रह्माचर्येण लभ्या।।
नैवर्क्षु तन्न यजुष्षु नाप्यथर्वसु, न दृश्यते वै विमलेषु सामसु।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन्, महाव्रते नैव दृश्येद् ध्रुवं तत्।।

---

(1) महाभारतकालीन समाज पृ. 614

अपरणीयं तमसः परस्तात्, तदन्कोऽप्येति विनाशकाले।।

अणीयो रूपं क्षुरधारया समं, महच्च रूपं तद् वै पर्वतेभ्यः।।[1]

अध्यात्म तत्व समझने के लिए श्रवण, मनन निदिध्यासन बहुत आवश्यक है। आत्मा का गूढ़स्वरूप ध्यान के द्वारा बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है। श्रवण एवं मनन के द्वारा स्थिर चित्त होकर ध्यान लगाने से योगी का उस परम ज्योति स्वरूप ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। चित्त जब तक शान्त नहीं होगा तब तक ध्यान नहीं लगाया जा सकता। मोक्ष धर्म पर्व में इस बात की पुष्टि अनेक स्थानों पर की गयी है-

एवं सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वत्र्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।

अन्तरात्मनि संलीय मनः षष्ठानि मेधया।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थोश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन्।।

ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्या सम्पादितं मनः।

अनीश्वरः प्रशान्तात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम्।।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां वश्यात्मा चलति स्मृतिः।

आत्मनः सम्प्रदानेन मर्त्यो मृत्युपाश्नुते।।

आहत्य सर्व संकल्पान् सत्त्वे चित्तं निपेशयेत्।

सत्त्वे चित्तं समावेश्य ततः कालंजरो भवेत्।।[2]

द्वैत एवं अद्वैतवाद तथा महाभारत :- आचार्य शंकर ने उपनिषद ब्रह्म सूत्र और गीता के आधार पर अपने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उसे अद्वैतवाद् कहा जाता है। इसके विरोध में खड़े हुए दार्शनिक सिद्धान्त द्वैतवादी, विशिष्टा द्वैतवादी आदि सम्प्रदाय के आचार्यो ने अपनी सम्प्रदाये की प्रतिष्ठा हेतु प्रस्थानीय-उपनिषद ब्रह्म सूत्र एवं गीता को आधार बनाकर व्याख्या की है। इन विद्वानों ने महाभारत में गीता के पूर्वोक्त अंशों की व्याख्या की है। अतः यह कहा जा सकता है कि महाभारत में किस मत का पूर्ण समर्थ मिलता है। यह कहना कठिन है। सनत्सुजात प्रकरण में अद्वैतप्रेरक सिद्धान्तों का अधिख्य है जिसमें ईश्वर और

(1) उद्योग पर्व 44/2, 28, 29, 30 (2) शान्ति पर्व 246/5, 6, 7, 8, 9

जीव अभिन्न कहे गये हैं। माया के योग से परमात्मा संसारकों प्रकाशित करता है ईश्वर की उपासना में चित शुद्धि एकाग्रता अत्यावश्यक है। ब्रह्म ही इस जगत में प्रतिष्ठित है। वह अनाम है। निरद्वैत एवं जगदाकार में विवर्तित है। मोक्ष प्रकरण में प्रायः मोक्ष के सभी भेद उपभेद मिल जाते हैं। गीता यद्यपि महाभारत का ही अंश है। किन्तु उसमें निष्काम कर्मयोग तथा कर्म संन्यास को समान बताकर जीव को फला शक्ति से वर्जित किया है। इस गीता में दर्शन, धर्म नीति और व्यवहार शास्त्र का ऐसा अद्‌भुत् समन्वय है। कि आज भी यह उपादेय गलत बना हुआ है। इसमें विषय प्रयोजन, सम्बन्ध, अधिकारी इत्यादि अनुबन्ध चतुष्ट्य का वर्णन है। नित्य वस्तु का विवेक लौकिक और पारलौकिक सुख भोग के प्रति अनाशक्ति शम, दम, उपरति तितिक्षा श्रद्धा और सभा धाम षट्सम्पत्ति की व्याख्या कर मुमुक्षा हेतु स्वस्वरूप, परस्वरूप, पुरूषार्थ स्वरूप उपाये स्वरूपं और विरोधी स्वरूप इत्यादि अर्थ पंचक की विस्तृत व्याख्या है। उपाय स्वरूप में कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टांगयोग, ज्ञानयोग तथा विरोधी स्वरूप में माया को मानकर बंधनमुक्त होने के लिए प्रयत्नशील होने का उपदेश दिया गया है।

महाभारत में वर्णित अन्य दर्शन :-

(१) पाञ्चरात्र सिद्धान्त :- आचार्य शंकर के विरोध में जो सम्प्रदाये खड़े हुए उसमें माया का विरोध कर भक्तिवाद को प्रधानता दी गयी, इसका उपस्कार ग्रंथ श्रीमद्‌भागवद् है। इस मार्ग को भक्ति मार्ग सात्वदर्शन या पाञ्चरात्र दर्शन कहा जाता है। वाचस्पद् शब्द कोष में लिखा जिस शास्त्र में सात्विक, नैर्गुणय, सर्वतत्व पर राजसिक एवं तामसिक इन पाँच प्रकार के ज्ञान की समीक्षा ही उसे पञ्चरात्र कहते हैं।[1] ईश्वर संहिता के इक्कीसवें अध्याये में कहा गया है कि शाण्डिल्य, औपगायन, भोजायन, कौशिक और भारद्वाज द्वारा पांचरात्रों में भार्गवद धर्म के उपदेश करने के कारण इसे पाञ्चरात्र कहा गया है। अहिर बुद्धिर्न् संहिता, नारद संहिता के अनुसार रात्र का अर्थ है। ज्ञान परमतत्त्व मुक्ति, भुक्ति योग और विषय इन्हीं का प्रतिपादन करने के कारण इस शास्त्र का नाम पाञ्चरात्र पड़ा। पाञ्च रात्र संहिताओं की सं0-108 बताई जाती है। इन संहिताओं में चार विषयों का प्रतिपादन है ज्ञान अर्थात ब्रह्म जीव तथा जगत् के परास्परिक समबन्धों का निरूपण (2) योग अर्थात मोक्ष के साधन भूत प्रतिक्रियाओं का वर्णन

(1) वाचस्पत्यम् पृ. 40193

(3) क्रिया अर्थात देवालाय का निर्माण मूर्ति स्थापन पूजा आदि। (4) चर्या अर्थात नित्य नैमित्त कृत्य मूर्तियों (1) भक्ति विकास डॉ0 मुन्शी राम शर्मा पृ. 258 तथा यंत्रों की पूजा पद्धति पर्व विशेष उत्सव आदि।[1] पञ्चरात्र का विशिष्ट चतुर्य ब्यूह सिद्धान्त हैं। महाभारत में मोक्ष धर्म प्रकरण में इस चतुर्य व्यहु सिद्धान्त की चर्चा है। वासुदेव संकर्षण प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध की चर्चा अत्यन्त विस्तृत रूप में हुई है।

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजंगमम्।
ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्।।
न च जीवं विना ब्रह्मन् वायवश्चेष्टयन्त्युत।
स जीवः परिसंख्यात्ः शेषः संकर्षणः प्रभुः।।
स्मात् प्रसूतो यः कर्ता कारणं कार्यमेव च।
स्मात् सर्व सम्भवति जगत् स्थावरजंग मम्।।
सोऽनिरुद्धः स ईशानो व्यक्तः स सर्वकर्मसु।
यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः।।
ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः।
संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते।
प्रद्युम्नाद्योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकार स ईश्वरः।।[2]

तात्पर्य यह है कि चतुर्य व्यूह सिद्धान्त के अनुसार वासुदेव के जगत्कारिणी भूत विज्ञान रूप साक्षात् परम् ब्रह्म माना जाता है। वासुदेव से द्वितीय ब्यूह संकर्षण संज्ञक जीव की, संकर्षण से तृतीय ब्यूह प्रति प्रद्युम्न संज्ञक और प्रद्युम्न दियुमन से चतुर्थव्यू अहंकार की उत्पत्ति मानी जाती है। यही सात्वत या पञ्चरात्र सिद्धान्त कहलाता है। जयाख्य सहिता, पराख्य संहिता अहिररूद्ध संहिता इसके प्रमाणिक ग्रंथ हैं। यद्यपि शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के द्वितीय पाठ की समाप्ति पर भाष्य लिखते हुए इस मत को अवैदिक कहकर खण्डन किया है किन्तु रामानुजाचार्य महाभारत के अनेक अंशो को अधिकृत कर यह सिद्ध किया है कि पाञ्च रात्र सिद्धान्त प्रमाणिक है। इस दर्शन का मूलाधार भक्ति भावना है। श्रुति प्रस्थान, न्याय प्रस्थान

(1) मध्यकालीन धर्म साधना-हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ. 38 (2) शान्ति 339/32, 36, 38, 39, 40, 41

आदि में भक्ति की चर्चा नहीं है। जबकि इनका चर्म उपास्य ईश्वर है। और भक्ति सिद्धान्त में भी इसी ईश्वर को चर्मोपास्य मान भक्ति भावना के अनेक सोपानों की चर्चा की गयी है। महाभारत में कहा गया है कि सांख्य, योग, पाञ्च, रात्र, वेद, पाशुपति शास्त्र, सभी एक हैं। इस पाञ्च रात्र के ज्ञाता साक्षात् भगवान् स्वयं हैं।

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्चते।

हिरण्य गर्भो योगस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।।

सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते।।[1]

तात्पर्य यह है कि महाभारत में पाञ्चरात्र सिद्धान्त के प्रमुख तत्त्वों साधन प्रणाली एवं सांख्य योग दर्शनों में वर्णित ईश्वर तत्व जीव और मोक्ष के स्वरूप की चर्चा समान रूप से हुई है। इसी पूर्ण प्रतिष्ठा श्रीमद्भागवद् में मिलती है। इसे एकान्तिक धर्म भी कहा गया है। इसमें भक्ति के सभी साधनों की चर्चा है। अतः इसे हम अप्रमाणिक दर्शन या शास्त्र नहीं कह सकते महाभारत में कहा गया है कि जिस ग्रहस्थ के घर में पाञ्च रात्र ज्ञाता भक्त के चरण पड़ते हैं तो वह घर पवित्र हो जाता है।

पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः।

प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम्।।[2]

महाभारत में वर्णित नास्तिक दर्शन :- पहले कहा जा चुका है कि दर्शन के मूलता दो भेद हैं। आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन आस्तिक दर्शनों में सांख्य योग मीमांसा आदि का परिचय दिया गया है। यहाँ संक्षेप में नास्तिक दर्शन की चर्चा की जा रही है। महाभारत में ऐसे स्थल बहुत कम हैं। क्योंकि नास्तिक दर्शन को अवैदिक मत माना जाता है। महाभारत में चार्वाक एवं लोकायत दर्शन के कुछ स्थल मिलते हैं। नास्तिक दर्शन की मूलावधारणां यह है कि वे न तो शरीर में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं न ही वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं।

चार्वाक दर्शन :- मृत्यु के समय दुर्योधन ने परिब्राजक अपने मित्र–चार्वाक का स्मरण

---

(1) शान्ति पर्व 349/65, 68 (2) शान्ति पर्व 335/25

किया था। जो सिंघासनासीन युधिष्ठिर की बन्धुनाश हेतु विकृत करता है। तब ब्रह्माणों ने उसी वास्तविकंता का पता लगाया था इसी प्रकार जनक की सभा में नास्तिक एवं आस्तिक दर्शन विद् पण्डितों मे शास्त्रार्थ होता रहता था। चार्वाक दर्शन के अन्तर्गत शरीर की ही महत्ता है। आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता क्योंकि पञ्चमहाभूतों से ही इस शरीर का निर्माण होता है। फिर आत्मा कहाँ से आ गयी। इस नास्तिक दर्शन के आचार्य पञ्चशिख की इस मान्यता का उल्लेख इस महाभारत में है कि शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है। दुःख वृद्धावस्था और नाना प्रकार के रोगों से शरीर का नाश होता है।

दृश्यमाने विनाशे च प्रत्यक्षे लोकसाक्षिके।
आगमात परमस्तीति ब्रुवन्नपि पराजितः।।
अनात्मा ह्यात्मनो मृत्युः क्लेशो मृत्युर्जरामयः।
आत्मानं मन्यते मोहात् तदसम्यक् परंमतम्।।[1]

नास्तिक दर्शन प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाता है। जबकि आस्तिक दर्शन वेद श्रुति या आप्त वाक्यों को भी प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। मूलतः यह दर्शन बौद्ध दर्शन के की उपशाखा लोकायित सम्प्रदाय में मान्य है। वे प्रत्यक्ष से अगोचर किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं। इस नास्तिक कमत में शरीर से भिन्न जीवात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए वट वृक्ष का उदाहरण दिया गया है। जैसे वट वृक्ष के बीज में पत्र, पुष्प, फल, मूल, त्वचा आदि अप्रत्यक्ष रूप से छिपे हुये होते हैं। उसी प्रकार वीर्य से ही शरीर आदि के साथ चेतनता भी प्रकट होती है।

प्रत्यक्षं ह्योतयोमूलं कृतान्तैति ह्ययोरपि।
प्रत्यक्षेणागमो भिन्नः कृतान्तो वान किञ्चन।।
यत्र यत्रानुमानेऽस्मिन् कृतं भावयतोऽपिच।
नान्यो जीवः शरीरस्य नास्तिकानां मते स्थितः।।
रेतो वटकणीकायां धृतपाकाधिवासनम्।
जातिः स्मृतिरय स्कान्तः सूर्यकान्तोऽम्बुभणम्।।[2]

---

(1) शान्ति 218/23, 24 (2) शान्ति 2218/27, 28, 29

लोकायत दर्शन पाप पुण्य को नहीं स्वीकार करते। वे भोग को ही श्रेष्ठ समझकर रहते हैं–

आहारं केचिदिच्छन्ति केच्चिानशने रताः।

धनानि केचिदिच्छन्ति निर्धनत्वम्।।[1]

सौगत एवं बौद्ध दर्शन :- महाभारत में सौगत मतौक्त कुछ दार्शनिक एवं परिभाषिक शब्दावली मिलती है। जिससे ये सिद्ध होता है कि इस समय तक इस मत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। जैसे बौद्ध एवं योगत मत में शरीर को षणयत कहते हैं। इसके अन्तर्गत पाँच स्कन्ध और चित्त का आधार कुल छः तत्व को ही षड़यातन कहा जाता है इसी प्रकार आज्ञान संस्कार विज्ञान नाम रूप षडायातन स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भौव, जाति, जग, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख और दुर्रमनस्ता इत्यादि 18 शब्द बौद्ध सम्प्रदायों में व्यहृत होते हैं। जिनकी चर्चा महाभारत में है। आश्वमेधिक पर्व में गुरू शिष्य संवाद में विभिन्न मतों का उल्लेख हुआ है। जिसमें कहा गया है कि एक सम्प्रदाय में शरीर के नाश के बाद भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते है तो दूसरा इसका खण्डन करता है। जैन धर्मावलम्बी हर वस्तु को सन्दिग्ध कहते है; तो तैरधिक सम्प्रदायी हर वस्तु को निःसंशय को सिद्ध करते हैं। शून्यवादी बौद्ध शून्यवान का समर्थन करते हैं। कुछ आचार ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते इसी प्रकार आचरण में विभिन्न विभिन्नता दिखाई देती है। कुछ पण्डित असाधारण कर्म को ही कारण रूप में ग्रहण करते हैं तो दूसरे सम्प्रदाय वाले जटा और अजिन्य धारण कर अपने मत का स्वतन्त्र प्रचार करते हैं। कोई सिर घुटवाता है तो दिग्म्बर रहते हैं। इसी में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की महत्ता दी गयी है तो कोई ग्रहस्थ धर्म को श्रेष्ठ कहता है।

ऊर्ध्वे देहाद् वदन्त्येके नैतद्स्तीति चापरे।

केचित् संशयितं सर्वे निःसंशयम थापरे।।

आनित्यं नित्यमित्येके नास्त्यस्तीत्यपि चापरे।

एक रूपं द्विधेत्येक व्यामिश्रमिति चापरे।।

---

(1) आश्वमेधिक 48/8, 9

मन्यन्ते ब्राह्मणा एव ब्रह्मज्ञास्तत्त्व दर्शिनः।

एकमेके पृथक्चान्ये बहुत्वमिति चापरे।।

अस्नानं केचिदिच्छन्ति स्नानमप्य परेजनाः।

मन्यन्ते ब्राह्मणा देवा ब्रह्मज्ञास्तत्व दर्शिनः।।[1]

सारांश यह है कि महाभारत में आस्तिक दर्शनों की विस्तृत व्याख्या सिद्धान्त और व्यवहार रूप में की गयी है। क्योंकि बहुसंख्यक समाज इन्हीं मतों को स्वीकार करता हुआ चला आ रहा था। फिर भी नास्तिक दर्शन की मूल मान्यतायें और आचार व्यवहार की संक्षिप्त चर्चा महाभारत में मिलती है।

---

(1) आवश्मेधिक 49/2 3, 4, 6

धार्मिक सिद्धान्त एवं धर्म चक्र परिवर्तन

पंचम अध्यय में धर्म तत्त्व का वृहद् विवेचन करते हुए यह कहा गया है कि धर्म का अर्थ है धारण करने योग्य अर्थात मानव जीवन में नैतिक गुणों को स्थापना एवं काम्य क्रोधाग्नि कू प्रवृत्तियों का दमन कर सदाचार नैतिक आदि नियमों की प्रतिष्ठा करना बात यह है कि मानव स्वभाव में काम, क्रोध, लोभ आदि कू प्रवृत्तियाँ धर्म के लिए चुनौती रही हैं। अतः नैतिक एवं सांस्कृतिक कल्याण धर्म के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। महाभारत की कथा का उद्घोष भी यही है कि "यतो धर्मो ततो जयाः" इसीलिए महाभारतकार व्यास ने धर्म चक्र परिवर्तन की परम्परा का सूत्रपात किया है सांस्कृतिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जीवन में समग्र विकास हेतु धर्ममूलक दार्शनिक दृष्टि की आवश्यकता होती है, सामाजिक शान्ति एवं जन कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि समाज की सभी शक्तियों एवं जन कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि समाज की सभी शक्तियों की व्यवस्था संगठन और समञ्जस्य धर्म की दृष्टि से ही जीवन में दो तत्त्व अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, धर्म और अर्थ को भी नियंत्रित करने वाला धर्म है। जिस प्रकार बौद्धदर्शन में तथा उससे प्रभावित राजाओं ने शासन करेन वाला धर्म है। जिस प्रकार बौद्धदर्शन में तथा उससे प्रभावित राजाओं ने शासन व्यवस्था तथा राज्य चिन्ह के रूप में चक्र की स्वीकृति दी है। और उसे धर्म चक्र परिवर्तन कहा गया है। इसी प्रकार महाभारत में धर्म को अत्यधिक महत्व देकर धर्म चक्र परिवर्तन की परम्परा का उल्लेख किया गया है। महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि राष्ट्र में सब ओर भीष्म के द्वारा चलाया हुआ धर्म चक्र परिवर्तित हो रहा है।

स देशः परराष्ट्राणि विसृज्याभि प्रवर्धितः।
भीष्मेण विहितं राष्ट्र धर्म चक्रम वर्तत।।[1]

मनुस्मृति में आचार्य परमो धर्मः कहकर मनुष्य के व्यवहार और चेष्टाओं की चर्चा की गयी है। डा० रघुवीर शास्त्री ने लिखा है–कि धर्म चक्र परिवर्तन के द्वारा मनुष्य का क्रमिक विकास सम्भव है, और इसी के द्वारा मनुष्य मानवीय सत्ता के आदर्श एवं उच्चतम् ध्यये को प्राप्त करने के योग्य बन सकता है। यह स्वाभाविक है कि धर्म के अनुसार व्यवस्था करने तथा सुरक्षा

(1) आदि पर्व 108/14

प्रबंध करने वाली सामाजिक और राजनीतिक संस्थायें व्यक्ति से सदैव यह अपेक्षा रखे मानव शक्ति का सबसे प्रभावशाली रूप उसकी सामुदायिक चेतना में ही उद्भुत होता है, और व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के स्वीकृत उदात्त मार्गो के अनुसार जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों में अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिए प्रयत्न करता है।[1] सम्पूर्ण महाभारत में धार्मिक सम्प्रभुता का डिंडिभ घोष किया गया है। यह महनीय तत्त्व दर्शन भारतीय सामाजिक आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था का मूलमंत्र है। प्रायः इस धर्म चक्र परिवर्तन के आधार पर वैयक्ति सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठ कार्यो की प्रशंसा की गयी है। यद्यपि महाभारत में मूल कथा के साथ अन्य उपकथाओं अनैतिकता, धार्मिकता, कदाचार आदि के उदाहरण दिखाई पड़ते हैं। किन्तु समाहित या पूजार्ह वे ही व्यक्ति कहे गये हैं। जिनका जीवन धंर्म से अनुप्राणित रहा है। शान्ति पर्व के 78 अध्याय में धर्म की सम्प्रभुता का विस्तृत वर्णन है। जिसका तात्पर्य यह है कि जीवन का समस्त तत्त्व चिन्तन या राजनीतिक सम्प्रभुता न तो राजा में निहित न ही किसी व्यक्ति विशेष में वह मात्र धर्म में निहित है, इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि "धर्मो रक्षति रक्षतः।"

---

(1) महाभारतकालीन राज्य व्यवस्था पृ. 95

भारतीय दर्शन में महाभारतकालीन नैतिकता की स्थिति

भारतीय दर्शन की विकास परम्परा में महाभारत का महत्वपूर्ण एवं अन्यतम् स्थान है। इससे पूर्व वेद, उपनिषद आदि आर्ष ग्रन्थों में जिस दार्शनिक विचार धारा का विकास शताब्दियों में हुआ उसके विभिन्न रूपों का संगठन संकलन विवेचन एवं विश्लेषण महाभारत में भी प्राप्त है। वेदों का बहुदेववाद उपनिषदों में तत्त्वज्ञान साधना एवं अद्धैतवाद् का समन्वित एवं नवीन रूप में प्रस्तुत करने का कार्य महाभारत में हुआ है। जैसा कि डा0 विनय ने लिखा है-महाभारत का दृष्टिकोण अपने युग में फैले समस्त जीवन चिन्तन को सूत्रबंधकर अनेक आधार पर ऐसे अविरोधी साधन पक्ष का निर्माण करने का रहा है। जो न केवल किसी विशेष युग में अपितु युग-युग तक मानव जीवन को अनुप्राणिक करता रहेगा।[1] महाभारत के चिंतन की सूत्र सिरायें इतनी व्यापक हैं कि उसमें भारतीय जीवन का अतीत वर्तमान और सम्भावित भविष्य सभी एक साथ प्रत्यक्ष होने लगता है। अतः जीवन के अन्य अंगों के साथ ही दर्शन की दृष्टि से भी महाभारत को भारतीय दर्शन का विश्वकोश कहा जाता है।[2] महाभारत में भारतीय दर्शन के सभी अंगों की विस्तृत चर्चा है। दर्शन को समझने के लिए उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए ईश्वर या ब्रह्म, जीव, जगत माया आदि की अप्रत्यक्ष चर्चा पिछले पृष्ठ में की गयी है। अतः यहाँ हम आस्तिक दर्शनों के स्वरूप और महाभारतकार व्यास की अवधारणा का विश्लेषण हम बाद में करेगें पहले हम दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों-ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि की चर्चा कर एतद् विषय के व्यास के मन्तव्य को समझने का प्रयास करेगें तथा अन्त में तद्युगीन अन्य दर्शनों की समीक्षा की जायेगी।

(१) ब्रह्म :- ब्रह्म शब्द 'बृह् वृद्धौ' और 'बृहि वृद्धौ' धातु में मनिन् प्रत्यय का योग करने पर निष्पन्न होता है। ब्रह्म का अर्थ है, बृहत् या महान। ब्रह्म सबसे अधिक बृहत् और महान हैं। ऋग्वेद में ब्रह्म के स्वरूप और उसके सर्वव्यापी होने की कल्पना की गयी है।

सहस्रशीर्षाः पुरुषाः सहस्ताक्षः सहस्तपात्।
स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठ दृशांगुलम्।।[3]

---

(1) महाभारत आधुनिक हिन्दी प्रबन्धकाव्य पर प्रभाव पृ. 406 (2) महाभारत एजफिक्थवेद-जनरल ऑफ अमेरिकन ऑरेंटियल सॉसाइटी भाग-13 पृ. 112 (3) ऋग्वेद 10/90/1

इसी तरह हिरण्य गर्भ सूक्त (10/121) अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त (10/4/7) उच्चेष्ठ सूक्त (4/7) यजुर्वेद-के (32/9) आदि सूक्तों में ईश्वर के अनेक पर्यायवाची-प्रजापति, हिरण्य गर्भ शब्दों का उल्लेख कर उसकी महिमा का गायन किया गया है। नासदीय सूक्त तो उसकी विस्तृत व्याख्या ही करता है। उपनिषदों में यही ब्रह्म अजन्मा अखण्ड निर्भिकार, निराकार, सविशेष सगुण एवं निर्गुण रूपों का विस्तृत वर्णन है। मुण्डक उपनिषद में लिखा। जिसे वाणी नहीं कह सकते जो अदृश्य अग्राही धीर लोग उसी का दर्शन करते हैं।

यत् तद् अद्रश्यम्, ग्राहाम् अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुः, श्रोतम् तद्अपाणिपादम् नित्य विभुम् सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद्व्यय तद्भूत योनि परिश्यन्ति धीराः।[1]

इस प्रकार सर्व खल्विदम् ब्रह्म का प्रतिपादन उपनिषदों में हुआ है। उसे ही महाभारत में परम ब्रह्म सच्चिदानन्द नाम से अभिहित किया गया है। महाभारत में स्वतंत्रत रूप से ब्रह्म के स्वरूपाकात्मक व्याख्या भगवत गीत के साथ अन्य अध्यायों में भी हुआ है। आदि पर्व में कहा गया है कि ब्रह्म सब का कारण अर्न्तयामी नितान्त है। यह सत्य स्वरूप, व्यक्ता-व्यक्त, स्वरूप एवं सनातन है। विश्व से अभिन्न सम्पूर्ण परापर जगत का ऋष्टा है। उसके निम्न विशेषण सभापर्व में बताये गये हैं।

शाश्वतं ब्रह्म परम ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्याणि कर्मणि कथयन्ति मनीषिणाः।।
सच्चसद सच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते।
संततिश्च प्रवृत्तिश्च जन्म मृत्यु पुनर्भवः।।[2]

एवं उसे अविनाशी परमात्मा समस्त कर्मो का ज्ञाता भी कहा गया है।

परापरज्ञो भूतानां विधिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
सर्वभूतात्मभूतात्मा गच्छत्यात्मानभव्ययम्।।[3]

प्रायः विष्णु को ब्रह्मरूप कहकर इनकी अनेक विशेषताओं का वर्णन महाभारत में उल्लिखित है। साथ ही वासुदेव श्रीकृष्ण को इसी रूप में देखने का प्रयास व्यास ने किया है।

अनुग्रहार्थे लोकानां विष्णुर्लोकनमस्कृतः।
वसुदेवात् तु देवक्यं प्रादुर्भूतो महायशाः।।

---

(1) मुण्डकोपनिषद 1/1/6 (2) महा. सा. 68/41-42 (3) महा. आश्वमेधिक पर्व-50/56

अनादिनिधनो देवः स कर्ता जगतः प्रभुः।

अव्यक्तमक्षरं ब्रह्म प्रधानं त्रिगुणात्मकम्।।

आत्मानमव्ययं चैव प्रकृतिं प्रभवं प्रभुम्।

पुरुषं विश्वकर्मणं सत्वयोगं ध्रुवाक्षरम।।

अनन्तमचलं देवं हंसं नारायणं प्रभुम्।

धातारमजमव्यक्तं यमाहुः परमव्ययम्।।

कैवल्यं निर्गुणं विश्वमनादिमजम व्ययम्।

पुरुषः स विभुः कर्ता सर्वभूपतितामहः।।[1]

अवतारवाद एवं पाञ्चरात्र सिद्धान्त के विकास में भक्तिवाद का विशेष योगदान है। वहअक्षर अन्नय ब्रह्म विष्णु फिर कृष्ण रूप में उल्लिखित होने लगे। महाभारत के सभा पर्व में अग्रपूजा के समय कृष्ण को ही नारायण भूतभावन सर्वपूज्य कहा गयाहै। नारद ने कहा है–

साक्षात् स विवुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणे विभुः।

प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः।।

संदिदेश पुरायोऽयौविवुधान् भूतकृतं स्वयम्।

अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ।।

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः।

आदित्यविबुधान् सर्वानजायत युद्धक्षये।।[2]

इन्हीं कृष्ण को श्रेष्ठमानकर भीष्म ने अग्रपूजा का आदेश किया था। क्योंकि वे साक्षात् शरीर ब्रह्म हैं।

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः।

कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम्।।

एष प्रकृतिख्यक्ता कर्ता चैव सनातनः।

परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः।।

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः एवं मही च या।

चतुर्विधं च यद् भतं सर्वे कृष्णे प्रति प्रतिष्ठितम्।।[3]

---

(1) आदि पर्व 63/103 (2) सभा पर्व 36/14-16 (3) सभा पर्व 38/23-25

महाभारत युद्ध पूर्व अर्जुन के मोहनाश हेतु गीता में कृष्ण को पूर्ण ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। वे अविनाशी, अक्षर, दिव्य, पुरातन, जगदाधार आदि देव और विभु हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियों के आदि मध्य और अन्त है। जीवों की उत्पत्ति पालन और संहार कर्ता हैं। इस शरीर में स्थित आत्मा वस्तुतः परमात्मा है। वे ब्रह्म जीव कर्मो के साक्षी होने के कारण अनुमन्ता पोषण के कारण भर्ता ब्रह्मा के भी स्वामी महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्द महेश्वर हैं। वे हाथ पैर से युक्त सब में व्याप्त हैं। निर्गुण होकर सगुण हैं। वे चर और अचर जहाँ भी संसार में रूप, बल, तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति है। उनसे बड़ा कोई दूसरा उन्हें कूटस्थ अभिकारी और पुरुषोत्तम भी कहा गया है।

परस्तमात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्ता त्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।

कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्माणोऽप्यादि कर्त्रे।
अनन्तदेवेश जर्गन्नवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं चपरं परं च धामत्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।

अविनाशि तुतद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमप्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तु मर्हति।।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।।

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवजं विभुम्।
अहमात्मा गुडाकोश सर्वभूताशय स्थितः।।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।
न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
पर मात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।
निर्गुणं गुणभोक्तृ च।
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।।
सूक्ष्मत्वात्त दविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्मसः परमुच्यते।।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।।
प्रभवः प्रलयः स्थानं विधानं बीजमव्ययम्।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।
पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्र मोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।
यद्य द्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिम प्रभाव।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।
यस्मात्क्षर मतीतोऽहम क्षरादपि चोत्तमः।।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।[1]

तात्पर्य यह है कि महाभारत में ब्रह्म का विकास नित्य एवं नैमित्तिक रूप से हुआ है। ब्रह्म का रूप भक्ति की आधार शिला बना जिसके अन्तर्गत उसे संसार का नियामक पोषक संहारक अवतारी तथा पांचरात्र सम्बन्धी चर्तुर्व्यूह सिद्धान्त काप्रतिपादन हुआ ब्रह्म को ही कृष्ण रूप में प्रतिष्ठित कर उसके अंश ब्यूह कला आदि रूपों की व्याख्या महाभारत में दिखाई पड़ती है।

(1) गीता-8/20, 11/37-38, 2/17, 7/6, 10/42, 7/7, 10/42, 10/20, 4/4, 13/16, 13/22, 13/13-15, 17, 11/40, 9/17, 10/41, 11/43, 15/16-18

गीता में निहित जीवन दर्शन एवं नैतिकता

गीता भी महाभारत का एक अंग है। गीता भी नैतिकता के नियमों से परिपूर्ण और मानवीय जीवन में प्रयुक्त होने वाले नियमों का भी वर्णत है। गीता की नैतिकता छिपे हुए जीवन दर्शन परवर्ती हर श्रेणी के ग्रंथकार ने अपनाया है। गीता केवल दार्शनिक मीमांसा का ग्रंथ नहीं है; बल्कि यह मनुष्य को स्वादर्श पर चलते हुए अंत में भगवान का स्वरूप जानकर निखच्छिन्न शान्ति लाभ का मार्ग भी दिखाती है। गीता में ही जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का वर्णन भी निहित है।

जन्म व मृत्यु :- संसार की सभी घटनाओं में जन्म व मृत्यु सर्वापेक्षा सत्य है। क्योंकि जो जन्म लेगा, उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी। प्राणियों का जीवन अनित्य है, कब किस क्षण मृत्यु आकरउपस्थित हो जाये यह कोई नहीं बता सकता।

संसार एक वन है :- जीवन की अनित्यता पर महामति विदुर ने एक अद्‌भुत रूपक की कल्पना की है, जो इस प्रकार से वर्णित है–एक पथिक रास्ता भूलकर बाघ, भालू, सर्प आदि हिंसक जन्तुओं से परिपूर्ण अनभिज्ञ अरण्य से पहुँच गया। वहाँ उसे कुछ समझ में नहीं आया है। वह भयविरुद्ध हो गया फिर समय उपरान्त मार्ग रूपी देवी ने मार्ग बनाकर उसका मार्ग प्रदर्शन किया। हम सब मानव इस संसार रूपी अरण्य में हम सब उसी पथिक जैसे हैं, कोई भी विवेकवान व्यक्ति इस संसार चक्र में फँसे रहना नहीं चाहते, एक विवेकी व्यक्ति का विवेक जाग्रत होने पर जीवन की अनित्यता का बोध होते ही वे मानव मधु का लोभ छोड़कर मुक्ति के लिये व्याकुल हो उठते हैं।[1]

आसक्ति का त्यग :- रूप, यौवन, धन–सम्पत्ति, जीवन प्रियजन सब कुछ अनित्य है, अतः संसार में अत्यन्त आसक्त होना बुद्धिमान व्यक्ति को शोभा नहीं देता। बालक, वृद्ध, युवक प्रत्येक की मृत्यु निश्चित है, इसलिये हमेशा उसके लिए तत्पर रहना ही बुद्धिमानी है। मानव की स्वस्त्री, पुत्र, बंधु, बांधव आदि सभी से एक दिन तो अलग ही होना पड़ता है। जैसे कि समुद्र में तरंगों के संघर्ष से जिस प्रकार काष्ठखंड मिलाकर फिर अलग हो जाते हैं; उसी प्रकार इस संसार सागर में सगे–सम्बन्धी बिछुड़ जाते हैं।

---

(1) स्त्री अ. 5वाँ, 6वाँ

पथिसंगतमेवेदं दारैन्यैश्च बंधुभिः।
नायमन्त्यन्तसंवासो लब्धापूर्वो हि केनचित्।।[1]

संसार की अनित्यता, विषयवासनाओं की कभी पूरी न की जा सकने वाली निरंतर वृद्धि शीलता, धन सम्पत्ति की तुच्छता आदि वैराग्य दिलाने वाले वर्णनों से महाभारत के आध्यात्मिक अध्याय से भरपूर है।

योग्यवान वस्तुओं की अनित्यता :- भोग्य के उपभोग से विषय-वासनाएँ कभी कम नहीं होती वरन् प्रज्वलित अग्नि में धृताहुति की तरह अग्रिम हो जाती है। संसार की समस्त भोग्य वस्तुएँ एक व्यक्ति को अगर उपभोग के लिये दे दी जायें तो भी उसकी तृष्णा कभी भी कम नहीं होंगी, यथासंभव भोगासक्ति का त्याग करके चलने से ही संसार में सुख-शांति की प्राप्ति हो सकती है।

न जातु कामः कामानमुपभोगेन शम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूरा एवाभिवर्द्धते।।[2]

पिंगल के उपाख्यान में वर्णित है कि विषयवासनाओं के त्याग से सुख प्राप्त होता है।

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वणिति पिंगला।।[3]

स्पृहा के त्याग व उसके फल का गुणगान किया गया है क्योंकि कामना की पूर्ति से मिलने वाले सुख की अपेक्षा कामना का त्याग करने पर उसका सुख अति होता है। शान्ति पर्व 176 में से 178 और वन पर्व 2/35/46 में वर्णन है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्ष्य सुखस्यैर्त नार्हतः षोऽशीं कलाम्।।
अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टि परमं सुखम्।[4]

मनशुद्धि का प्रयोजन :- सबसे अधिक आवश्यकता तो मन का निर्मल होना है। मन ही मनुष्य के सुख-दुख का कारण है। मन ही मनुष्य की यज्ञभूमि है। मन पवित्र हो तो हर नदी सरस्वती है और प्रस्तरखंड देव प्रतिमा।

(1) स्त्री अ. 2वाँ, 3वाँ, शान्ति पर्व 319/10, शान्ति पर्व 28/36-39 (2) आदि पर्व 75/50, 51 (3) शान्ति पर्व 174/62
(4) शान्ति पर्व 174/46, 330/21

आकिञ्चन्ये न मोक्षऽस्ति किञ्चन्ये नास्ति बन्धनम्।

सर्वाः नद्यः सरस्वत्यः सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः।

जाजले तीर्थमालैव मास्म देशातिथिर्भव।।[1]

त्यागी, सत्वगुणविशिष्ट समदर्शी व्यक्ति के लिए संसार की हर वस्तु पवित्र होती है और हर स्थान तीर्थ।

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिहदे।

स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालब्ध शाश्वतम्।।[2]

सुख-दुःख, अर्थ-लोभ, स्नेह का परित्याग :- सुख एवं दुःख केवल अनुभूति पर निर्भर होता है और इनकी अनुभूति भी विचित्र होती है।

सर्वत्र निरतो जीव इतश्चापि सुखं मम।[3]

यदिष्टं तत् सुखं प्राहुर्द्वेष्यं दुःखमिहेष्यते।।[4]

सुख एवं दुःख प्राणी के जीवन में चक्रवत् परिवर्तनशील है, एक के बाद दूसरा उपस्थित होता है, इन दोनों की कोई भी इच्छा नहीं है। दुःख को सहन करने की अपेक्षा शान्त सहज भाव से सुख का चरण करना कठिन है। वन. 260/45, व अश्व 32वाँ अध्याय में वर्णन है।

अहान्यस्तमयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी।

सुखस्यान्तं सदा दुःखं दुःखस्यान्तं सदा सुखम्

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्त नोद्विजेत प्राप्य चाप्रियम्।

आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशित्वमचापलम्।।[5]

धन सम्पत्ति, घर, जमीन आदि के साथ सम्बन्ध होता है, लेकिन वह कल्पित है। संसार से बिदा होते हुए मनुष्य को बिलकुल रिक्त हाथ जाना पड़ता है। उपनिषदों की "मा गृधः क़स्य स्विद्धनमः"–इस उक्ति को उद्धृत करके महाभरतकार ने कहा है, "सर्वे लाभाः साभिमानाः" धन के साथ साथ किसी का कोई संबंध नहीं होता। धन की अपेक्षा अधिक लाभ के निमित्त वृथा समय नष्ट करना तथा कठिनाइयाँ उठाना संगत नहीं है। शा. 174/44 व शा. 275वाँ अध्याय में वर्णन उपलब्ध है।

---

(1).शान्ति पर्व 320/50, 262/40 (2) अनु. 108/3-9 (3) अनु. 117/17, 18 (4) शा. 275/27 (5) अश्व 44/18, भीष्म पर्व 29/20, वन. 212/35, 36

सर्वे लाभाः साभिमाना इति सत्यवती श्रुतिः।

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तरस्करस्य च।

पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः।।[1]

ऐसा कोई संचयी व्यक्ति नहीं होता जो पूर्ण शांति से कालयापन कर सके। अतः प्रक्षालन करने की अपेक्षा पंक का स्पर्श न करना ही उत्तम है।

आकिञ्चन्यञ्च राज्यञ्च तुलया समतोलयम्।

अत्यरिच्यत दारिद्रयं राज्यादपि गुणधिकम्।।

न हि संचयवान कश्चिद्दृश्यते निरूपद्रवः।।[2]

दुःख, भय, हर्ष, शोक आदि सब स्नेह से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य बार-बार विविध विषयों की ओर आकृष्ट होकर नाना दुःख भोगता है। भोग्य वस्तुएँ भोगने से त्यागी नहीं होता है। प्रयोजन के अतिरिक्त भोग्य वस्तुओं के प्रति अनासक्ति या उदासीनता ही वैराग्य है। विषय वासनाओं की वृद्धि होती है। अतिस्पृहा को संयत करके रखना चाहिये।

स्नेहाद्भावोऽनुरागश्च प्रजज्ञे विषये तथा।[3]

जीव लोक स्वार्थ के ऊधीन है। उद्देश्य-साधन के लिए दूसरे को सन्तुष्ट रखते हैं। वृहदारण्यक की "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतिं यह श्रुति उक्त मतवाद का मूल है।

अर्थार्थो जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।।[4]

मन की स्थिरता-साधन, सन्तोष, अहिंसा :- सर्व प्रथम गीता में कहा गया है कि मन को एकाग्रचित व स्थिर ही रखना चाहिए इससे व्यक्ति कार्य अतिशीघ्र होते हैं। शा0 के 'श्रेयोवाचिक' अध्याय में मन को स्थिर करने के बहुत उपाय बताये गये हैं। कहा है, वैदिकशास्त्रों पर अकाट्य श्रद्धा, सर्वभूत पर दया, दुष्कर्मो से निवृत्ति, सरल व्यवहार, प्राणिहितकर वचन, अहंकार त्याग, प्रमाद विग्रह, सन्तोष, वेद-वेदान्तों का अध्ययन, ज्ञान जिज्ञासा, पर निन्दा-परित्याग, वेद वेदान्तों का अध्ययन, निष्काम, कर्मव्यस्तता, वाक संयम। असत्संग वर्जन आदि उपायों द्वारा मन को स्थिर कियां जा सकता है। सभी मानव में सद् व्यवहार ही चित्तशुद्धि का उपाय है। किसी की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। मन को बड़ा बनाकर उसकी महिनता को दूर करना चाहिए। शा. 287 वा अध्याय है।

---

(1) 2110180/10, शा. 174/32 (2) शा. 176/10-13, वन. 2/48, 49, 39-45 (3) वन. 2/29-34 (4) शा. 138/152, 153

निर्गुणः परमात्मा तु देहं व्याप्यावतिष्ठते।

ममहं ज्ञानविज्ञेयं नावमन्ये न लंघये।।[1]

सन्तोष सब सुखों का मूल है। स्वल्पतुष्ट व्यक्ति किसी भी बात से दु:खी नहीं होता। तृप्ति ही मनुष्य को आनन्द मार्ग पर लाती है। जो व्यक्ति पर्यंकशय्या एवं भूमिशय्या को समान समझता है। सौभाग्य उसके चरणों पर पड़ा रहता है। वह व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के लिए परेशान नहीं होता है। गृहस्थ जीवन में भी अतिस्पृहा जीवन यात्रा मार्ग का सबसे बड़ा रोड़ा है।

पर्यंकशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः।

शालयश्च कदन्नञ्च यस्य स्यान्मुक्त एव सः।।[2]

अहिंसा जैसा सच्चा मित्र मनुष्य का अन्यात्र नहीं होता। अहिंसा परम सत्य है, सर्वशास्त्रों का सार है। यज्ञ, तीर्थ, दान आदि मानव के मनशुद्धि के जितने उपयोग्री है अहिंसा उनसे कम नहीं। अहिंसक व्यक्ति सम्पूर्ण संसार का विश्वासपात्र होता; उसका कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। (अनु. 113वाँ तथा 116वाँ अध्याय)

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चेरत्।

नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्।।

चतुर्विधयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः।

एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन।।[3]

अहिंसा पालन द्वारा मनुष्य दीर्घायु होता है। जिसका चरित्र हिंसा से कलुषित होता है, वह किसी का भी विश्वास भाजन नहीं होता एवं सुखी व दीर्घ जीवन बिताना उसके भाग्य में नहीं होता।

अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः।।

पापेन कर्मणा देवि बद्धो हिंसारतिर्नवः।

अप्रियः सर्व भूतानां हीनायुरूपजायते।।[4]

सम्पूर्ण गीता महाभारत पर आधारित है। गीता में जीवन दर्शन के प्रति नैतिकता एक मार्ग दर्शक है। संतोष, अहिंसा, संतुष्टि आदि सब में मानव जीवन में जो धारण करता है। वह संतुष्टय रहता है।

---

(1) वन. 147/8 (2) शा. 288/32, 34, 35 (3) वन. 212/34, 30, अनु. 114/4-10, 2 (4) अनु. 163/12, अनु. 144/54, 52

महाभारत में नैतिकता का सामाजिक पक्ष

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक सुव्यवस्था हेतु विभिन्न प्रकार की स्मृतियाँ एवं नीतिशास्त्रों का निर्माण प्रत्येक समाज में होता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष को चरम पुरुषार्थ कहा गया है। अतः इसे प्राप्त करने के लिए नैतिकता का अवलम्बन अनिवार्य सा हो जाता है। समाज में रहकर व्यक्ति परस्पर संघर्ष या समझौता कर जीवन–यापन करता है। अपने हृदय के उदारता के अनुरूप वह सांसारिक वस्तुओं में असक्ति सुख या दुःख का अनुभव इसलिए करता है कि धन सम्पत्ति को वह अपना समझता है। लौकिक दृष्टि से या जीवन निर्वाह के लिए अर्थ सर्वोपरि है किन्तु नीतिशास्त्र में धर्म सम्मत अर्थोपार्जन एवं उपभोग कि चर्चा महाभारत में अनेक स्थानों पर की गयी है। इसी धन से पत्नी, पुत्र, अन्य संसारिक वस्तुओं को प्राप्त कर वह विषय की तृष्णा शान्त करता है। तात्पर्य यह है कि मोक्षकामी व्यक्ति को अपनी अतिस्पृहा को नीति के मार्ग में चलकर संयमित करना चाहिए।

मोक्षो वा परमं श्रेय एष राजन् सुखार्थिनाम्।
प्राप्तिवो बुद्धिमास्यथाय सोपायां कुरुनन्दन।।
तद्वाऽऽशु क्रियतां राजन् प्राप्तिर्वाप्यधि गम्यताम्।
जीवितं ह्यतुरस्येव दुःखमन्तरवर्तिनः।।[1]

इस प्रकार महाभारत में जनक और सुलभा प्रसंग में मनुष्य की कामनाओं के स्वरूप को प्रस्तुत किया है। कि यह जीव संसार में आकर स्वास्थ्य से युक्त होता है। नैतिकता के मूल अधिष्ठान, सत्यनिष्ठा, सदाचार पालन, क्रोधदि गुणों के अभाव में मनुष्य आध्यात्मिक मार्ग पर प्रर्वृत्त होता है। श्रद्धा एवं सत्कर्म, सत्यनिष्ठा के मूल में है। अतः काम, क्रोध, लोभ, को छोड़कर, सम, दम, आदि का पालन जीव को करना चाहिये।

एवं विजानएँ लोकेऽस्मिन् कः कस्येत्यभिनिश्चितः।
मोक्षे निवेशय मनो मूयश्चाप्युपधारय।।
क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्ववान् मुक्त एव सः।।

(1) वन पर्व 33/43, 44

द्यूते पाने तथा स्रीषु मृगयायां च यो नरः।

न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः।।

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा।

यस्तत्त्वतो विजानति लोकेऽस्मिन् मुक्त एवं सः।।

प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थ चैव कोटिषु।

प्रासादे मञ्चकं स्थानं यः पश्यति स मुच्यते।।

सुख दुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ।

इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एवं सः।।[1]

कहना नहीं होगा कि चित्त की शुद्धि और नैतिकता का अभिन्न सम्बन्ध संतोष से है, यदि मनुष्य के मन में प्राप्त वस्तु के प्रति असन्तोष नहीं है। तो वह दुःखों के बद्ध से मुक्त हो जाता है। इसी संतोष की चर्चा मोक्ष निरूपण में की गयी है। जिस व्यक्ति को सुसज्जित शय्या और सम-विषम भूमि श्रेष्ठ चावल और कदन्य, सन के वस्त्र और कौशेय समान लगते हैं। वह संतोषी कहलाता है। इससे सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय, इच्छा-द्वैष, भय, उद्वेग से मुक्त हो जाता है, ऐसा संतोषी जीव ही आप्तकामीय मुक्त कहलाता है।

संतोष के साथ ही अहिंसा भी मोक्ष का प्रमुख साधन है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में किसी न किसी प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है। यज्ञादि के लिए हिंसा-हिंसा नहीं कहलाती है। महाभारतकार की मान्यता है कि वैद्ध हिंसा, हिंसा नहीं कहलाती मोक्ष के अभिलाषी मानव को चित्त की पूर्ण शुद्ध के लिए हिंसा का पूर्ण रूप परित्याग करना चाहिए। अहिंसक व्यक्ति सर्वभूत का हितैषी और विश्व का विश्वास पात्र होता है।

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते।

अहिंसा लक्षणां धर्मे वेदप्रामाण्य दर्शनात्।।

कर्मणा ममुजः कुर्वन् हिंसा पार्थिवसत्तम।

वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात् प्रमुच्यते।।[2]

इसी तरह अनुशासन पर्व को दान धर्म में पर्व में अहिंसा की महत्ता बतायी गयी है। तात्पर्य

---

(1) शान्ति पर्व 288/24, 25, 26, 29, 30, 37 (2) अनुशासन पर्व 114/2, 3

यह है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए चित्त शुद्धि, सदाचार, मस्त तुष्टि सौम्यता, स्थिरता, जितेन्द्रियता, भाव शुद्धि आदि को तप कहकर इसे सात्त्विक तपस्वी ही पारलौकिक शान्ति प्राप्त करता है। जिसका विस्तृत विवेचन श्रीमद्‌भगवद् गीता में हुआ है। कहना नहीं होगा कि सामान्य दार्शनिक मतों का प्रतिपादन करते हुए यह कहा जा सकता है कि महाभारत में ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष के साधन की चर्चा कर सामान्य दृष्टि से यह निरूपित करने का प्रयास किया है, कि संसार में रहकर जीव विषयासक्त रहता है। मन की चंचलता एवं देहात्मवाद के कारण वह ब्रह्म से अलग हो जाता है जीवात्मा और परमात्मा का मिलन ही मोक्ष है, जिसके अनेक उपाय कहे गये हैं। वस्तुतः आत्म चिंतन, आत्मशुद्धि से आत्म विजय आत्मसंयम और अनेक नीति सम्मत आचार्य उसके जीवन में स्वतः आ जाते हैं, और वह ब्रह्म प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है क्योंकि नीति सम्मत कार्यों से उसके जन्म-जन्मान्तर के पापकर्म क्षीर्ण हो जाते हैं, और पुनः उसे उठराग्नि में नहीं पड़ना पड़ता जनक आदि अनेक ऋषियों के उदाहरण देकर महाभारत में जीवन मुक्ति तथा अनेक ऋषियों के उपदेशों से सिद्धान्त रूप से देहान्तरवाद मुक्ति प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है।

महाभारतकालीन दार्शनिक विचारों का सामाजिक जीवन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण

काव्य और दर्शन दो अलग-अलग वस्तुयें हैं। काव्य में भाव तत्व कल्पना तत्व एवं शैली तत्व का प्राधान्य होता है। जबकि दर्शन तत्व नीरस विचार और तर्क तथा चिन्तन पर आधारित होता है। श्रेष्ठ सफल और यशास्वी कवि अपनी कविता में किसी न किसी रूप में किसी न किसी दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन अवश्य करता है। क्योंकि दर्शन से ही सांस्कृतिक दृष्टिकोण विस्तृत होता है। अतः समाज में दर्शन श्रेष्ठ आचरणों को सिद्ध करने वाला कारक तत्त्व कहा गया है। वैदिककाल तथा सामाजिक जीवन या यावरी वृत्ति का था। वह प्रकृति के उन्मुक्त प्रागंण में जीवन यापन करता था एवं क्रमशः ग्राम, जनपद आदि सामाजिक इकाइयों का गठन होने लगा समाज को सुस्थिर एवं सफल संचालन करने हेतु एक दर्शन की आवश्यकता होती है। अतः तत्ववेत्ता ऋषियों ने वैदिक दर्शन को आस्तिक दर्शन मानकर ऐसी वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था का निर्माण किया जिसमें प्रत्येक वर्ण को धर्माचरण जीवन यापन सामाजिक संमरस्ता बन्धुत्ता आदि भावों की अभिव्यंजना में ही स्वतंत्रता मिली थी। सभ्यता हमारे शारीरिक साधनों की पूर्ति के माध्यमों का नाम है। तो संस्कृति हमारी आत्मा हमारे चिन्तन आदि से सम्बन्धित है। औपनिषद दर्शन ज्ञान को प्रधान मानकर वानप्रस्थ एवं सन्यासियों के लिए तथा यज्ञ, पद्यति पञ्चभूत यज्ञ ग्रहस्थों के लिए विहित विधान माने गये हैं। महाभारत तक आते-आते सामाजिक बन्धन कुछ कटोर होने लगे या रूढ़वादिता का उसमें समावेश हो गया क्यों कि वैदिक दर्शन कर्मणा वर्ण पर आधारित थी। वो महाभारतकालीन समाज प्रायः जन्म संस्कृति को स्वीकारता है। महाभारत में गीता का प्रमुख स्थान है। जिसने तद्‌युगीन समाज को ऐसी आचरण वृद्धि का सूत्र पात्र किया है। जिसमें फल की आशा न रखकर निष्काम भाव से कर्म करने की प्रेरणा दी है। महाभारत में वर्णित ब्रह्मचारियों के ग्रहस्थों के वानप्रस्थी एवं संन्यासियों के लिए विविध निषेध कर्मो का विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन नीति उपदेश या सिद्धान्त कथन रूप में न होकर इन्हें अपने जीवन में धारण कर ऋषियों के द्वारा सामाजिकों विभिन्न समूहों के मध्य उपदेश रूप में अथवा जिज्ञासा के प्रत्युत्तर में सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। वानप्रस्थी एवं संन्यासी विभिन्न जनपदों गाँवों अथवा राजदरबारों में जाकर श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की चर्चा करते सामाजिक जनो के अज्ञान मोहजनित दुःखों का निवारण करते और इस प्रकार स्वर्ग नरक मोक्ष तथा उपासना की विविध सरणार्थियों का वर्णन कर समाज को सन्तुलित बनाते थे। महाभारत में कौरव पाण्डवों के युद्ध के बीच पुरुषों का अभाव एवं स्त्रियों का बाहुल्य तथा इसके कारण समाज में फैले वर्ण संकरता को दूर करने के लिए इन ऋषियों के लिए उपदेशों का महत्व पूर्ण योगदान रहा है।

महाभारत में चित्रित आत्म विजय और आत्म संयम

महाभारत में प्राप्त दार्शनिक स्थलों में से ब्रह्म, जीव, जगत माया इत्यादि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि ब्रह्म ही सत्य है आत्मा और ब्रह्म में एक है। आत्मा मन बुद्धि और वाणी द्वारा ग्राही नहीं है। उसकी अनुभूति की अवस्थातुरी अवस्था है। इस आत्मा के प्राप्ति हेतु जिन साधनों की चर्चा की गयी है। उनमें से ज्ञान, भक्ति, योग साधननों का विस्तृत विश्लेषण पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। यहाँ आत्म विजय हेतु जिन साधनों की चर्चा महाभारत में मिलती है उसका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है। वस्तुतः आत्मा न तो शरीर है और न इन्द्रियाँ यह शरीर को धारण करने वाला अधिष्ठाता है। इन्द्रियाँ शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि बिना आत्म चैतन्य के आश्रम के क्रिया करने में असमर्थ हैं। अतः महाभारतकार ने आत्मविजय अनेक साधनों का उल्लेख किया है। आत्म विजय हेतु विवेक, वैराग्य, शम, दम, उपरति, प्रतीक्षा, श्रद्ध समाधान का वर्णन महाभारत में हुआ है।

(१) शम :- गीता के दसवें अध्याय में शम और दम की चर्चा की गयी है।

बुर्द्धर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।[1]

धृतिं न विन्दामिशर्म च विष्णो।।[2]

शम की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है कि मनः तुष्टि राम है (गीता भाष्य 11/24) वास्तव में इसे मनोनिग्रह भी कहा जा सकता है। जिसमें जगत के आकर्षक रूप में किसी विकार की ओर ध्यान न देते हुए मन का संयमित करना शम है। क्योंकि इससे व्यक्ति क्रमशः आत्म विजय की ओर अग्रसर हो जाता है। आत्म संयम के लिए यह आवश्यक है कि मन की गति भौतिक पदार्थो और आकर्षणों से जब मुक्त हो जाती है। तब साधक के मन में आत्म संयम की भावना जाग्रत होती है। इससे संसार की असारता शरीर की अक्षमता एवं भोग के प्रति उपरति का भाव जाग्रत होता है। कुछ अन्तर से शम के साथ दम का भी प्रयोग हुआ है। आचार्य शंकर ने बाह्य इन्द्रियों के समन को दम कहा है क्योंकि गति के सोलहवें अध्याय में अन्तःकरण की निर्मला तत्व ज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्त दृढ़ स्थिति और इन्द्रियों के दमन की चर्चा की गयी है–

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यास्तप आर्जवम्।।[3]

---

(1) गीता 10/4 (2) गीता 11/24 (3) गीता 16/1

वस्तुतः गीता संन्यासियों एवं ग्रहस्थों जैसे विरोधाभाषी जीवन पद्धति के लिए समान रूप से आचरण शास्त्र के रूप में स्वीकृत है। अतः कहा जा सकता है कि कर्म योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, सभी क्रियाओं में आत्म संयम के द्वारा ही आत्म विजय की प्राप्ति सम्भव है क्योंकि यही मोक्ष है अतः आत्म संयम के मूल में कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से लौटाकर इन्हीं इन्द्रियों के गोलकों में स्थिर करना दम कहलाता है।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वज्वगोलके।
उभयेषभिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः।।[2]

महाभारत के अनेक उपकथाओं या दृष्टान्त में दी गयी कथाओं से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि जिन ग्रहस्थों साधु-सन्तों, ऋषि-मुनियों ने मानहीना, अहिंसा, क्षमा, सरल, पवित्रता इन्द्रियों के विषयों में विराग जन्म-मृत्यु के प्रति अनाशक्ति एवं संसार के प्रति समभाव रखा है। उन्होंने ही आत्म विजय प्राप्त की है। इसी को गीता में समबुद्धि कहा गया है।

अमानित्वदम्भित्व महिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानु दर्शनम्।।
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदार गृहादिषुः।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभि चारिणी।
विविक्त देश सेवित्वमरतिर्जन संसदि।।
अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।[1]

महाभारत की मूल कथा उपाख्यानों नीतिपरक उपदेशों एवं आचरण शास्त्र संबन्धी निर्देशों का विश्लेषण करे तो यह सहज ही कहा जा सकता है कि आत्म संयम साधन है साध्य आत्म विजय है। आत्म संयम के दो रूप महाभारत में वर्णित हैं। सांसारिक अवगुणों व दोषों के

---

(1) विवेक चिन्तामणि 23, 24 (2) गीता 13/7-11

प्रति निवृत्ति अर्थात इन्द्रियों का बाह्य जगत विषयों उपभोग हेतु आकर्षित होना स्वभाविक धर्म है। अतः इनका ध्यान करना दोष निवृत्ति के अन्तर्गत आयेगा। दूसरी ब्रह्मचर्य अहिंसा, भूत दया निराभिमानता सुख-दुख समता इत्यादि गुणों की ओर प्रवृत्त होना इसे गीता में प्रवृत्ति मार्ग कहा गया है। असुर प्रवृत्ति के लोग इस मार्ग को जानते ही नहीं हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरा सुरः।[1]

तात्पर्य यह है कि मन का बाहय विषयों में दोष देखकर उससे विरत होना ही आत्म संयम नहीं है। बल्कि मन और इन्द्रियों को विषयों के प्रति जाने पर बल पूर्वक उन्हें रोकना ये आत्म संयम के दो प्रमुख सोपान हैं। गीता में इन्द्रिय विग्रह की चर्चा जिस रूप में हुई है, वस्तुतः वह आत्म संयम का ही एक दूसरा रूप है। इस आत्म संयम में काम बाधक है वह ज्ञान और विज्ञान का विनाश करता है। इसलिये आत्म विजीगीषु साधक को इन्द्रिय निग्रह करना चाहिए तभी वह स्थित प्रज्ञ अवस्था की प्राप्त होगा यह आत्म विजय की दूसरी अवस्था है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृही तानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
रागद्वेष वियुन्कैस्तु विषयानिन्द्रियेश्चरन्।
आत्मवश्यैर्वियाधेयामा प्रसादमधिगच्छति।।
यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।[2]

महाभारत को आत्म विजय का व्यवहारिक शास्त्र मान कर यदि इसकी कथाओं का विश्लेषण करें तो हमें दिखाई पड़ेगा कि अनेक तपस्वी ज्ञानी ऋषि मुनि ने अपने आचरण से आत्म संयम कर उच्चकोटि का तत्त्वज्ञान प्राप्त ही नहीं किया अपितु समाज में सम्मानीय एवं पूज्य भी बने हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि में कहीं न कहीं वे अपने आचरण से स्खलित हो गये हैं। सामाजिक वर्ग की दृष्टि से ये ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के प्रतिनिधि है तथा कुछ ऐसे भी उपाख्यान वर्णित हैं। जिसमें उच्च वर्ग के साथ ही निम्न वर्ग के व्यक्तियों ने आत्म संयम के माध्यम से आत्म स्वरूप को प्राप्त किया है। प्रथम उदाहरण में पराशर, धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य,

(1) गीता 16/7 (2) गीता 2/68, 64, 58

कुबेर, माण्डव ऋषि, शुक्राचार्य, विश्वामित्र, दुर्वासा, कपिल, नहुश, देवदास इत्यादि शताधिक व्यक्तियों के उदाहरण हैं; तो दूसरी तरफ कृष्ण, भीष्म, विदुर, मांस, विक्रेता व्याध, विदुला आदि दूसरे वर्ग के अन्तर्गत दिखाई देगें। महाभारत को इन उपाख्यानों से काम वासना आशा औतृष्णा का त्याग शम, दम, कहलाते हैं। इससे ही क्रमशः तितीक्षा, उपरति आदि सम्पत्तियाँ व्यक्ति के जीवन में आती हैं। गीता में शम, दम, के बाद आत्म संयम हेतु तितीक्षा के महत्त्व का गायन किया गया है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुख दुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यांस्तांस्तितिक्षख भारत।
तितिक्षस्व प्र प्रसहस्व।।[1]

इस प्रकार तितिक्षा में शीतोष्ण सुख दुःख करने की बात कही गयी है। आत्म संयमी व्यक्ति शम, दम पर आचरण कर आध्यात्मिक आदि दैविक आदि भौतिक या प्रारब्ध सम्बन्ध के कारण प्राप्त सुख-दुःखों की निश्चितापूर्वक विकार रहित होकर जब सहन करता है। तभी उसे आत्म विजय पथ का पथिक माना जाता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि नित्या-नित्य की विवेक की प्रभुसत्ता इन्द्रिय निग्रह की प्रधानता भौतिक विषयों के आकर्षण के उपरति सुख-दुःखों के प्रति सम दृष्टि के पश्चात् साधक ऐसा जीवन यापन करता है। जिसे देह का अभास नहीं होता और उसके मन में जिस श्रद्धा का उदय होता है। उससे ही वह सद्गुरू सन्तों पर विश्वास ज्ञान कर्म भक्तियोग की साधना चित्त का समाधान प्राप्त करता है। आत्म विजीगीषु व्यक्ति को ब्रह्म विषय के चिन्त हेतु आत्म संयम और उसके लिए कथित सोपानों को प्राप्त करना पड़ता है। इसमें चित्त की एकाग्रता ब्रह्म की अनुभूति अथवा सोहम की अवधारणा विकसित होती है। यही गीता शास्त्र का प्रतिपाद्य है। महाभारतकार ने इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु विभिन्न आख्यानों की रचना की है। जीव का नित्य काम्य आत्म विजय ही है। आत्म संयम उसका प्रथम सोपान है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि लौकिक व्यवहार इन्द्रियादिक व्यावहार, अविचार पूर्ण मनुष्य की इन्द्रिगम्य विषयों में अशक्ति आत्म संयम में बाधक तत्त्व है। अतः जीव को बाधक तत्त्वों से हटाकर आत्म विजय हेतु उपर्युक्त आचरणों का पालन करना चाहिए तभी वह आत्म विजयी हो सकता है। विमुक्षकामी जीव के लिए आत्म विजय अनिवार्य शर्त है। क्योंकि आत्म विजय मोक्ष का ही दूसरा रूप है।

---

(1) गीता 2/14, गीताभाष्य 2/14

दर्शन एवं व्यवहार पक्ष की दृष्टि से वैदिक काल एवं महाभारत की तुलनात्मक समीक्षा

वेद विश्व के प्राचीनतम् वांगमय में अन्यतम स्थान रखते हैं; इसके अन्तर्गत संहिता और ब्राह्मण भाग आते हैं। मुख्य रूप ऋक्, साम, यजु, अपर्व चार वेद कहे गये हैं कहीं-कहीं ये त्रयी विद्या के नाम से उल्लिखित हैं। वेद की व्युत्पत्ति में से ज्ञान अर्थ को अधिक महत्ता दी गयी है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य तत्कालीन आर्य जाति की सभ्यता संस्कृति और दार्शनिक जीवन पद्धति का मणि ग्रन्थ है। वैदिक दर्शन व्यावहारिक जीवन पद्धति से सम्बन्ध रखता है। अतः जहाँ संक्षेप रूप में वैदिक साहित्य में अव्यक्त दार्शनिक विचारों का विहगा अवलोकन करते हैं। महाभारत में वर्णित दार्शनिक विचारों से उसकी तुलना करेगें। पहले कहा जा चुका है कि दर्शन देखना अनुभव करने का नाम है अतः यहाँ वेदों में उपलब्ध ब्रह्म, जीव, जगत, माया संबन्धी कुछ उदाहरण देकर उसके दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

(१) ब्रह्म का स्वरूप :- ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द पुल्लिंग और नपुंसक लिंग दोनों में आया हुआ है। पुरुष सूक्त में परमेश्वर को अन्नत सिर अन्नत नेत्र और अन्नत पैर वाला कहा गया है वे सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर उससे भी बड़े कहे गये हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्द शांगुलम्।।[1]

इसी वेद विरण्य गर्भ सूक्त (10/121) में जिन मंत्रों का उल्लेख है उसके अन्त में ये पूँछा गया है। कि ऐसा कौन सा देव है जिसके लिए हम हवन या यजन करे इस परमेश्वर के विराट रूप की चर्चा करते हुए भी कहा गया है कि सम्पूर्ण दिशाएँ परमेश्वर की भुजाएँ हैं उन्होंने अन्मत आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थानों पर स्थापित किया है। ऐसा ब्रह्म उनकी अभिलाषाओं को पूरा करे ईश्वर की अन्नत सामर्थ का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि उन्होंने तीन बार पृथ्वी की परिक्रमा की।

इदं विष्णु विंचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूल हमस्य पांसुरे।।[2]

यह ईश्वर सम्पूर्ण देवों को उत्पन्न करने वाला है वो अचल होते हुए भी अधिक तीव्र वेग

(1) ऋग्वेद 10/90/1 (2) ऋग्वेद 1/22/17

वाला है। इस प्रकार वह इस संसार के भीतर और बाहर सर्वत्र व्याप्त है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्धन्तिके।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः।।[1]

अर्थवेद के स्कम्भ सूक्त (10/4/7) और ज्येष्ठ ब्रह्म सूक्त में परम्ब्रह्म को जगत का आधार कह कर पृथ्वी को उसका आधार अंतरिक्ष को उदर द्युलोक को उसका सिर, चन्द्रा और सूर्य उसके नेत्र कहे गये हैं। तथा अग्नि उसका मुख है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।

दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।

यस्य सूर्याश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।

अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्सेष्ठाय ब्रह्माणे नमः।।[2]

तात्पर्य यह है कि वेदों में विभिन्न नामधारी देवताओं की स्तुतियाँ हैं। निरुक्तकार यास्क के मत् का उल्लेख करते हुए डॉ0 बलदेव उपाध्याय ने लिखा है वेदों में देवता स्तुति ही प्रधान विषय हैं। स्थान विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। पृथ्वी स्थान, अंतरिक्ष स्थान, द्युस्थान, पृथ्वी स्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अब अंतरिक्ष स्थान देवताओं में इन्द्र का तथा आकाश स्थान देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर्य देवताओं।[3] वैदिक देवताओं के विषय में भारतीय और पाश्चात् यह धारणा मान्य है कि यहाँ बहुदेव आदि की प्रधानता है कालान्तर में इनमें किसी एक देवता को प्रधान मानने की परम्परा का विकास हुआ तब एकेश्वरवाद की विचारधारा पल्लिवित हुई। वस्तुतः यास्क ने लिखा है कि इस जगत के मूल में एक ही महत्त्व शालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतशय है। जो ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर कहलाती है उसी एक देवता को बहुत रूपों में वर्णित किया जाता है।

महाभाग्यात् देवताया एव एव आत्मा बहुधा स्तूण्ते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति।।[4]

संक्षेप में वैदिक साहित्य में ब्रह्म का यही स्वरूप सर्वमान्य है और प्रचलित है।

---

(3) यजुर्वेद 40/5 (4) अथर्ववेद 10/4/7/32, 33 (1) भारतीय दर्शन पृ. 51 (2) निरुक्त 7/4/8, 9

जीव :- ऋग्वेद में जीब शब्द अनेक स्थानों प्रयुक्त है। डॉ0 गणेशदत्त शर्मा के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त आत्म शब्द से परमा तत्व और विश्व सत्य का निर्देश नहीं किया गया है।[1] इससे मानव देह शवांस जीवन शक्ति शरीर आत्मा एवं मानव के निजी व्यक्तित्व का ही निर्देश किया गया है। वेदों में प्रयुक्त आत्मा के सम्बन्ध में सायण भाष्यकार ने यह मत उपस्थित किया है कि परमात्मा के अंश भूत जीवात्मा के अर्थ में आत्मा का प्रयोग है।

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भे।। (ऋग्वेद 10/68/40

सायण भाष्य इस प्रकार है।

आत्मेव परम प्रेमास्पदतया निरतिशयानन्द स्वरूपः आत्मा यथा सर्वान् सुखयति।।[2]

ऋग्वेद के वागाभृणीय सूक्त 10/125 से कहा गया है कि जब जीव को परमात्मा के स्वरूप का तात्विक ज्ञान हो जाता है। तब इसमें परमात्मा में अभेद स्थापित हो जाता है। और वह अपने में परमात्मा की दिव्य शक्तियों का अनुभव करने लगता है। तात्पर्य यह है कि वेदोक्त जीवात्मा ज्ञानी पुरुष होकर करते हैं। फिर दिव्यमार्ग से सीधे स्वर्ग जाते हैं। और प्रकाशमय स्थान का प्राप्त करते हैं।

प्रजानन्तः प्रतिगृह्णन्तु पूर्वे प्राणमंगेभ्य पयचिरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रतितिष्ठा शरीरैः स्वर्ग याहि पथिभिदैवयानैः।।[3]

यही आत्मा इन्द्रियों के वशी भूत होकर संसार चक्र में पड़ कर चक्कर काटती रहती है। संदेह युक्त ग्रंथियों में आबद्ध होकर यह शरीर जन्म-मरण का दुःख भोगता रहता है। जीव और शरीर की संरचना पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि प्रजापत्य ने मनुष्य के सिर और हृदय को सिलकर बनाया है। उसका सिर वेदों का कोश है। प्राण अन्नमन गंथ इस सिर की रक्षा करते हैं।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पावमानोऽधि शीर्षतः।।
तद् वा अथर्वण शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः।।[4]

---

(1) ऋग्वेद में दार्शिनिक तत्त्व पृ. 99 (2) ऋग्वेद 1/73/2 का सायण भाष्य (3) अथर्ववेद 2/34/5 (4) अथर्ववेद 10/1/2/26, 27

जगत का स्वरूप :- नासदीय सूक्त में कहा गया है कि प्रलयदशा में सत् और असत्य मृत्यु और अमरता रात और दिन नहीं थे।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानी नासी ट्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।
न मृत्यु रासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह आसीत्प्रकेतः।
आनी दवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास।।[1]

तब प्रश्न यह उठता है कि यह संसार कहाँ से आ गया किसने इसकी सृष्टि की इसका उत्तर ऋग्वेद में दिया गया है सर्वप्रथम परमात्मा के मन में काम उत्पन्न हुआ, उससे उत्पत्ति का कारण भूत बीज निकला इसी बीज से पुरुष और महिलाओं की उत्पत्ति हुई यही जगत का मूल रहस्य है।

कामस्तग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसंति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कव्यो मनीषा।।
कामः समवर्तता सिसृक्षा जातेत्यर्थः।।[2]

इस प्रकार प्राकृतिक तत्त्वों के पश्चात् नाना सृष्टियाँ हुई ऋग्वेद के अगमरषण सूक्त में कहा गया है कि तप से यज्ञ और सत्य तदान्त दिन रात्रि इसके पश्चात् समुद्र और पूर्व काल के अनुसार सूर्य चन्द्र अंतरिक्ष इत्यादि की रचना हुई।

ऋतं च सत्यं चाभी द्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।
समुद्रादर्ण वादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिसतो वशी।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्ष मथो बः।।[3]

अथर्ववेद के ग्राम्य सूक्त (15/1) एवं मन्यु सूक्त (11/18) में सृष्टि रहस्य पर प्रकाश डाला गया है जिसका निष्कर्ष यह है कि प्रजापति से संसार कब निर्माण किया ऐसी ही कुछ

---

(1) ऋ. 10/129/1, 2 (2) ऋ. 10/129/4, ऋ. 10/129/4 का सायण भाष्य (3) ऋ. 10/190/1, 2, 3

परिकल्पना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में की गयी है कि विराट पुरुष से देव पशु-पक्षी, मनुष्य तथा भ्रूण की उत्पत्ति हुई।

तस्माद्विरालजायत विराजो अधिपुरुषः।

स जातो अत्यपरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।। (ऋ.10/90/5)

माया :- वैदिक संहिताओं में माया का प्रयोग अनेक बार अनेक अर्थो में हुआ है। कहीं शक्ति कहीं छल-कपट कही आसुरी माया के रूप में ये शब्द प्रयोग है। जीव के हृदय में मोह उत्पन्न करने वाले त्रिगुत्मीका शक्ति के अर्थ में माया प्रयुक्त है ऐसा सायण का मत है।[1] डॉ0 राधाकृष्णन का मत है कि ऋग्वेद में जहाँ कहीं भी माया शब्द आया है। वह केवल ईश्वर के सामर्थ एवं शक्ति का घोतक है।[2]

मोक्ष :- ऋग्वेद में मुमुक्ष शब्द आया हुआ है। जिसका सायण ने मोक्ष की इच्छा रखने वाला व्यक्ति कहा है।

मुमुक्ष्वो मानवे मानवस्येते। (ऋ. 1/140/4)

मुमुक्ष्वः मुमुक्षव आहुति द्वारा यजमानं मोक्तुमिच्छन्त्यः ब्रह्मलोकं प्रापन्त्यः।

(ऋ. 140/4 का सायण भाष्य)

अथर्ववेद में मन्तदृष्टा ऋषि प्रार्थना करता है कि तप और दीक्षा के साथ ब्रह्मवेत्ता जिस लोक में जाते हैं। ब्रह्मा मुझे वहीं पहुँचा दे ऐसी ही कुछ कामना ऋग्वेद में की गयी है।

(1) यत्र ब्रह्मविदों यान्ति दीक्षया तपसा सह। (अथर्ववेद 19/43/8)

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु में।। (ऋ. 1/22/20)

(2) त द्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

तद्वि प्रसो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।

विष्णोर्यर्त्यत्परमं पदम्।। (ऋ. 1/22/21)

ऋग्वेद में ऋषि परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि वह उसकी कृपा से परम पद को प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार शरीर और प्राण के बंधनों से मुक्त हो सकता है। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए जीव को ऋत् का पालन करना पड़ता है तभी उसे आत्म ज्ञान प्राप्त होता

(1) ऋ. 10/177/1 का सायण भाष्य (2) भारतीय दर्शन प्रथम खण्ड पृ. 94

है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति मधु विद्या का ही अधिकारी है। ब्रह्म ज्ञान से ही यह अन्नद धाम में प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान द्वारा ही इस अमृत अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह्।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।[1]

मोक्ष प्राप्त करने हेतु ज्ञान धृत कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की कामना यजुर्वेद (40/2) में व्यक्त की गयी है यत्र-तत्र श्रद्धा और अनुराग से युक्त शक्ति भाव की भी चर्चा मोक्ष प्रकरण में की गयी है।[2] मोक्ष के लिए मधु विद्या, प्राण विद्या, याज्ञिक कर्म काण्ड का विस्तृत वर्णन वैदिक साहित्य में हुआ है। मूलतः अग्नि में आहुति डालकर देवताओं को प्रसन्न कर इष्टापूर्ति की कामना वैदिक साहित्य में सर्वत्र उपलब्ध है इसीलिए वैदिक संस्कृति में आचार तत्त्व के मूल में यज्ञों को कहा गया है। यज्ञ करना मानव का प्रथम धर्म है इनसे ही मानव स्वर्ग लोक की प्राप्ति कर सकता है। अश्वमेघ यज्ञ, राजसूय यज्ञ, वाजपेय यज्ञ, यत्र-तत्र प्रतिभापूजन वैदिक रूप में यह कहा जा सकता है कि सर्वव्यापी सर्ववात्मक एक ब्रह्म सत्ता का निरूपण भिन्न-भिन्न देव शक्तियों में करना इसी ब्रह्मा सत्ता से सृष्टि का विस्तार और यज्ञ इत्यादि सम्पन्न कर उस अद्धैत तत्त्व को जानना उसे प्राप्त करना वैदिक दर्शन का मूल आचरण पक्ष है। वस्तुतः दर्शन में सिद्धान्त पक्ष का निरूपण अधिक होता है। व्यवहार पक्ष में कम जबकि वैदिक साहित्य में मानव जीवन के आचरण पक्ष का विस्तृत वर्णन किया गया है। जीवन में विभिद् कर्मो को सम्पादित करना उसे यज्ञ रूप देना और यज्ञ को ही परमात्म तत्व को प्राप्त करना वैदिक वांगमय का विस्तृत आचरण पक्ष है। जबकि उससे विकसित नासतिक दर्शन या औपनिषद दर्शन सिद्धान्त पक्ष की विस्तृत व्याख्या विश्लेषण करते हैं। महाभारत में इन्हीं सैद्धान्त पक्ष की विस्तृत व्याख्या विश्लेषण करते हैं। महाभारत में इन्हीं सैद्धान्ति और व्यावहारिक पक्षों का समन्वय किया गया है। क्योंकि वैदिक कर्मकाण्ड की अतिशयता तथा बौद्ध जैन दर्शन की लोक प्रियता औपनिषद ज्ञान काण्ड की अधिकता के कारण जिस संन्यास आश्रम की सर्वव्यापकता हुई उससे समाज में एक प्रकार का ऐसा भाव उत्पन्न हुआ जो कुछ दिन भ्रमित सा ही रहा था महाभारत ऐसे ही सन्धि काल का आचरण प्रधान ग्रंथ है। जिसमें व्यावहारिक जीवन

(1) यजुर्वेद 40/14 (2) विशेष अध्ययन के लिए-भक्ति काव्य का विकास डॉ0 मुन्शीराम शर्मा एवं वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन डॉ0 विशम्भर दयाल अवस्थी दृष्टव्य है।

के यथार्थ रूप का निदर्शन हुआ है। आगे संक्षिप्त रूप में वैदिक दर्शन के साथ महाभारत में प्राप्त दर्शन की संक्षिप्त तुलना कर साम्य वैषम्य का निरूपण किया जायेगा।

इस प्रकार वैदिक युगीन दार्शनिक विवेचन एवं महाभारत कालिक दार्शनिक विश्लेषण का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में जिस ब्रह्म का निरूपण है वह एक होते हुए अनेक रूपों में दिखाई देता है यह ब्रह्म या परमेश्वर मूर्त रूप से इन्द्र, मरुत, अग्नि, वरुण इत्यादि प्राकृतिक शक्तियों में देखा गया है। जबकि महाभारत में अवतारवाद के विकास के कारण ब्रह्म अव्यक्त, दिव्य अविनाशी पुरातन पुरुष एवं जगदाधार हैं। साथ ही विष्णु पाञ्चरात्र सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुरूप सगुण ईश्वर की अर्चा, अतार, पूजा, उपासना इत्यादि का विधान मिलता है यदि वैदिक ब्रह्म को प्राकृतिक शक्तियों के साथ सम्मिलित रूप से देखा गया है; और उसे प्राप्त करने के लिए यज्ञ प्रक्रिया का प्रबधान है। तो महाभारतकाल में यह विकसित अवस्था यज्ञ प्रक्रिया का प्रबधान है तो महाभारतकाल में यह विकसित अवस्था यज्ञ प्रधान न होकर भक्ति, ज्ञान, योग तथा निष्काम धर्म साधन प्रधान हो गयी बात यह है कि वैदिक युगीन आर्य ग्रामों में वास कर कृषि प्रधान सभ्यता के मानने वाले ही उनका प्रत्येक आचरण ऐतिहासिक सुख पूर्ति प्रामुख्य होता था। चिन्तन प्राकृतिक शक्तियों में ईश्वर का अधिष्ठान कर उसे प्राप्ति हेतु यज्ञ क्रिया पर आधारित था शरीर संसार सुखोपभोग इस युग के दार्शनिक सिद्धान्त की पृष्ठभूमि थी जिसका औपनिषद युग में विरोध हुआ क्रमशः यज्ञो की हिंसा से जन सामान्य के प्रति विरक्ति होने लगी अतः कर्म काण्ड की श्रृंखला में आबद्ध जन साधारण को मुक्त करने के लिए औपनिषदकारों ने अद्वैत ब्रह्म की परिकल्पना कर यज्ञों के स्थान पर ज्ञान प्रधान संन्यास आधारित जीवन दर्शन का प्रवर्धन किया यही पद्धति विकसित होकर महाभारत में व्यापक रूप से दिखाई देती है।

महाभारतकालीन जीवन दर्शन वैदिक परम्परा से विकसित औपनिषद धारा से पुष्ट एहिक जीवन को सर्वथा सुन्दर आदर्शमय बनाने के लिए सगुण और निगुर्ण दोनों प्रकार की अवधारणाएँ विकसित की इन्हीं अवधारणाओं के आधार पर ब्रह्म, जीब, जगत, माया, मोक्ष और साधनों की जीवन सापेक्ष चिंतन प्रस्तुत किया महाभारत का समाज भले ही ब्रह्मणों के कर्मों में यज्ञों की प्रधानता देता हो किन्तु वैयक्तिक जीवन में संसार को आकर्षक मानकर भौतिक उन्नति हेतु साधनरत जीवन दर्शन की व्यापक परिकल्पना प्रस्तुत की है। महाभारत में बौद्ध

धर्म का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है जो यज्ञों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ था जीवन दर्शन एक आचरण एक्ष भी होता है इस दृष्टि से भी वैदिक काल एवं महाभारत के जीवन दर्शन में कुछ साम्य और वैषम्य दिखाई देता है। यदि वैदिक युगीन आर्य ग्राम्य सभ्यता के प्रवर्त्तक थे तो महाभारत युगीन सभ्यता नगरीय सभ्यता है। इस कारण दोनों सभ्यताओं में तात्विक अन्तर दिखाई पड़ता है। और अन्तर ईश्वर, आत्मा, संसार, और आचरण पक्ष को लेकर देखा जा सकता है। वैदिक सभ्यता उसका दर्शन तथा आचार पक्ष एहिक सुखोपभोग को प्रधानता देता है। महाभारत कालीन जीवन दर्शन आमुष्मिक जीवन दर्शन को स्वीकार कर आचार पक्ष में सत्य त्याग, दया, अहिंसा, शम, दम, अपरिग्रह, तपस्चर्या, सात्विक, ऋजुता, क्षमा, शक्ति, पूजा, अर्चना पर विशेष बल देता है। यदि सारांश में यह कहा जाये कि ईश्वर जीव, ब्रह्म, माया, जगत, मोक्ष इत्यादि दार्शनिक दृष्टि से दोनों युगों में कुछ साम्य वैषम्य है। तो अधिक असंगत बात नहीं होगी विशेष अन्तर आचरण पक्ष को लेकर हुआ है क्योंकि दर्शन आचरण पक्ष को लेकर हुआ है क्योंकि दर्शन आचरण पक्ष की प्रधानता देता है। और महाभारत का आचरण पक्ष नगरीय भौतिक सभ्यता को महत्ता देने वाला है। इसीलिए उसमें ऐसे ब्रह्म कीपरिकल्पना की है। जो पूजा उपासना करने पर जीव को क्षमा प्रदान कर पाप से मुक्त कर स्वर्ग की प्राप्ति करा सके की मोक्ष अवधारणा वैदिक और औपनिषद युगीन सिद्धान्तों से मेल खाती है। तुलनात्मक दृष्टि से महाभारत युगीन दर्शन वैदिक दर्शन से कुछ साम्य रखता हुआ आचरण पक्ष की दृष्टि से वैषम्य इसमें अधिक दिखाई देता है।

नैतिकता के विषय में मौलिक एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण

नैतिक शब्द नीति से बना है समाज धर्म और राज्य द्वारा निर्मित नियमों के अनुकूल कार्य व्यवहार आचरण करना ही नीति है। नीतियुक्त आचरण ही नैतिकता कहलाती है। नैतिकता एक जीवन मूल्य है भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों का विशेष आदर अति प्राचीनकाल से रहा है। भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने नैतिकता के दो भेद किये हैं। वैयक्तिक नैतिकता या शाश्वत मूल्य तथा दूसरा समाज, समय परिस्थितिगत जीवन मूल्य, यद्यपि नैतिकता के मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि नैतिक मूल्यों का जना ही सामाजिक आवश्यकता के साथ होता है। यदा-कदा कुछ ऐसे विचारकों या मनोवैज्ञानिकों चिन्तकों के विचार भी सामने आये हैं कि नैतिकता कभी किसी युग में ठीक लगती है तो वहीं जीवन मूल्य दूसरे युग में अनैतिक लगने लगते हैं जो बात एक देश में नैतिक मानी जाती है वहीं दूसरे देश में अनैतिक हो सकती है।

नैतिकता का सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन में दया, त्याग, पवित्रता, सत्यपालन, अहिंसा इत्यादि व्यक्तिगत आचरण है। पाश्चात्य विचारक विशेष रूप से सिंघभण्ड फ्रायड, हैविलाक एवं उब्लू0एच0 जैसे मनोविश्लेषण कर्ताओं ने काम (सेक्स) और नैतिकता की समस्याओं पर विचार प्रस्तुत किया है। महाभारतकार ने नैतिकता का सम्बन्ध राजनीति धर्मनीति और सामाजिक नीति का उल्लेख सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप में किया है। राजनीति के अन्तर्गत पिछले अध्यायों में विवेचन किया जा चुका है कि राजा को प्रजा के लोक कल्याणार्थ यज्ञ, उत्सव, न्याय प्रियता इत्यादि कर्म नीति पूर्वक करने चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक दृष्टान्तों के द्वारा नैतिक उपदेशों की चर्चा महाभारत में सर्वत्र है यहाँ हम नैतिकता को सामाजिक दृष्टि से नियंत्रण का माध्यम मानकर महाभारत के उद्धारण देकर उसमें प्राप्त एतद्विषयक नैतिक मूल्य का स्वरूप निरूपित करना चाहते हैं।

महाभारत के युद्ध के मूल में पारिवारिक कलह एवं राज्य का विभाजन है महाभारत की वंशावली पर विचार करते हुए धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर के जन्म की कथा आगे चलकर यौन शुचिता के रूप में बदल गयी, व्यास, वियोग के अधिकारी नियुक्त हुए परिणाम स्वरूप ज्येष्ठ धृतराष्ट्र पाण्डु छोटे पुत्र हुए अतः इसलिए राज्य के उत्तराधिकारी धृतराष्ट्र को ही होना चाहिए

और धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन पिता की औरस सन्तान थी, अतः कुल राजा उसे ही चाहिए। इसके विपरीत पाण्डवों की उत्पत्ति संदिग्ध थी। ऐसी सन्तानों को प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी अतः यह एक युद्ध का कारण बनी। विवाह पूर्व कुन्ती का पुत्र कर्ण था पराशर, व्यास इत्यादि इसी प्रकार सामाजिक मर्यादा विहीन संतानें महाभारत में वर्णित नैतिकता के स्वरूप को समझने के लिए यदि एक दृष्टि महाभारत युद्ध में सम्मिलित होने वाले दोंनों पक्षों के वीरों पर दृष्टि डाली जाये तो यह बात स्पष्ट दिखाई देगी कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य तथा अन्य शुद्ध रक्त कर्ण वाले कौरवों की ओर थे, और पाण्डवों की ओर एक प्रकार से अकुलीन लोग युद्ध में सम्मिलित हुए। यद्यपि नारी के पातिक व्रत धर्म की महत्ता महाभारत के अनेक दृष्टान्तों में दी गयी है। अम्बोपाख्यान में वैयक्तिक प्रेम का सावित्री उपाख्यान में पातिकव्रत प्रेम की महत्ता गाकर नैतिकता का श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया गया है इसी प्रकार स्वर्गारोहण के समय युधिष्ठिर के साथ जाने वाले एक मात्र कुत्ते का उल्लेख कर युधिष्ठिर की नैतिक की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह है कि अनेक प्रलोभनों व्युक्तियों और विडम्बनाओं के होने पर भी जो व्यक्ति अपने धर्म कर्त्तव्य या नीति युक्त आचरण पर स्थिर रहता है उसकी नैतिकता की प्रशंसा महाभारत में की गयी है महाभारत में धार्मिक विश्लेषण करते समय सत्य, धर्म, त्याग, तपस्या, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दम, शान्ति, ॠजुता आदि पर विस्तृत रूप से उदाहरण देकर प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार धर्म युक्त या नीति युक्त आर्य उपार्जन करने की पृष्ठभूमि में आर्थिक नैतिकता पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ पिष्ट प्रेषण से बचने को लिए वैयक्तिक जीवन में नैतिक आधार हेतु कुछ नैतिकता का आधार है उसमें मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान योग कर्मयोग भक्तियोग की विस्तृत चर्चा है इन्हीं के अन्तर्गत कोटि के भोजन वाणी व्यवहार चिन्तन और आचरण को नैतिकता से जोड़ते हुए कहा गया है कि "सर्वभूत हितरत" भाव से प्राण मात्र का कल्याण करने वाले कर्म ही श्रेष्ठ सात्विक कर्म है और यही नैतिक आदर्श है। जैसे–

(1) अभयं सत्त्वसं शुद्धि र्शनयोगव्यवस्थितिः। (गीता 16/1)
दानं दमश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम।।
अहिंसा सत्यम क्रोध स्त्यागः शान्तिर पैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं भार्दवं हरिचापलम्।। (गीता 16/2)

इस प्रकार सात्त्विक आहार सात्त्विक यज्ञ सात्त्विक तप, सात्त्विक दान, को वैयक्ति जीवन

में उतारने के लिए गीता के 17-18वें अध्याय में कहा गया है यद्यपि कौरव एवं पाण्डव दोनों पक्षों की सेनाओं ने युद्ध के समय अनेक अनैतिक आचरण किए हैं फिर भी विजय पाण्डवों की हुई। क्योंकि वैयक्तिक नैतिकता पाण्डवों के पक्ष में अधिक थी। काम की पवित्रता और दाय भाग के विभाजन के संदर्भ में भी महाभारत ने इन्द्रिय निग्रह से सदाचार और उससे ईश्वर की प्राप्ति का विवरण नीति के अन्तर्गत कहा गया है।

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमार्च्छन्त्यसंशयम्।
संनियम्य तुतान्येव ततः सिद्धिं समाप्नुयात्
येषु विप्रतिपद्यन्ते षटसु मोहात् फलागमम्।
तेष्वध्यवसिताध्यायी विन्दते ध्यानजं फलम्।। (वन पर्व 21, 27)

भतृहरि ने नैतिक मूल्यों की चर्चा करते हुए लिखा है कि-

येषां न विद्या न तपो नदानं न ज्ञानं न शीलं न गुणों न धर्म।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूताः मनुष्य रूपेण मृगश्चरन्ति।। (नीतिशतक 134)

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन मनुष्य और पशु में समान रूप से होते हैं। किन्तु भतृहरि की मान्यता है कि विद्या, तप, दान शील गुण आदि नैतिक गुण से हीन व्यक्ति पशुवत होता है। शान्ति पर्व में युधिष्ठिर को नैतिक पूर्ण प्रजा के पालन का उपदेश भीष्म ने दिया है नैतिक एवं सदाचार की महिमा का गायन शान्ति पर्व में 73वें अध्याय में किया गया है मुचुकुन्दोपाख्यान में युधिष्ठिर स्वयं कहते हैं कि वे नैतिक रूप से उस राज्य को लेने के तत्पर्य नहीं है जिसकी प्रजा धर्म विहीन है। महाभारत में अनीति आचरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

तात्पर्य यह है कि नैतिकता को किसी क्षेत्र विशेष में नहीं सीमित किया जा सकता वस्तुतः यह सामाजिक मूल्य है। जिन्हें समाज के बहुत सीमित व्यक्तियों में देखा जा सकता है। श्रद्धा, आस्था करुणा, दया, सत्य, सहअस्तित्व, सहानुभूति इत्यादि नैतिक गुणों की पहले प्रधानता थी; किन्तु सामाजिक विकास और अर्थ तत्त्व की प्रधानता होने के कारण अनास्था बढ़ती जाती है। मूल्य विघटन की समस्यायें तभी खड़ी होती हैं। महाभारत के युद्ध के पूर्व अर्जुन का एक प्रश्न वर्ण संकर्ता पर भी था जो यौन शुचिता से सम्बन्धित है। महाभारत युद्ध के पश्चात समाज में अनेक ऐसी समस्यायें उत्पन्न हुई। जिसमें पुरुषों की संख्या का हो गयी और स्त्रियों की संख्या अधिक हो गयी परिणाम स्वरूप वैयक्तिक नैतिक का हास्य होने लगा था। अनुशासन पर्व में

अहिंसा इन्द्रि संयम आदि की प्रशंसा (145 अ0) की गयी है इसी प्रकार वैयक्तिक जीवन में श्रद्धा, दान, कर्त्तव्य पालन इत्यादि की चर्चा इसी प्रसंग में हुई है। कहना नहीं होगा कि महाभारतकार ने सैद्धान्तिक रूप से राजनीति, धर्मनीति, समाज नीति, वैयक्तिक, नैतिक इत्यादि के श्रेष्ठ सैद्धान्तिक उपदेश दिये हैं। फिर भी उसमें ऐसे स्थलों का अभाव नहीं है जहाँ शारीरिक पवित्रता स्त्रियों के पातिक व्रत धर्म विवाह पूर्व तथा स्वर्थ सिद्धि के लिए अनीति युक्त कर्मो का उल्लेख है। इस प्रकार हम शरीर विष्यक मूल्य सामाजिक मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य, भौतिक मूल्य, शाश्वत मूल्य, आध्यात्मिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य आदि की चर्चा महाभारतकार ने करके इनके श्रेष्ठ नैतिक आचरण में उतारे गयें श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों की प्रशंसा की है। इसीलिये महाभारत को नीति शास्त्र या पंचम वेद कहा जाता है। क्योंकि उसमें कहा गया है कि आत्म संयम का आभाव बुभुक्षतः किं न करोति पापम् की उद्घोषण भी उसमें की गयी है। तो दूसरी तरफ सहानुभूति सहिष्णुता कर्त्तव्य पालन अनुशासन प्रियता आदि नैतिक मूल्यों की प्रशंसा की गयी है। चाहे इनके पालक उच्च वर्ण के ब्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, या निम्न वर्ग के अन्त्यज, शूद्र मानस विक्रता इत्यादि क्यों न रहे हों महाभारतकार ने वैयक्तिक नैतिकता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी है।

महाभारतकार के दार्शनिक विचारों का राजनैतिक जीवन पर पड़े प्रभाव का विश्लेषण

दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ है जिसके द्वारा देखा जाये इस प्रश्न से कुछ–पूरक प्रश्न उठ खड़े होते हैं कौन देखे किसे देखे, कैसा देखे हम कौन हैं कहाँ से आये हैं जहाँ आये हैं उसका स्वरूप क्या है उसकी उत्पत्ति का वास्तविक स्वरूप क्या है हमें क्या करणीय क्या अकरणीय हैं इत्यादि इन्हीं प्रश्नों से अनेक शास्त्र विज्ञान, धर्म संस्कृति इत्यादि का जन्म हुआ पिछले पृष्ठों में महाभारत में प्राप्त ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष और उसके साधन रूपों की चर्चा करते हुए यह देखा है कि इसमें आध्यात्मिक आदिभौतिक तथा आधिदैविक सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है। सब में एक ही ईश्वर का दर्शन कर संसार की मिथ्या समस्त निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश गीता और महाभारत में किया गया है, इस प्रकार क्लेशमय संसार से अत्यान्तिक दुःख निवृत्ति एवं त्रिविध ताप, निवृत्ति एवं त्रिविध ताप, निवृत्ति हेतु धर्म का उदय हुआ जिसके अन्तर्गत अनेक नीतियों की परिकल्पना की गयी हमें यहाँ देखना यह है कि महाभारत के दार्शनिक विचारों का उस युग की राजनीति पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ा।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में महाभारत कालीन शासन व्यवस्था की विस्तृत चर्चा की गयी है। पिष्ट पेषण से बचने के लिए यहाँ यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि प्रजा के रक्षण, रंजन, लोक कल्याण हेतु जिन नियमों का निर्माण या आचरण राजा करता है। उसे राजनीति कहते हैं। प्रत्येक देश का कोई न कोई अपना सामाजिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टि कोण होता है तथा तदानुकूल जीवन पद्धति का निर्माण विधि विधानों का नियमत सामाजिक नियमों के द्वारा व्यक्ति विधि निधानों का नियमन सामाजिक नियमों के द्वारा व्यक्ति को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। जैसे आस्तिक दर्शन समाज में जीवन को महत्त्व हीन समझ कर मोक्ष प्राप्त हेतु वैयक्तिक साधन पर अधिक बल जाता है। जबकि नास्तिक दर्शन में शरीर को ही सर्वस्व मान कर शारीरिक सुख प्राप्ति व्यक्ति का चरम काम्य होता है। सिद्धान्ततः यह कहा जा सकता है कि दार्शनानुमोदित राजनीतिक प्रणाली ही लोक कल्याणकारी होती है। महाभारत के अनेक उपाख्यानों एवं उपदेशों से यह बात स्वतः प्रमाणित होती है। शान्ति पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश राजा के लिए पुरुषार्थ करणीय–अकरणीय धर्माचरणों की विस्तृत चर्चा है। जिसका सारांश यह है कि शास्त्रानुमोदित राजधर्म में अर्थ, धर्म, काम्य, मोक्ष

सम्मिलित है। अतः युधिष्ठिर उस राजनीति का प्रच्छा करते हैं।

राजधर्मान विशेषेण कथयस्व पितामह।

सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम्।।

त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव।

मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽवं समाहितः।।

यथा हि रश्मयोऽस्वस्य द्विरदस्यांक शोयथा।

नरेन्द्र धर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम्।।[1]

इस प्रकार महाभारत में आस्तिक दर्शन की अधिक चर्चा है। जिसमें निष्काम भाव से प्रजाहित सम्पादन की चर्चा की गयी है। राजा का पुत्रवत तभी पालन कर सकेगा जब वह स्वयं ज्ञानी और नीति युक्त हो दर्शन और राजनीति के विरोधाभास के कारण ही महाभारत युद्ध हुआ था, क्योंकि पुत्र मोह से ग्रस्त धृतराष्ट्र पाण्डवों के उचित अधिकार देने में समर्थ नहीं हो सका। राजा की श्रेष्ठता या उसके आदर्श रूप की चर्चा भी शान्ति पर्व में इस प्रकार की गयी है।

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः परररन्ध्रेषु तत्परः।

सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयक्ति् तथा।।

क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।

अरोष प्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः।।

आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।

यस्य राज्ञः प्रहश्यन्ति स राजा राजसत्तमः।।[2]

महाभारत, महाकाव्य, इतिहास आख्यान काव्य धार्मिक ग्रंथ ही नही है अपितु यह राजनीति का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। राजा के व्यवहार चातुर्य लोक कल्याण का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है राजा के व्यवहार चातुर्य लोक कल्याण की राजकीय योजनाएँ प्राचीन राजव्यवस्थे ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में राजा की मान्यता और उसके कर्मो केप्रत्यक्ष फल का भोग जनता को करना पड़ता है। इत्यादि श्रेष्ठ आदर्शमय नीति वचनों की चर्चा उद्योग पर्व के अध्याय सं0-32, 33, 34, 36, 39, 40 में की गयी है। तात्पर्य यह है कि यदि राजा दर्शन या संस्कृति पर विश्वास करने वाला राजा

(1) शा. 56/3, 4, 5 (2) शा. 57/31-32

है तो वह प्रजा की सुख शान्ति और रक्षा की चिन्ता नहीं करेगा। विदुर नीति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आदर्श राजा का कैस रूप और उसकी राजनीति का क्या स्परूप होगा। महाभारत के विभिन्न उपाख्यानों में राजा के अधिकारों न्याय दण्ड व्याख्या बल संचय, कूट नीति, इत्यादि की विस्तृत चर्चा हुई है। जिसका दार्शनिक आधार आस्तिक दर्शन है। राजा के लिए जिस आमात्य परिषद की परिकल्पना महाभारत में मिलती है। उसमें सदाचारी स्प्रेहारहित निष्काम शास्त्रविद, नीति विशारद् ब्राह्मणों व मन्त्रियों की नियुक्ति का विधान है। स्वाभावतः जिसके परामर्शदाता श्रेष्ठ जन हो यों उस राजा के कार्य निश्चित रूप से प्रजा हितकारी होगें इसके विपरीत धृतराष्ट्र ने विदुर की नीतियों की उपेक्षा की परिणाम स्वरूप महाभारत का ताण्डवकारी रूप प्रत्यक्ष दर्श हुआ विदुर धृतराष्ट्र से कहते हैं–

सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति।।
असभ्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैश्पि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम्।।[1]

दर्शनशास्त्र में सृष्टि रहस्य विद्या का वर्णन बहुविद रूप से हुआ है। महाभारत में गीता के साथ ही अनेक उपाख्यानों में इस विद्या पर प्रकाश डाला गया है जिसके अनुसार जिस राजा को सांख्य शास्त्र का ज्ञानहै वही निष्काम भाव से अपने कर्मो का निर्वाहण कुशलतापूर्वक कर सकता है और सुखी प्रजा के धर्म कृत्यों का चतुर्थांश राजा का स्वतः मिलता रहता है। शा0 में शासनहीन अव्यवस्था और राजस्व व्यवसायी का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अराजकता की स्थिति में मत्स न्याय चलता है जिसमें प्रजा को दुःख ही दुःख मिलता है। जबकि सुशासन व्यवस्था में राजा को प्रजाकृत्य धर्म की प्राप्ति स्वतः होती रहती है।

यं च धर्म चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थ तस्य धर्मस्य त्वसंस्थं वै भविष्यतिः।।[2]

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मानव जीवन में धर्म की महत्ता प्रबल है। यह ही मानव जीवन को सक्रिय करता है। इसी प्रकार राजा को भी धर्म नीति युक्त आचरण करना चाहिए। राजा इस प्रकार का श्रेष्ठ आचरण तभी कर पायेगा जब उसके समक्ष प्रजा चिंतन का स्पष्ट दर्शन हो धर्मयुक्त उसकी नीतियाँ हो तभी वह लोक कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण कर

---

(1) उद्योग 39/33, 34 (2) शा. 67/27

सकता है। प्रजा की सुख शान्ति की व्यवस्था दर्शन पर आधारित नीति युक्त आचरण से होती है। गीता में जिस दैवी सम्पत्ति एवं आसुरी सम्पत्ति की विस्तृत चर्चा है। उसका सार तत्त्व यही है कि जिस राजा के समक्ष प्रजा के कल्याण की कामना होगी सर्वभूत हितरत का दर्शन होगा ऐसा राजा ही प्रजा का कल्याण कर सकता है। मानवता की सेवा कर सकता है मानव मात्र का हितचिंतन तदानुरूप कर्म के अदम्य उत्साह प्रजा पीड़ितों के प्रतिदमकारी नीतियों को अपनाकर प्रजा को प्रवृत्ति मूलक जीवन दर्शन की ओर प्रेरित कर सकता है यही महाभारत का सारतत्त्व है। इधर दर्शन और धर्म की शास्त्रीय मर्यादा ज्ञान के अभाव के कारण राजनीति का अर्थ ही कुछ परिवर्तित हो गया है। राजनीति का अनार्थ ऐसी नीति है। जिसके साधन से राजा को ऐन-केन प्रकारेण राजपद की प्राप्ति होती रहे निश्चित रूप से इस राजनीति में दर्शन का अभाव है परिणाम स्वरूप प्रजा को कष्ट तो मिलेगा ही उसका शोषण और समाज में अनीति और अन्याय तथा कदाचार फैलता है इन स्थितियों का भी उल्लेख महाभारत में हुआ है जहाँ दर्शन रहित राजव्यवस्था का क्या स्वरूप होगा जैसे-

पाप ह्यापि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च वहवोऽपरे।।
अदासः क्रियते दासो हिन्यन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात् कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे।।
राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः।।[1]

कहना नहीं होगा कि महाभारत राजनीति शास्त्र का प्रमुख ग्रंथ है अतः इसमें दर्शनानुमोदित प्रत्येक वर्ण, धर्म कर्त्तव्य जातियों के विधि निषेध अर्थोपार्जन की प्रणालियाँ प्रजा रञ्जन एवं रक्षण की सुव्यवस्था प्रतिवेशी राजाओं के प्रति राजा की स्पष्ट नीति बिना दर्शन के कल्याणकारी नहीं हो सकती है। वस्तुतः दर्शन ही राजनीति का वह नियामक तत्त्व है जिससे ऐसे राज्य एवं शासन व्यवस्था का निर्माण हो सकता है जिसमें न कोई दण्ड देने वाला हो न कोई दण्ड पाने वाला है प्रजा सुखपूर्वक धर्मानुमोदित कर्त्तव्य कर्म करती है और राज्य की लौकिक उन्नति के साथ प्रजा की पारलौकिक उन्नति भी होती है यही श्रेष्ठ उत्तम, आदर्श राज्य व्यवस्था है।

---

(1) शा. 67/14-16

उपसंहार

सहायक सामग्री

अध्याय- सप्तम

उपसंहार

"*जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः*" में समीक्षक ने रस सिद्ध काव्यों की देशकाल सीमा के अतिक्रमण करने के मूलकारक तत्वों का उल्लेख किया है कि रससिद्ध कवियों की वाणी अजर और अमर होती है क्योंकि प्रजापति ऋष्टि रचना कर्ता ब्रम्हा के समान कवि भी अपने रचना संसार को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि उसका अनुशंसन परिशंसन के अनेक मानदण्ड हो सकते हैं। रामायण और महाभारत भगवान के शब्द वपु हैं जिनमें क्रमशः राम एवं कृष्ण कथा उपनिबद्ध है महर्षि व्यास ने वेदों का संपादन वर्गीकरण ही नही किया अपितु उनके उपवृहण करने हेतु महाभारत सहित अनेक पुराण ग्रन्थों की रचना की है महाभारत उनका ऐसा विकसनशील विशालकाय महाकाव्य है जिसे हम कथा, चरित्र धर्म, नीति, समाज एवं संस्कृति तत्त्वों का विशाल विश्व कोष कह सकते हैं। इसकी कथा को लेकर संस्कृत साहित्य में शताधिक काव्य ग्रन्थ लिखे गयें हैं प्रायः भारतीय आचार्य एवं विदेशी विद्वानों ने इसका सर्वतोभावेन आलोडन– विलोडन किया है। शोधकर्त्री ने इसके सांस्कृतिक पक्ष की समीक्षा करने हेतु अपने शोध का शीर्षक (महाभारत) में प्रतिबिम्वत संस्कृति का समीक्षात्मक अध्ययन रखा है। यह शोध प्रबन्ध सप्त अध्यायबद्ध है। प्रत्येक अध्यायों का सारांश संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रथम अध्याय महाभारत के सामान्य परिचय से संबंधित है इसे प्रस्तावना का नाम दिया गया हैं, इसमें महाभारत के प्रणेता के व्यक्तित्व व उसके रचनाकाल महाभारत की कथा, संस्कृति की अवधारणा और आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के अनुकूल सांस्कृतिक तत्त्वों का निर्णय तथा महाभारतीय युगीन सांस्कृति महत्त्व की पूर्व जीविका प्रस्तुत की गयी है। यहाँ यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि महाभारत में वेदों के रहस्य, विस्तार, औपनिषद, चातुर्यवर्ण विधान, विभिन्न देशों की

भौगोलिक स्थलों का प्रत्याभिज्ञान, राजनीतिक दर्शन के साथ आर्य जाति के श्रेष्ठ सार्वजनीन सिद्धांतों की चर्चा की गयी है। जिसमें मनुष्य मात्र को ब्रम्हांड का श्रेष्ठ प्राणी घोषित कर उसके चिंतन मनन स्वरूप की देशकाल सापेक्ष वर्णन किया हैं महाभारत के काल निर्णय के संबंध में पुराणों, व्यास भारतीय चिंतकों एवं पाश्चात्य समालोचकों द्वारा प्रस्तुत की गयी अवधारणाओं की समीक्षा की गयी है। यहाँ कहा गया हैं कि पुराणों के अनुसार सौर करोड श्लोक वाले एक महाग्रंथ में चार लाख श्लोक वाले विभिन्न पुराणों के प्रणेता व्यास के पट्य शिष्य रोम हर्षण सूत ने जय और उससे विकसित महाभारत काव्य की रूप रेखा प्रस्तुत की गयी है। अरण्यकों ब्राम्हण ग्रन्थों, गृहसूत्रों आदि में प्राप्त व्यास संम्बन्धित स्थलों की परीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला गया है, कि पराशर पुत्र व्यास कृष्ण द्वैपायन के नाम से प्रसिद्ध हैं यह व्यास पहले नामधारी व्यक्ति का था जिसे परवर्तीकाल में पद या पदवी का रूप दे दिया गया कौरव–पाण्डवों का रक्त सम्बन्ध भी महाभारत में उल्लिखित हैं

महाभारत मुख्य रूप से ''जय'' और ''भारत''दो ग्रन्थों के सोपानों को पार कर अपने वर्तमान आकार को प्राप्त हुआ है इसे हम दो अर्थों में प्रयुक्त करते हैं।

1. काव्य ग्रन्थ
2. युद्धपरक घटना

भारतीय मान्यता के अनुसार इसकी संख्या वहीं 8800 कही 24000 और तो कहीं पर 10000 कही गयी है। व्यास ने इसे वैशम्पायन को सुनाया था और नागयज्ञ सत्र में वैशम्पायन से इस परंपरा को प्राप्त कर उग्रश्रवा सौप्ति ने द्वादश वर्षीय सत्र में शौनादि ऋषियों के समक्ष इसका वाचन किया गया महाभारत के काल निर्णय के संबंध में विभिन्न संवतों की चर्चा की गयी है। जिसमें इसका काल ई0पू0 नवी शताब्दी से लेकर ई0पू03000 वर्ष पूर्व तक का काल माना गया है। यद्यपि महाभारत में अनेक आधुनिक जातियों या परिवर्ती दार्शनिक मतों की भी चर्चा हैं फिर भी इतना

तो अवश्य कहा जा सकता है कि महाभारत का प्रमाणिक रूप ई0पू0 तृतीय सदी से लेकर ई0 सन की द्वितीय शती तक निर्धारित हो चुका था। यहाँ संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 18 पर्वों तथा शताधिक अध्यायों में उपनिबद्ध इस महाभारत में कौर पाण्डवों के पूर्वजो की जन्म कथा पाडवों और कौरवों की उत्पत्ति शिक्षा—दीक्षा वैमनस्य राज्य विभाजन द्यूत क्रीडा निर्वासन और अन्त में 18 दिन तक चले कौरव—पाण्डवों के युद्ध में महायोद्धाओं के विनाश पाण्डवों का स्वार्गारोहहण तथा उनके वंशजों के कृत्यों का इसमें विस्तृत विश्लेषण करते हुए व्यास ने आवश्यकतानुसार विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से नीति के साथ तद्युगीन समाज की दशाओं का चित्रांकन किया है। इस चित्रांकन के स्वरूप को समझने के लिये शोधकर्त्री ने 'सम' उपसर्ग से बने संस्कृति की अवधारणा प्रस्तुत करते हुये भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ उपस्थित की है। जिसमें मानव की उन्नयनशीलता परिमार्जन और परिष्कार की प्रवृत्ति जीवनदर्शों की अवधारणा, अध्यात्मिक जीवनधर्म, सम्प्रदाय, बौद्धिकता, नैतिकता सभ्यता का विकास सामाजिक संबंध जीवन को सरल बनाने के लिये विविध आचरण पद्धतियों आदि तत्त्वों का उल्लेख करते हुये यह कहा गया है कि वस्तुतः मानव को दो स्तर पर जीवन यापन करना पड़ता है। शारीरिक स्तर पर जीने के लिए जिस वाह्य उपकरण विधि निषेधो के नियम एवं मन या आत्मस्तर की शांति या आवश्यकता हेतु जिस चिंतन या आचार पद्धति की आवश्यकता होती है, इन दोनों समवेत रूप की संस्कृति कहलाता है। इसमें सामाजिक संरचना, वर्ण जाति व्यवस्था आश्रम स्त्री, पुरूषों की दशा, दिशा, संबंध सामाजिक रहन सहन मनोरंजन संस्थायें आर्थिक स्रोत उसके वितरण की व्यवस्थायें विविध व्यवसाय तथा सामाजिक अनुशासन बनाये रखने के लिये राजा अथवा शासन पद्धति की आवश्यकता उसकी योग्यता प्रशासन व्यवस्था आर्थिक स्रोत न्याय एवं दण्ड व्यवस्था राष्ट्र रक्षा हेतु मित्र अमित्र राष्ट्र से संबंध व्यवहार

अपनी जनता के लौकिक उन्नति के साथ–साथ आमुष्मिक उन्नति हेतु विभिन्न साधनायें धर्म विधियां व्रत, तप, अनुष्ठाान, लोक–परलोक पर विश्वास और आत्मा की शांति हेतु जीव–जगत माया ब्रम्ह के स्परूप और पुरूषार्थ चतुष्ट्य के रूप में दार्शनिक विवेचनों को सांस्कृतिक तत्त्वों में समाहित कर इस दृष्टि से प्रथम अध्याय में महाभारत की संस्कृति का स्वरूप उपस्थित किया गया है कहाना नही होगा कि–

1. महाभारत ग्रन्थ और युद्ध की घटना का अर्थ देने वाला है।
2. इसके मूल प्रणेता व्यास कवि हैं जिनका कौरव पाण्डवों से रक्त का संबंध रहा है कृष्ण वर्ण एवं द्वीप में जन्म लेने के कारण कृष्ण द्वैपायन कहलाये तपस्वी ज्ञानी भविष्य वक्ता एवं आचार्य कवि थे।
3. महाभारत में अठारह पर्व और अध्याय हैं।
4. इसमें तद्‌युगीन सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, सभी दशाओं का यथार्थ एवं आदर्शवादी रूप चित्रित हुआ है। ज्ञान विज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो महाभारत में व्याप्त है वही संसार में भी प्राप्त होता है जो महाभारत में नही वह कहीं भी नही हैं। इसमें नीति धर्म आदि के असंख्य उदाहरण उपदेश दृष्टांतों के माध्य म से वर्णित हैं।
5. महाभारत के पाठक धार्मिक, सामाजिक, नृतात्विक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों के हैं, इस पर अनुसंधान देशी विदेशी, प्राक्कथन एवं अधुनातन लोगों ने अनेक दृष्टियों से कार्य किया है।
6. वस्तुतः महाभारत साहित्यिक सामाजिक धार्मिक राजनीतिक सांस्कृतिक व दृष्टियों का महत्त्वपूर्ण काव्य है।

द्वितीय अध्याय महाभारतकालिक सामाजिक संरचना और संगठन के स्वरूप से संबंधित है। शोधकर्त्री ने सामाजिक संरचना तथा संगठन के मूलकारक तत्वों वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था पुरुष स्त्री की विभिन्न सामाजिक वर्गीकरण तथा खानपान निवास मनोरंजन आदि पर प्रकाश डाला है। यहां निरूपित किया

गया है कि वर्ण व्यवस्था की ऋग्वेदीय उत्पत्ति सिद्धांत का उल्लेख महाभारत में हुआ है। यह चार्तुवर्ण्य सिद्धांत ऋग्वेद काल से चला आ रहा था शोधकर्त्री ने महाभारत के विभिन्न स्थलों का एतदविषयक परीक्षण कर जन्मना वर्ण व्यवस्था के मूल सिद्धांत संबंधी श्लोकों का उदाहरण देकर ये कहा गया है, कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति सम, दम या वर्ण धर्म का ठीक से न पालन करने पर असाधु ब्राह्मण माना जाता था। पठन–पाठन, यज्ञ यजन–याजन आदि उसके विहित कर्म थे। मद्य, मांस, कुलटा स्त्री से संबंध उसके लिये निषिद्ध थे। क्षत्रिय वर्ग के लिये इन्द्रिय संयम दान, यज्ञ, प्रजा रंजन, रक्षण, न्याय दण्ड व्यवस्था क्षत्रियों के कर्तव्य थे शूर वीरता तेज धैर्य, युद्ध से पलायन न करना 'क्षात्र' धर्म के कर्म बताये गये हैं। ज्ञान की रक्षा और संस्कृति रक्षा भी उनके प्रमुख कर्त्तव्य थे। इस प्रकार क्षत्रिय धर्म के केतु और सेतु दोनों माने गये हैं। जो क्षत्रिय सेना में या प्रशासन में सम्मिलित नही थे उनके लिये कृषि विहित कर्म निहित हैं। द्विजातियों में वैश्य भी आते हैं, इनकी उत्पत्ति उर या उदर से कही गयी है। इसलिए वे उदर पोषण के निमित्त कृषि, वाणिज्य, वार्ता का आश्रय लेकर जीवन निर्वाह करते थे। पशु पालन व्यापार अग्निहोत्र, दान सदाचार, अतिथी सत्कार, उनके सनातन धर्म कहे गये हैं। इन्हें उत्पादन की श्रेणी में रखकर एसे कर्मों को व्यवसाय न मानकर उद्योग कहा गया है। वैश्यों को वेदाध्ययन योग स्वीकार किया गया है। कम तौलना, राजा के लिये कर न देना उसके लिये निषिद्ध कर्म थे। यदि वैदिक परंपरा विधि निषेध भक्ष्याक्ष्य आमोद–प्रमोद, शिक्षा, स्वाधर्म पालन आदि पर विशेष बल दिया गया है।

5. महाभारत के सामाजिक अध्ययन से एक बात विशिष्ट रूप से परिलक्षित होती है, कि इस युग का समान अनुलोम–विलोम के कारण उदारवादी समाज बन गया था जन्मना व्यक्ति को वर्ण के अधिकार और कर्त्तव्य तो प्राप्त थे ही किन्तु इनका उल्लंघन कर स्वाध्याय अतिथि सेवा, त्याग तपस्या और मानवीय दृष्टि के सर्वश्रेष्ठ घोषित कर व्यक्ति की महत्ता निरविवाद रूप से श्रेष्ठ सिद्ध है।

6. महाभारत में आर्य, आर्य इतर अन्य जातियों के विधि निषेधों का उल्लेख कर इसे विविध संस्कृतियों के मिश्रण का काव्य बनाया है। जिसमें कुलीन, अकुलीन नागर ग्रामीण, सभ्य–असभ्य, सभी प्रकार के व्यक्तियों के श्रेष्ठ आचरण करने वाले तथा निन्दनीय कार्यरत लोगों की प्रवृत्तियों का एक साथ चित्रण कर ग्रन्थकार ने अपनी व्यापक विशाल मानवीय दृष्टि का परिचय दिया है।

7. समाजशास्त्र की दृष्टि से समाज को गतिशील बनाने के लिये समय–समय पर बनी नीतियों का उल्लेख महत्वपूर्ण मानते है। इस दृष्टि से महाभारत समाज के जीवन्त स्वरूप का श्रेष्ठ निदर्शन का आधार ग्रन्थ है। यही शोधकत्री की प्रमुख उत्पत्ति है।

तृतीय अध्याय महाभारत कालिक समाज के आर्थिक पक्ष से संबंधित हैं पूर्व पृष्ठों में यह निरूपित किया जा चुका है, कि महाभारत इतिहास समाज सांस्कृतिक और बौद्धिक चेतना का जीवन्त महाकाव्य हैं अतः इसमें जीवन कें महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अर्थ के संस्थानों स्रोतों इत्यादि की प्रत्यक्ष या परोक्ष में चर्चा है। महाभारत में वर्जित आख्यानों या नीतिगत उपदेशों का सिद्धांत प्रतिपादन करते समय तद्‌युगीन आर्थिक संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। महाभारत ग्राम्य, नागर और सांस्कृतिक का काव्य है अतः इसमें ग्राम्य तथा नागरिक क्षेत्रों के अर्थ संसाधनों पर विहंगावलोकन करते हुये शोधकत्री ने कृषि उसमें लगने वाले उपकरण कृषि की व्यवस्था में बीज रोपन से लेकर फसल काटने के मध्य वैश्यों के कार्य साहयकों की सहायता एवं राजा वेदों को शीर्ष स्थान पर रखती है। तो शूद्र को चर्मो के लिये नियत किया गया था इनके संस्कार भी नही होते थे। शोधकत्री ने महाभारत के शूद्र वर्ण धर्म कृत्य संबंधी स्थलों का परीक्षण कर यह निरूपित किया है कि महाभारत में शूद्रो की हीनतर अवस्था इतनी नही थी तीन वर्णो का सेवक उसे अवश्य कहा गया है किन्तु सत्यवादी जितेन्द्रिय अतिथि सत्कारकर्ता स्वाध्याय

करने वाला मुमुक्षु शूद्र की तपस्वी और श्रेष्ठ मानकर उसे आदर योग्य कहा गया है ऐसे सदाचारी जितेन्द्रिय शूद्र को राजाज्ञा लेकर संन्यास आश्रम को छोडकर श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य संपादन करने का विधान महाभारत में उपलब्ध है। त्रिवर्णिक सेवक शूद्र अज्ञम्य गामन से रहित सत्य, शौच तितीक्षा इत्यादि गुणों से युक्त शूद्र स्वर्ग को प्राप्त कर लेता था तात्पर्य यह है, कि महाभारत में गुण, कर्म स्वाभाव से निर्मित वर्ण व्यवस्था का उल्लेख उनके विहित अविहित कृत्यों का वर्णन तो मिलता ही है। किन्तु महाभारत में यह व्यवस्था कुछ उदार रूप में दिखाई देती है। अनुलोप प्रतिलोप विवाहों की मान्यता उनके संतानों का सम्मान विदुर युयुत्सु, व्यास, पराशर, कर्ण ऐसे ही उदाहरण हैं जिन्हें समाज ने सम्मानित किया है। वर्ण व्यवस्था के साथ विवाह व्यवस्था पर विचार करते हुये लिखा गया है कि काम भावना मनुष्य की आदि और मूल प्रवृत्ति है। यौन क्षुधा की तृप्ति को एक सांस्कृतिक कृत्य देकर वैदिक सभ्यता ने समाज और अनुशासन की जो शूद्रण भिती तैयार की थी परिवर्ती काल में वह सभी परंपरायें कुछ उदार रूप में दिखाई देती है यद्यपि महाभारत काल में आसुर, गंधर्व, राक्षस, पैशाच विवाहों को सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता था। माद्री, पाण्डु, सुभद्र, अम्बिका, विचित्रवीर, हिडिम्बा, भीम, एवं दुष्यन्त शकुन्तला के विवाह इसी कोटि में माने जाते हैं। भीष्म ने स्त्री से धर्म और संतती वृद्धि कार्य पूर्ण होने के कारण उसे सम्मानित दृष्टि से देखने का आदेश किया है। भार्या, जाया, तारा, जननी, धात्री, आदि को समाज में सम्मानित दृष्टि से देखा जाता था। विाहाहवस्था के लिये अनगत यौवना का उल्लेख है किन्तु महाभारत में युवावस्था. ही विवाह के लिये सर्वथा उपयुक्त मानी गयी है। महाभारत में अष्टविद विवाहों की सैद्धांतिक और व्यवहारिक विस्तृत चर्चा है। जैसे दमयन्ति का विवाह गान्धर्व और ब्राम्हय का मिश्रण था रुक्मणि के विवाह में राक्षस और गांधर्व तथा सुभद्रा के विवाह में राक्षस और प्रजापत्य विधि का सम्मिलित रूप दिखाई पड़ता है मनुस्मृति के

अनुरूप सगोप या सापिण्ड विवाह महाभारत में भी वर्जित है। महाभारत में पारिवारिक जीवन में अनेक वर्गीय रूप दिखाई पड़ते हैं जिनके यौन आवश्यकताओं की पूर्ति संतति पालन पोषण एवं पारस्परिक सहयोग प्रमुख है। इस संबंधों में माता पिता पति पत्नी, गुरूजन, भ्रातत्व प्रेम, भाई बहिन के संबंध तथा मातुल कुल के अनेक संबंधों के आदर्श और व्यवहार रूप महाभारत में द्रष्टव्य हैं।

वर्ण व्यवस्था एवं सामाजिक नियमन के लिये व्यक्ति की अवस्था के अनुसार आश्रम व्यवस्था भी वैदिककाल की देन है भारतीय चिंतन मनीषा ने श्रम को महत्वपूर्ण मानकर जीवन के पच्चीस वर्षों को चार–चार भागों में विभक्त कर जिस चतुराश्रम की व्यवस्था की गयी है। उसमें ब्रम्हचर्य प्रमुख है। इन्द्रिय संयम, वृत्त, रत कर्म में प्रवृत्त एवं ब्रम्ह में स्थित व्यक्ति को ब्रम्हचारी कहा जाता था। मूंज की मेखला जटा यज्ञोपवीत उसकी वेषभूषा थी और गुरू सेवा भिक्षाटन जितेन्द्रिय गुरू, ग्रहवास, गुरू सेवा, कर आर्जन उसे प्रमुख कर्त्तव्य कहे गये हैं महाभारत में सनत्सुजात ने ब्रम्हचर्य के चार चरणों का उल्लेखकर उसके विधि निषेधों का वर्णन किया है। समावर्तन संस्कार के बाद ब्रम्हचारी लोक सेवा के लिये गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त होता था। यह आश्रम सभी का मूलाधार है इसी से धर्म, अर्थ, काम तीनों की शुद्वि होती है इस आश्रम की वृत्ति के लिये कुसूल धान्य, कुम्भदान कपोति वृत्ति और अश्वस्तन वृत्तियों का उल्लेख किया गया है। अतिथि पूजन सत्कार, गृहस्थ धम्र का श्रेष्ठ धर्म था धैर्यशीलता, दान अध्ययन, यज्ञ देव पितर पूजन कर्मा सत्य वृद्ध सेवा दाम्पत्य जीवन पारिवारिक सुख शांति के लिये शुभकर्म संपादित करना समाज ऋण से उत्रृण होने का संबंध इसी आश्रम से जोडा है ढलती व्यवस्था में मनुष्य पूर्ण काम और आप्त काम होने पर वान्यप्रस्थ आश्रम की व्यवस्था महाभारत में उल्लिखित है। हिन्दू वर्ण व्यवस्था को सुगठित प्रगतिशील और सामाजिक सौमनष्य रखने के लिये यह आश्रम लोकोत्रर आश्रम कहा गया है। वानप्रस्थ मुनि जितेन्द्रिय होकर धर्म चिंतन और वैदिक यज्ञ विधान के अनुरूप अग्निहोत्र करने का

आदेश स्मृतियों के अनुरूप महाभारत में उपलब्ध होता है। कुछ लोग कठोर साधना कर ब्रम्हदर्शन की पूर्व पीठिका इस आश्रम को मानते थे। संन्यास जीवन का अन्तिम आश्रम था। व्यक्ति समाज से विरक्त त्यागी होकर दण्ड और कमण्डल लेकर आत्माराम बन जाता था। महाभारत की धारण है, कि संयासी अपनी दैनिन्दर साधना से अपनी परमहंस वृत्ति के कारण प्रकृति और पुरुष के बंधन से मुक्त हो जाता था। महाभारत कालिक समाज में वर्ण और धर्म का एकनिष्ठा से पालन करने वाले के उदाहरण अधिक संख्या में किन्तु द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, कृष्ण विदुर ऐसे भी चरित्र है जो वर्ण और आश्रमों से विपरीत कार्य करते दिखाई देते हैं इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस युग तक यह व्यवस्था कुछ स्थित हो रही थी।

शोधकर्त्री ने पुरूष के दृष्टि साथ ही साथ नारी दृष्टि से भी महाभारत का अध्ययन विश्लेषण किया है कन्या, पत्नी, माँ, बहिन, दासी, सखी, उसके विविध रूप दिखाई देते हैं। महाभारत में नारी के हीन और श्रेष्ठ दोनो रूपों की चर्चा है। स्मृतियों में नारी को श्रद्धास्पद कहा गया हैं इसका उल्लेख भी महाभारत में हैं किन्तु नारी के प्रति हीन संकीर्ण, क्षुद्र मनोवृत्तियों के उल्लेख भी महाभारत में उपलब्ध हैं। ऐसे अवसर प्रायः कामाविभूत स्वेछेणी स्वच्छन्द आचरण करने वाली नारी को लेकर टिप्पणियाँ की गयी हैं। प्रायः नारी की रक्षणीय, सहधर्मिणी, रूप की चर्चा है। सदाचार त्याग वत्सल्यता पातिकवृत्त सुगृहिणी नारियों को समाज मे सम्मान प्राप्त था। वह गृहलक्ष्मी और समाज के आधार निर्माण की आधारशिला थी। शोधकर्त्री ने विभिन्न सामाजिक संरचना तथा उसे शुद्रण करने के लिये पारिवारिक या सामाजिक वर्गीय रूप में गठित इकाईयों की चर्चा करने के साथ ही साथ इस युग के जन सामान्य के रहन–सहन भोजन व्यवस्था की चर्चा की है। जिसमें जौ, धान, गुड़, घी, दूध, तिल कूप ,शाक, पेय पदार्थ शक्ति बलवर्धक भोजन मांस सुरापान की चर्चा की है तथा अभक्ष्य रूप में वर्ण विरूद्ध भोजन की विस्तृत चर्चा कर राजा या उच्चवर्ग

एवं निम्नवर्ग के भोज्य वस्तुयों की सूची प्रस्तुत की है। समाज को आचरण बध्य विद विहित नियमों से युक्त बनाने के लिये शिक्षा व्यवस्था के महत्वपूर्ण योगदान की चर्चा करते हुये आश्रमों में वेद, वेदांग, वार्ता, अन्यवीक्षकी दण्डनीति, शिक्षण योग्य विषय कहे गये हैं। वेदां का स्वाध्याय क्षत्रियों के लिये क्षात्र धर्म संबंधी शास्त्रों का अध्ययन तथा विश्वामित्र, वशिष्ठ, परशुराम, व्यास, आदि ने आश्रमों में शस्त्र शास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी। महाभारत के अध्ययन से यह बात समक्ष आई है, कि उस युग में श्रेष्ठ जन तथा राजपुत्रों के लिये नगरीय शिक्षा शिष्यों की परीक्षा के आयोजन होते थे। नारियों को ग्राहस्थिक नैतिक नियमों की शिक्षा दी जाती थी। जन सामान्य को शिक्षत करने के लिये ऋषि मुनि तपस्वी विशिष्ट विद्वान धर्म नीति अध्यात्म विद्या का उल्लेखकर उन्हें शिक्षित करते थे। आश्रमों में रहने वाले छात्रों को गुरूमुख से ज्ञान प्राप्त कर गुरू दक्षिणा भी देनी पड़ती थी। शिक्षा के क्षेत्र में राजाओं के योगदान की चर्चा भी महाभारत में हैं इस समग्र विश्लेषण को यदि संक्षिप्त रूप में विहंग दृष्टिपात करते हुये यह कहा जा सकता हैं कि –

1. सामाजिक संरचना के रूप में वर्ण व्यवस्था पारंपिरिक रूप में दैवी उत्पत्ति सिद्धांत पर विश्वास करती थी। महाभारत कालीन समाज में प्रत्येक वर्ण के विधि निषेध कर्मों के उल्लेख तो प्राप्त होते ही हैं किन्तु ऐसे भी उदाहरण प्राप्त है जिन्होनें इनके विपरीत आचरण कर समाज में अपना स्थान बनाया हैं वर्णों के साथ ही विभिन्न जातियों का निर्माण हो रहा था जो अनुलोम–प्रतिलोम विवाह के कारण थी अतः महाभारत युग वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से उदारता का युग कहा जा सकता है।
2. चतुराश्रम व्यवस्था के सिद्धांतों का उल्लेख कर उसके व्यवहारिक पक्ष पर भी प्रकाश व्यास ने डाला है किन्तु अपवाद स्परूप ऐसे अनेक व्यक्तियों को सम्मानीय और आदर्यमाना गया है जिन्होंने इस व्यवस्था का उल्लंघन किया है।
3. वर्ण और आश्रम व्यवस्था की उदारता नारी विषयक दृष्टि से भी मिलता है।

पुरुष एवं नारियों के सामाजिक वर्गीय रूपों की चर्चा महाभारत में आदर्श और व्यवहार रूप में की गयी है। ऐसा लगता है कि महाभारत काल का यह समाज उन्नतिशील तो समाज था ही वैचारिक उदारता वैयक्तिक गुणों को अधिक महत्व देने वाला था।

4. महाभारत में ब्रम्हचारी से लेकर शूद्र तक के खान पान कर्म द्वारा संरक्षा प्रदान करने की स्थितियों का उल्लेख है राजाओं द्वारा कूप, तडाग, कुल्यन, बन्धा बनाबाकर क्षेत्र सिंचन का कार्य किया जाता था ऐसे स्थानों को देवमातृक नदीमातृक प्रकृतिमातृक नाम दिये गये हैं। धान्य, जौ, सरसों, कोदो, तिल, उड़द, मूंग, गेंहू आदि उपजों का वर्णन कर राजा द्वारा संरक्षा प्रदान करने के उपलक्ष्य में राजस्व रूप में धन या धान्य लिया जाता था।

कृषि के पश्चात् पशुपालन दूसरा महत्तवपूर्ण ग्राम्य सभ्यता का आर्थिक स्रोत था गोपालन उसकी महिमा गौ दान इत्यादि के अनेक स्थल महाभारत में मिलते है। पशुओं की सेवा शासक द्वारा अभिज्ञान अंकित करने की बात भी महाभारत में की गयी है। गोपाल गोप, गवादध्यक्ष, इत्यादि अधिकारी गौशालाओं की सुरक्षा के लिये राजा द्वारा नियुक्त होते थे। पशुओं के चारागाह पशुक्षय तथा उनके चिकित्सा सुविधा की महाभारत में वर्णित है। नागर व्यवस्था में आर्थिक स्रोत व्यवसाय पर आधारित थे यद्यपि वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के कर्म और अर्थोपार्जन के साधनों का उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। फिर भी यहाँ यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि वर्णिक वर्ग सुदूरवर्ती देशों में जल मार्ग या स्थल मार्ग द्वारा जाकर अपना व्यवसाय करते और एक निश्चित लाभांश के आधार पर उस देश के राजा को उपहार देते थे। ऐसे अनेक सार्थवाहों अथवा नदी समुद्र में डूबने की भी चर्चा महाभारत में हुयी है। वस्त्र, महारत्न जंगली जीव जन्तुओं के सींग चर्म व्यवसायों के लिये उपयुक्त वस्तुयें थी तिल नमक, दही, दूध, तेल घी, गुड़ आदि

व्यापार के लिये निषिद्ध कहे गये हैं। वेदेशिक व्यापार की विस्तृत चर्चा महाभारत में उपलब्ध होती है। व्यापार के साथ शिल्पकला भी आजीविका का प्रमुख साधन था इस युग में शिल्पकर्म बहुआयामी बन गया है ब्राम्हणों के यज्ञ कर्म के उपादान राजान्य वर्ग के लिये प्रसाद, महल, देवालय, क्षत्रियों के लिये शस्त्रार्थ रथ का निर्माण स्त्रियों के लिये वस्त्राभूषण इसी क्षेत्र में निबद्ध हैं। अस्थि एवं चर्म शिल्प की भी चर्चा महाभारत में यत्र तत्र वर्णित है। द्रोपदी स्वयंवर के राज्याभिषेक या लाक्ष्यागृह प्रसंग में वास्तुशास्त्र पर आधारित भव्य भवनों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। गांव में मकान बनाने के लिये काष्ठ कर्म कृषि यंत्रों के निर्माता इसी इन्ही शिल्पियों का काम था। तात्पर्य यह है कि महाभारत में आर्थिक क्षेत्र थे जो भी विवरण उपलब्ध होते हैं। इनसे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि

1. उस समय ग्राम्य एवं नगर सभ्यता में संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी इस कारण परिवार का प्रत्येक सदस्य अर्थोपार्जन में संलग्न रहता था।
2. यह अर्थोपार्जन मुख्य रूप से वर्ण व्यवस्था पर आधारित थी, ब्राम्हण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र स्ववर्णानुसार कर्त्तव्यगत् कर्म कर स्वजीविका जीविकोपार्जन करते थे। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था और अर्थ के संयोजन से पारिवारिक इकाई लघुत्तम इकाई थी। जो आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबित थी।
3. ग्राम्य सभ्यता कृषि पशुपालन पर आधारित थी। अतः एतद् संबंधी साधनों यंत्रो उपकरणों, सहायकों और कार्यों के साथ राजस्व रूप में धन देने का उल्लेख महाभारत में हैं।
4. नागर सभ्यता व्यवसाय शिल्प कर्म मनोरंजन पर आधारित थी। भवन निर्माण ,प्रसाधन वस्त्र देश अन्दर और बाहर व्यापार तथा इस संबंधी उपकरण नियम, वस्तु द्रव्य पदार्थ आदि का सैद्धांतिक और व्यवहारिक चित्रण महाभारत में उपलब्ध हैं

5. सामान्य जनता के जीविकोपार्जन की भी चर्चा महाभारत में है ऐसे क्षेत्रों में सेना वस्त्र निर्माण प्रसाधन कला की दक्षता तथा अभिनय आदि क्षेत्र आते हैं। भिक्षाटन भी इसी क्षेत्र का साधन है जिसे कहीं महिमा मंण्डित किया गया तो कहीं निदिंत किया गया है।
6. कहना नही होगा कि स्वधर्मानुसार जीवन यापन करना अपवाद स्वरूप वृत्तिपरिवर्तन तद्‌युगीन आर्थिक सुदृढता उच्च, मध्य एवं निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण महाभारतकार ने किया है।

चतुर्थ अध्याय महाभारतयुगीन राजनीतिक दशा दिशा से संबंधित है जिसके प्रारंभ में यह कहा गया है कि मनुष्य बौद्धिक प्राणी है। पशुओं से हीन शक्ति होने के कारण उसने ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था निर्मित की जिससे उसका वर्चस्व श्रेष्ठ सिद्ध हुआ सृदृढ समाज के संचालन में सामाजिक संगठनों की भांति राजनीतिक व्यवस्था आवश्यक होती है यह महाभारतकार की उदघोषणा है। महाभारतकार ने शासन व्यवस्था के केन्द्र कमें राजन्य वर्ग को रखकर उसे दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की पुष्टि की है। इस प्रकार राजा प्रजा के धर्माचरण सामाजिक सुव्यवस्था के संचालन का सूत्रधार होता है। वह मानव संस्कृति रक्षक कहलाता है। महाभारत में अराजक जनपद राजतंत्र और गणराज्य तीन प्रकार की शासन व्यवस्थाओं का विवरण प्रस्तुत करता हैं अराजक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्तिशाली ही शासन का सूत्रधार होता था। गणराज्यों में गणों को मूल इकाई मानकर उसमें प्रजा प्रत्येक वर्ग से प्रतिनिधि चयन कर सभा निर्मित की जाती थी गण मुख्य राजा कहलाता था। मालव, द्रविड़ यौवधेय, गणतंत्र शासन प्रणाली के उदाहरण है। अधिकांश उदाहरण राजतंत्र के हैं। यह पद उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होने वाला है राजा को ईश्वर का अंश मानकर उसके अनेक गुणों की चर्चा विस्तृत रूप से की गयी है। उसके साथ ही मंत्री कोष, दण्ड मित्र, क्षेत्र या नगर आदि अंगों की चर्चा

मनुस्मृति में मिलते जुलते ढंग से महाभारत में वर्णित है। राजा की सहायता तथा निर्णय हेतु मंत्री वर्ग सभासद उस भूमि की रक्षा हेतु सैनिकों उनके शस्त्रार्थो सेनापतियों के विभिन्न पद दुर्ग नगर की व्यवस्था युद्ध और उसके नियम विदेशों में प्रतिनिधित्व के लिये राजनयिकों की नियुक्ति आंतरिक और वाह्य सुरक्षा हेतु गुप्तचर व्यवस्था राजकोष के स्रोत एवं न्याय एवं दण्ड नीति इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रमुख तत्त्व हैं जिनका विश्लेषण किया गया है। इसका सार यह है कि–

1. समाज को संरक्षा शासन व्यवस्था हेतु किसी न किसी तंत्र की आवश्यकता होती हैं तंत्र पूर्ण रूपेण राजा कहलाता था जो शासन व्यवस्था का सूत्रधार प्रजा के धर्म, अर्थ आदि की रक्षा करता था इसी कार्य से राजा को त्रिवर्ग की प्राप्ति होती थी सेवा और उसके शक्ति प्रदर्शन वाले कर्मों में क्षत्रिय तथा अन्य सहायकों में शूद्रो की सहातया ली जाती थी। राजा का पद चाहे वंश परंपरागत प्राप्त हो या अन्य पद्धति से चयन किया गया हो प्रजा रंजन उसका मुख्य कार्य था।

2. राजा निरंकुश न हो जाये तथा उसके उचित निर्णय हेतु ब्राम्हणों को मंत्री पद पर नियुक्त किया जाता था कुलीन शिक्षित सर्वशास्त्र सान्धि विग्रहक, कला में श्रेष्ठ जितेन्द्रिय ब्राम्हण मंत्री होते थे। इनकी संख्या, 3, 5, 8 होती थी इसके साथ ही परिषद में 4 ब्राम्हण, 8 क्षत्रिय इक्कीस वैश्य, 3 शूद्र और एक शूत की नियुक्ति की जाती थी। इन्हे विभिन्न विभागों से संबंधित कार्य दिये जाते थे। इस मंत्री और आमात्य से विचार कर ही राजा शासन व्यवस्था, न्याय दण्ड पुरूषार्थ कार्य इत्यादि कर्म संचालित करता था।

3. राजा को उत्तराधिकार रूप में प्राप्त क्षेत्र का विभाजन भी राज्य अधिराज्य, महाराज्य, सार्वभौमराज्य, आदि का वर्णीय कारण राजसत्रा के परिप्रेक्ष्य में लिया गया है इस क्षेत्र की आकान्ताओं से सुरक्षा और आन्तरिक व्यवस्था प्रमुख

राजकर्म था।

4. राजा उसके परिवार और क्षेत्र के साथ सेना के अधिवास हेतु दुर्ग व्यवस्था का उल्लेख है राजा की राजधानी को दुर्ग रूप दिया गया है साथ ही क्षेत्र के महत्व को स्थलों में भूमि की प्रकृति के अनुरूप अष्ट विधि दुर्गों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। इन दुर्गों का स्थापत्य निवास योग्य मनुष्यों की संख्या रक्षणीय वस्तुओं की सूची भी महाभारत में उपलब्ध है।

5. राजा के लिये एक कोष की व्यवस्था की जाती थी शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति इसी कोष से की जाती थी। राजा के आर्थिक स्रोतों में प्रजा द्वारा राजस्व संग्रह, कर व्यवस्था, समय–समय पर मित्र अधीन राजाओं से प्राप्त उपहार सैन्य आक्रमणके समय शत्रु के कोष को अधीन कर अपने कोष की वृद्धि विदेशियों से उपहार या रक्षा के प्रतिदान में प्राप्त दान राजा के प्रमुख आर्थिक स्रोत थे। षडांश या दशमांश राजस्व रूप में निहित निश्चित थे।

6. शासन व्यवस्था आक्राताओं से रक्षा या राज्य विस्तार हेतु किए गये आक्रमण के लिये सेना शासन व्यवस्था का अभिन्न अंग है। जिसमें पैदल से लेकर रथ, अश्व, गज, तथा इनके सहायकों की निश्चित संख्या अक्षौणिक कहलाती थी। इस सेना का भरण–पोषण राजा द्वारा होता था सेना में क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त अनेक कार्यों के लिये शूद्रों की सहायता ली जाती थी। सेना को सजग बनाने के लिये युद्धाभ्यास कराये जाते थे, और राज्य विस्तार हेतु आक्रमण अथवा यज्ञ कर सैन्य शक्ति का प्रदर्शन किया जाता था। महाभारत तो युद्ध का प्रमुख शास्त्र है अतः इसमें युद्ध संबंधी सूक्ष्म से सूक्ष्म नीतियों की आवश्यक चर्चा समय–समय पर हुई है। युद्ध संबंधी नैतिक नियमों का विस्तृत वर्णन महाभारत में प्राप्त होता है, विभिन्न अस्त्र–शस्त्रों में से अंकुश कुलिश, गदा चक्र तोमर, धनुष–बाण, दिव्यास्त्र आदि का उल्लेख महत्वपूर्ण से विहित

है। युद्ध में विजय प्राप्ति का प्रमुख कारक तत्व व्यूह रचना मानी गयी है। अनुशासित सैन्य पशु पक्षी या आकार रूप मुें खड़े होकर विपक्षी से युद्ध करते हैं। व्यूह रचना का और उसके भेदन की कला भी महाभारतमें वर्णित है।यद्यपि महाभारत वैयक्तिक शक्ति की महत्ता अधिक देता है। फिर भीनिर्णायक कारक तत्वों में अस्त्र शस्त्र एवं व्यूह कला प्रमुख है। युद्ध पूर्व शान्ति के प्रयासों को संधि के अन्तर्गत माना गया है। और यह कार्य दूत द्वारा सम्पन्न होते थे।

7. कोई भी राजा तब तक श्रेष्ठ कुशल प्रशासक नही माना गया है। जब तक वह अपने चारो तरफस्थित राज्यों से सौहार्द बनाकर नही रखता है यही विदेश नीति या राजन्य सिद्धांत कहलाती है। और नीतियों में साम, दाम, दण्ड भेद प्रमुख नीतियां मानी गयी है। अपने चतुराधिक राजाओं से मित्रबनाकर मित्रता कर उसे अधीस्थ या करदराज बनाकर देशके अन्दर शांति स्थापित की जाती थी। बडे राज्यों का यह धर्म था कि अधीन राज्यों की रक्षा करें किन्तु उनके आन्तरिक प्रशासनों में कोई हस्ताक्षेप न करें यह सिद्धांत मंडल सिद्धांत कहलाता है। विदेशियों से युद्ध करने के अनेक उदाहरण महाभारत में प्राप्त होते हैं। कहीं यह राज्य विस्तार के रूप में तो कहीं ये विवाह आदि के रूप में देखने को मिलता है। अर्जुन कर्ण की दिग्विजय अभियान अनेक देशों से महाभारत युद्ध में सम्मिलित होने की घटनायें रुक्मणि सुभद्रा अपहरण की घटनायें इसी का संकेत करती हैं। गुप्तचर व्यवस्था युद्ध एवं शांति दोनों कालों में अपना महत्व रखते थे। शत्रु मित्र का पता, राज्य के अंदर राजा के प्रति आक्रोश का परिज्ञान गुप्तचरों से ही होता था। इनकी नियुक्ति इनके कार्य क्षेत्र और इनकी विशेषताओं का उल्लेख महाभारत में हुआ है।

8. शासन व्यवस्था न्याय दण्ड और पुरुस्कार पर आधारित होती है। महाभारत में न्याय के लिये धर्म शब्द भी प्रयुक्त है राजा सामाजिक धार्मिक, नीति के

अनुसार प्रजा पर शासन करता था। व्यक्तिगत या समूहबद्ध अपराधों पर वह नीति के अनुसार दण्ड की व्यवस्था करता था। इस दण्ड और न्याय व्यवस्था के मूल में ईश्वरीय विधान की चर्चा कर प्रतिवादी को अपनी बात कहने के लिये पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता था। दण्ड के रूप कठोर वचन कारागार, धन, दण्ड, प्राण दण्ड अंग भंग आदि का विधान था। तात्पर्य यह है कि महाभारत में उल्लिखित शासन व्यवस्था किसी भी राष्ट्र की शासन व्यवस्था का आदर्श, सैद्धांतिक और व्यवहारिक रूप हो सकती है।

पंचम अध्याय में महाभारतकालीन समाज की धार्मिक स्थितियों का विश्लेषण किया गया है। धृ धातु से निर्मित धारण करने योग्य धर्म का अर्थ प्रस्तुत करते हुये उसके लक्षणों में धृति क्षमा, दम शौच इन्द्रियनिग्रह सत्य अक्रोध, अहिंसा, दान आदि सामान्य धर्म के लक्षण बताये गये हैं, और इनकी व्यावहारिक व्याख्या करने के लिये महाभारत के उदाहरण दिये गये है। वस्तुतः मनुष्य को तीन प्रकार के धार्मिक कृत्य संपादित करने पडते हैं।

1. सामान्य धर्म
2. वैयक्तिक धर्म
9. आपद धर्म प्रारम्भ में महाभारत को धर्म शास्त्र की संज्ञा अभिहित करने वाले स्थलों की समीक्षा कर मनुस्मृति प्रोक्त सत्य, दम, इत्यादि धर्म के दस लक्षणों का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया गया है। महाभारतकार की मान्यता है न हि मानुषात श्रेष्ठतम ही किंचित मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ भी नही इसलिये महाभारत में धर्म के सभी रूप दिखाई देते है। सामाजिक धर्म में नैतिकता मानवीयता आदि गुणों का समावेश होता है। वैयक्तिक धर्म के अन्तर्गत आस्था विश्वास पूजा पद्धति पर्व उत्सव धर्म कृत्य संपादित करने वालों के लिये स्वर्गलोक अधार्मिक लोगों के लिये नरक लोक इत्यादि परिकल्पनायें आती है।

महाभारत में अनेक देवी देवताओं का उल्लेख हैं जिस प्रकार वेदों में यज्ञ के समय अनेक प्राकृतिक शक्ति के प्रतीकों इन्द्र, मारूत, पूषन, पौमान इत्यादि आहवान कर उनसे योग क्षमा की कामना की जाती थी, इसी प्रकार महाभारत में सूर्य चन्द्र, मारीच, विष्णु, शिव आदि पर आस्था व्यक्त कर उनकी उपासना की परिकल्पना की महाभारत में प्राप्त है। जिसमें 3 वसु, 11 रूद्र, 12 आदित्य, प्रजापति एवं इन्द्र का उल्लेख है। इसी तरह एक देवता या ईश्वर को विभिन्न रूपों में मानकर उसकी उपासना या पूजा का विधान भी महाभारत में मिलता है वैदिक परंपरा के अवशेष शक्ति प्रतीकों में अग्नि, इन्द्र ऋभुगण कुबेर विष्णु, यम, शिव, रूद्र, श्रीकृष्ण सूर्य गणेश इत्यादि देवताओं की उपासना स्तुतियाँ तथा कामनाओं की पूर्ति हेतु किये गये प्रयासों का विवरण महाभारत में मिलता है। देवों के साथ देवियां इस शक्तियों अभिन्न अंग स्वीकार की गयी हैं महाभारत में गंगा, दुर्गा, उसके अष्ट रूप श्रीदेवी, आदि देवी शक्तियों की स्तुतियां स्मरण पूजा उपासना का विधान कही सिंद्धांत रूप में तो कहीं किसी उपाख्यान के माध्यम से ही व्यक्त किया गया है।

वैदिक काल में कर्मवाद की प्रबलता थी, जिसका विकसित रूप महाभारत में मिलता है। जिसमें कहा गया है कि कर्म करने से मनुष्य बच नही सकता है। अतः मनुष्य को निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये महाभारत का ही एक अंग श्रीमदभगवत गीता तथा महाभारत में प्राप्त उपाख्यानों से यह कर्म सिद्धांत कर्मयोग के रूप में तत्यक्ष गोचर होता है। जिसकी तीन विशेषतायें महाभारत में वर्णित है।

1. कर्मचक्र की अनिवार्यतां
2. धर्मचक्र से पलायन धर्म की कायरता है।
3. धार्मिक कर्म करते हुये मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

कर्म से पलायन करने वाले अर्जुन को उपदेश करते हुये कृष्ण ने कर्म संन्यास में ही आत्म सुख की बात कही है। मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप कर्म

संपादित करता हैं अतः निष्काम कर्म योगी ही समत्वयोग को प्राप्त कर विगत स्प्रः हो जाता है। महाभारत के संपूर्ण अध्ययन से यह बात अहस्तामलकवन स्पष्ट हो जाती है कि कमवाद अत्यन्त पुराना सिद्धांत था जिसका प्रतिपादन महाभारत में हुआ है। इसी परिप्रेक्ष्य में ज्ञान और भक्ति की भी संक्षिप्त चर्चा कर इनकी प्रबलयता के संक्षिप्त उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं कर्म एवं भक्तिवाद के बाद वैयक्तिक अनेक धार्मिक कृत्यों का विवरण महाभारत में मिलता है जिसमें दान धर्म की विशेष महिमा गायी गयी है। परलोक और इहलोक के लिये दो प्रकार के दानों का स्वरूप निरूपित है। सत्य पुरूषों से परलोक की प्राप्ति और असत्य पुरूषों लौकिक फल की चर्चा कर दान देने योग्य पात्रों के गुणों की चर्चा महाभारत में है। इसी दान के गौदान, स्वर्णदान, धन दान, कन्यादान, शरीरदान, के महात्म्य गायन के लिये शिवि प्रतरदन, अम्बरीष, सावित्री, परशुराम, लोमपाद, प्रसेनजित के उपाख्यान प्रस्तुत किये गये है। इसी प्रकार उत्तम, मध्यम और अधम कोटि के दान स्वरूप की चर्चा महाभारत में हैं। महाभारत की अनेक उपकथाओं का विश्लेषण कर धर्म मूलक अर्थमूलक, भयमूलक, कामना मूलक, दयामूलक दान के भेद माने गये है। और इनकी योग्यता और प्रयोग संबंधित विधि निषेधों की चर्चा इसी परिप्रेक्ष्य में की गयी है। वैयक्ति धर्म के अन्तर्गत अनेक धार्मिक संस्कार अन्तरभुत माने जाते हैं, क्योंकि भारतीय संस्कृति संस्कार प्रदान है। वेद ब्राम्हण, उपनिषद, पुराण धर्मशास्त्रों में मनुष्य को सभ्य भद्र, आर्य और श्रेष्ठ बनाने के लिये संस्कारों की महिमा उल्लिखित है। विभिन्न स्मुतियां षोड़श संस्कारों की मान्यता देती है इनमें वे महाभारत में गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण चौलकर्म एवं उपनयन संस्कार, विवाह, अन्त्येष्टि संस्कार के कृत्यों का वर्णन महाभारत में है। वैदिक धार्मिक कृत्यों के विकास का रूप अवतारवाद और भक्ति भावना में हुआ है। जिसके अनेक सूत्र संक्षिप्त या विस्तृत रूप में महाभारत में उपलब्ध होते हैं वैदिक काल वीरपूजा, का युग कहा जाता है। इस परंपरा का उल्लेख महाभारत में हुआ है। क्षत्रियवीरों की वंशावलियां

उनकी यशोगाथा का काव्य महाभारत का पूर्व रूप 'जय' काव्य रहा होगा क्योंकि इसमें वीरपूजा के अनेक उपाख्यान इसमें मिलते हैं यही वीर पूजा आगे चलकर अवतारवाद के रूप में विकसित हुयी महाभारत में युग धर्म की चर्चा करते हुये धर्म रक्षा हेतु ईश्वर के अवतार की चर्चा है। गीतोक्त यदा-यदा ही धर्मस्य सम्भाविनी युगे युगे तक की चर्चा अवतारवाद की ही प्रतिष्ठा करता हैं महाभारत के नाराणोपख्यान में विष्णु के दशावतरों की चर्चा की बात जिसमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण, कल्कि की चर्चा है। अवतार प्रयोजनों की व्याख्या गीता के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी मिलती है। इसके अतिरिक्त पांचरात्र सिद्धांत के अनुसार अवतार के चतुरव्यूहात्मक रूप की भी चर्चा है। जिसमें वासुदेव शंकर्षण, प्रद्युम्न की चर्चा है। महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व में महाभारत विभिन्न पात्रों को विष्णु में विलीन होते हुये कहा गया है। जो अवतारवाद का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं

वैदिक परंपरा में प्रचलित यज्ञ अनुष्ठानों की भी चर्चा है वयैक्तिक धर्म के रूप में की गयी है। श्रीमदभगवतगीता में सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञों का विस्तृत वर्णन है। राष्ट्ररक्षा, साम्राज्य विस्तार और संरक्षण हेतु अश्वमेघ यज्ञ की विस्तृत चर्चा महाभारत में है। वैक्तिक धर्मों में तपस्या धार्मिक तीज त्यौहार पर्व और उपवास विधान भी आते हैं। कामनाओं की पूर्ति हेतु व्रत उपवास तथा फल प्राप्ति और महात्म्य का उल्लेख पौराणिक शैली में किया गया है। वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ, आश्विन, इत्यादि विशिष्ट मासों की विशिष्ट तिथियों के व्रत, पर्व और उनसे प्राप्त उत्तम भोगों की चर्चा महाभारत में मिलती है। इस अध्याय के समापन के परिप्रेक्ष्य में लोक परलोक स्वर्ग नरक आदि की परिकल्पना पर प्रकाश डाला गया है। वैदिक वांङ्मय से विकसित स्वर्ग नरक जीव की यात्रायें सदाचार और कदाचार पर आधारित हैं। स्वर्ग नरक की यह कल्पना परिवर्तित पुराणों और स्मृतियों में विस्तृत रूप से मिलती है। जिसका प्रभाव आज भी हिन्दू समाज में परिलक्षित होता है। शोधकर्त्री ने धार्मिक क्रियाकलापों की समीक्षा कर इनसे राजनीति क्षेत्र में पड़े प्रभावों

का मूल्यांकन करते हुये लिखा है कि वयैक्तिक और सामाजिक कार्यों का शासन नीति पर प्रभाव पड़ता है इसी प्रकार राजा द्वारा संपादित यज्ञ एवं धार्मिक अनुष्ठानों का प्रजा में शुभ प्रभाव पड़ता है प्रजा नृप नीति के अन्तर्गत किए गये धार्मिक कृत्यों का अनुसरण कर राजा की कृपा प्राप्त करने के साथ ही परलोक की भी प्राप्ति करती थी इससे शासन व्यवस्था सुगठित होती थी। राजा प्रजा पर नीति पूर्वक शासन करता था इस प्रकार धामिर्क कृत्यों से समाज में समता समानता, सौहदार्य, एवं न्याय विकसित होकर राज्य को सम्मुन्नित बनाते हैं निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता हैं कि–

1. मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ प्राणी घोषित कर मानव धर्म के अनेक विधानो और रूपों की चर्चा महाभारत में हुयी है।
2. समाजित या धर्म के सामान्य लक्षणों में धृति क्षमा, दम, शौच दशादिक लक्षणों के उदाहरण सें एतद् सम्बन्धि उपाख्यानों की संरचना व परिकल्पना की गई है।
3. वैक्तिक धर्मो में देवी देवताओं के स्वरूप की महिमा, पूजा, उपासना ,स्तुति, फल कामना संस्कार व्रत तप श्राद्ध तपर्ण, तीज, त्योहार, अवतार, भक्ति भावना का वर्णन सिद्धांत या उपकथाओं के माध्यम से किया गया है।
4. प्रजा या राजा द्वारा वर्णाश्रम विहित धार्मिक कृत्यों के साथ ही कामनाओं की पूर्ति के लिये दान, यज्ञ आदि की महिमा महाभारत के अनेक स्थलों में मिलती है।
5. श्रेष्ठ धार्मिक कृत्य करने पर स्वर्ग एवं मोक्ष मिलता है।
6. पाप कर्म या कदाचार या निषिद्ध कार्य करते हुये नरक में पाने वाले कष्टों का विवरण भी महाभारत में मिलता हैं
7. आपद् धर्म विशिष्ट परिस्थितियों में प्राण रक्षा के लिये किये जाते थे।

8. धार्मिक कृत्यों से समाज में शुभ प्रभाव पड़ता है। समाज के नागरिक सभ्य श्रेष्ठ सदाचारी बनते हैं।

8. प्रजा एवं राजा धार्मिक दृष्टि से बंधे होने के कारण जहाँ शासन व्यवस्था आदर्श रूप को प्राप्त करती है वहीं प्रजा भी सुख समृद्धि युक्त होता है।

10. महाभारत कार की यह उत्पत्ति सार्थक प्रतीत होती है, कि राजा अपना वयैक्तिक धर्म कृत्य संपादित कर शासकीय कार्यों को निरपेक्ष रूप से संपादित करने में समर्थ हो सकता है।

षष्ठ और अन्तिम अध्याय महाभारतकालीन दार्शनिक स्थिति से सम्बन्धित है। प्रारम्भ में दर्शन शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये लिखा गया हैं कि इसका संबंध आत्म निरीक्षण या मानव जीवन के गहनतम प्रश्नों से संबंधित हैं। उपनिषदों में आत्मदर्शन को ही महत्ता प्रदान की गयी है और इसे पराविद्या कहा गया है। महाभारत में आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के रूपों का स्पष्ट उल्लेख है। महाभारत में वेदों का बहुदेववाद उपनिषदों के तत्व ज्ञान तथा साधना प्रर्वन प्रणालियां एवं अद्वैतवाद के नवीन रूप का उल्लेख हैं वस्तुतः महाभारत का दर्शनिक दृष्टि कोण यह है कि युगीन जीवन को एक चिंतन सूत्र में बांधकर सामाजिक जीव में ऐसी शैली को व्यहवृत करना है। जिसमें जीव मात्र का कल्याण हो सके दर्शन में ब्रम्ह, जीव, जगत, माया, और मोक्ष प्रमुख तत्त्व माने गये है। इसी आधार पर महाभारत का मूल्यांकन करते हुये उसके एतद् विषय वस्तुओं की चर्चा की गयी है। वैदिक ब्रम्ह के अन्तर्यामी और नियन्ता की चर्चा है। वह सत्य स्वरूपा वक्ता वक्त और सनातन हैं विष्णु वासुदेव श्रीकृष्ण के रूप में ब्रम्ह के अवतारी रूप की चर्चा महाभारत में है। इस दिशा में गीता का विशेष योगदान है। जहां ब्रम्ह को अविनाशी अक्षर, पुरातन, जगताधार, विभु जीवों की उत्पत्ति पालक संहर्ता कहा गया है। उसके नित्य एवं नैमित्तिक की भी चर्चा व्यूहात्मक रूप में की गयी है। आत्मा का स्वरूप समझने के लिये उसकी अवधी और अवस्थाओं पर प्रकाश डालते हुये कहा

गया है। किये आत्मा अजर और अमर है आत्मा ही शरीर धारण करके जीव रूप में परिवर्तित होती है। महाभारत के शांति पर्व अश्वमेधिक पर्व और गीता मे जिस आत्म तत्त्व काविवेचन है। उसका निष्कर्ष यह है कि स्थूल देह या लिंग शरीर में रहने वाला तत्त्व आत्म तत्त्व के नाम से जाना जाता है यही आत्म तत्व ब्रम्ह या परम तत्व में विलीन होता है। तत्व मोक्ष कहलाता है आत्मा शरीर को धारण कर जहाँ रहती हैं उसे ही हम जगत कहते है। यह संसार ईश्वर कृत्य है। स्थावर, जंगम, जड़ चेतन से युक्त यह जगत एक ओर परमात्मा की कृति है तो दूसरी ओर उसका स्वरूप भी है क्योंकि यह विनष्ट होकर परमतत्व में ही विलीन होता है। इस जगत का निर्माण महाभारत के अनुसार महातत्त्व अहंकार, शब्द तन्मात्रा पृथ्वी जल अन्न, वायु इत्यादि से हुयी है। इस संबंध में नारद और अस्ति के सिद्धांतो का प्रतिपादन हुआ है। जहां कहा गया है कि परमात्मा प्राणियों की वासनाओं से संपूर्ण भूतो की सृष्टि करता है। पंचेन्द्रिया इसके मूल में हैं और इसका निर्माता बह्म है इस प्रकार यह जगत विकारवाद के सिद्धांत की पुष्टि करता है। जगत का लय ब्रम्ह में होता है। आत्मा और परमात्मा के संबंधों का आधार माया को कहा गया है क्योंकि यह माया ही जीव को मोहित कर नाना विध कर्म संपादित कराती है। इसी के रज्जुबंधन में आबद्ध जीव हृदयस्थ ईश्वर को पहचान नही पाता जीवात्मा का चर्म चरम काम्य है। महाभारत में अंश और अंशी के मिलन को ही मोक्ष कहा गया है। मोक्ष के साधनों की विस्तृत चर्चा महाभारत में हुई है। संसार त्याग और निष्क्रीयता की वैराग्य या निवृत्ति मार्ग कहा गया है। दूसरा मार्ग प्रवृत्ति मार्ग हैं जिसमें धर्माचरण सत्य और विवेक महत्वपूर्ण साधन हैं इस परमगति का विस्तृत वर्णन गीता और महाभारत के अनेक उपकथाओं में किया गया है। वस्तुतः मोक्ष प्राप्त करने के कुछ सोपानों की चर्चा महाभारत में हुयी है। जिसमें आत्म संयम और आत्म विजय प्राथमिक सोपान है। नीति पूर्वक जीवनयापन करते हुये काम, क्रोध, मोह इत्यादि कुप्रवत्तियों पर विजय पाई जा सकती है। इन्द्रिययादि वासनाओं पर संयम करना

ही आत्म संयम या आत्म विजय है। तदोपरान्त आत्म चिंतन को ही स्थान मिला है। आत्म शुद्दि और चिंतन को गीता में व्यवहारिक जीवन दर्शन मानकर जिस आचरण पद्वति का निर्माण किया गया। इस संबंध में महाभारत की अपनी मान्यता हैं कि महाभारत कार कहते है कि इन्द्रियादिक विकारों पर विजय प्राप्त कर चित्त को शुद्व किया जाता है। विषयों की आत्यन्त्रिक निवृत्ति के उपरान्त ही आत्म विजय जीव मुमुक्ष पथ का पथिक बनता हैं इस प्रकार महाभारत के उपाख्यानों में निस्प्रीह अवस्था को प्राप्त कर मोक्ष पद के प्राप्त होने की चर्चा महाभारतकार ने की हैं महाभारत में दर्शन के इस स्वरूप को प्रस्तुत कर शोधकर्त्री ने धर्म चक्र परिवर्तन की चर्चा की है। जो कि राजा अपने राज्य में न्यास पूर्वक शासन् करता हुआ अपनी जनता को उच्च भूम में पहुँचाने के लिये एक निशचित उपासना पद्धति रहित धर्म का प्रतिपादन करता है। महाभारत में आस्तिक दर्शन के साथ ही साथ कुछ विशिष्ट दर्शनों का भी उल्लेख है। जिसमें उत्तरमीमांस या वेदान्त महत्वपूर्ण है। सनत्सुजात पर्व में इसी अद्वैत वेदान्त के साथ यत्र–तत्र द्वैतवाद पांचरात्र सिद्धांत और उसकी उपासना पद्धति के फुटकल प्रसंग मिलते है। नास्तिक दर्शन में चार्वाक दर्शन बहु प्रतिष्ठित कहा गया हैं जिसकी लोकहित शाखा सौगत एवं बौद्व दर्शन सम्बन्धि पारिभाषिक शब्दो का उल्लेख महाभारत में मिलता है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महाभारत में कुछ नास्तिक धर्म मानने वाले भी रहते थे। इस अध्याय का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये यह कहा जा सकता है कि–

1. दर्शन जीवन–यापन की एक व्यवहारिक दृष्टि है। जिसमें कुछ आचरण और कुछ चिंतन तत्त्व सम्मिलित होते है।
2. महाभारत में सामान्य दर्शन के स्वरूप को समझने के लिये ब्रम्ह, जीव, जगत माया और मोक्ष तत्त्वों की व्याख्या की गयी है। जिसमें ब्रम्ह शुद्ध सच्चिदानंद, अज, जीवात्मा, उसका अंश माया उसकी शक्ति और जगत और उसकी रचना तथा मोक्ष जीव का काम्य कहा गया है।

3. महाभारत में आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों की चर्चा संक्षिप्त में मिलती है। इससे उनकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ता है।

4. महाभारतकार धर्मचक्रपरिवर्तन को स्वीकार कर ऐसी शासन पद्वति का उल्लेख करता है जिसमें प्रजा मात्र की लौकिक और पारलौकिक ऐहिक तथा आमुषिक उन्नति हो सके।

5. निश्चित जीवन दर्शन पर आधारित जिस आचरण पद्वति का उ़ल्लेख महाभारतकार ने किया है उसमें कर्मवाद की प्रधानता साथ सदाचार नैतिकता के द्वारा इन्द्रिय निग्रह कर आत्म विजय का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

6. महाभारत में निरूपित दार्शनिक विचारों का पडे हुये सामाजिक प्रभावों का मूल्यांकन करते हुये यह देखा गया है कि महाभारत में व्यवहारिक जीवन के कृत्य साम्प्रदायिक जीवन यापन करते हुये समाज का यथार्थवादी रूप प्रस्तुत किया गया है।

7. महाभारत में युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप सामाजिक धार्मिक क्रियाकलापों करते हुये उसके आदर्शवादी रूप की परिकल्पना भी की गयी है जिसके मूल रूप में न दण्डों न दाण्डकः तथा रक्षन्ति पर परस्परः आधारित है।

8. योग और भोग दोनो पर आधारित जीवन दर्शन की परिकल्पना महाभारतकार ने की है और महाभारत के पात्रों द्वारा ऐसा ही जीवन यापन करते हुये दिखाया हैं।

तात्पर्य यह है कि महाभारत उत्तर वैदिक कालीन समाज का जीवन्त का़व्य है जिसमें सामाजिक वर्णव्यवस्था, आश्रम , नर नारी संबंध खानपान, जीवन—यापन, आथिर्कदशा, शासन व्यवस्था का स्वरूप तथा दार्शनिक विचारों के साथ जीवन में आने वाले ज्ञान विज्ञान एवं सांस्कृतिक तत्त्वों का सिद्धांत एवं व्यवहार निरूपक काव्य है। महाभारतकार ने समाज के यथार्थ रूप का ऐसा चित्रांकन किया है

जिससे युगीन समाज के सांस्कृतिक दृष्टि का यर्थाथवादी रूप देखकर उसके आदर्शवादी रूप की परिकल्पना कोई भी नीतिशास्त्र कर सकता है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि महाभारत काव्य, स्वच्छ अविकृत, निर्मल ऐसा दर्पण है जिसमें युगीन जीवन्त सांस्कृतिक प्रतिबिम्बत स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

ग्रंथ सूची

(1) आलोच्य ग्रंथ– (1) महाभारत – खण्ड–6 व्यास– गीता प्रेस गोरखपुर

सहायक ग्रन्थ– (1) हिन्दी

(2) महाभारत में धर्म – डा0 शकुन्तला रानी– भारतीय पुस्तक मन्दिर भरतपुर–1973

(3) महाभारत का आधुनिक हिन्दी प्रबन्ध काव्यो पर प्रभाव – डा० विनय–सनमार्ग प्रकाशन दिल्ली 1966

(4) महाभारत कालीन राजव्यवस्था – डा० रघुवीर शास्त्री–साहित्य भण्डार मेरठ 1971

(5) महाभारत कालीन समाज – डा० सुखमय भट्टाचार्य–लोक भारत प्रकाशन (अनु०) पुष्पा जैन इलाहाबाद–1966

(6) महाभारत मे लोक कल्याण की राजकीय योजनायें – डा० कामेश्वर नाथ मिश्र– भारत मनीषा वाराणसी 1972

(7) महाभारत मे सामाजिक सिद्धान्त एवं संस्थायें – डा० राधेश्याम शर्मा मनीषा प्रकाश पटना, 1982

(8) पतंजलि कालीन भारत वर्ष – डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री– पटना शकाब्द, 1984

(9) पाणिनि कालीन भारत वर्ष – डा० वासुदेव शरण अग्रवाल– वाराणसी,1969

(10) धर्मशास्त्र का इतिहास–6 भाग – पी0वी0 काणे–

(11) महर्षि वेद व्यास – उमा शंकर दीक्षित

(12) पुराण विमर्श – डा० बलदेव उपाध्याय– चौखम्बा, प्रकाशन

(13) संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाच्स्पति गैरोला

(14) महाभारत मीमांसा – चिंतामणि विनायक वैद्य

(15) भारतीय संस्कृति एवं साहित्य — डा० गुलाब राय–दिल्ली

(16) कला और संस्कृत — डा० वासुदेव शरण अग्रवाल

(17) अशोक के फूल — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

(18) संस्कृत का स्वरूप — मंगल देव शास्त्री

(19) संस्कृति का दार्शनिक निवेचन — डा० देवराज–

(20) छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि — डा० कमला राज

(21) वैदिक संस्कृति — डा० विशम्बर दयाल अवस्थी सरस्वती प्रकाशन, इलाहाबाद

(22) भारतीय संस्कृति की रूपरेखा — रामजी उपाध्याय– इलाहाबाद शक सं0 2108

(23) वैदिक संस्कृति और सभ्यता — डा० मंगल देव शास्त्री

(24) भारतीय संस्कृति का विकास — डा० मंगल देव शास्त्री

(25) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का विकास — डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

(26) महाभारत में नारी — डा० श्रीमती वनमाला भवालकर–अप्रकाशित शोध, प्रबन्ध सागर,विश्वविद्यालय

(27) राजनीति एवं दर्शन — विश्वनाथ प्रसाद– बिहार राष्ट्र भाषा परिषद पटना

(28) हिन्दू राज शास्त्र — अम्बिका प्रसाद बाजपेई

संस्कृत

(29) श्रृग्वेद	–	–
(30) ऐतरेय ब्राह्मण	– सायण, भाष्य	– आनन्द प्रेस
(31) ऐतरेय ब्राह्मण	–	– गीता प्रेस
(32) शतपथ ब्राह्मण	–	– गीता प्रेस
(33) तैत्तिरीय ब्राह्मण	–	– पूना 1938
(34) हरिवंश पुराण	–	– गीता प्रेस
(35) श्रीमद्भागवत पुराण	–	– गीता प्रेस
(36) विष्णु पुराण	–	– गीता प्रेस
(37) गीता	– व्यास	– गीता प्रेस
(38) वैखानस सूत्र	–	– गीता प्रेस
(39) मनुस्मृति	–	– कचौड़ी गली बनारस सम्बत् 2004
(40) आपस्तम्बग्रह सूत्र	–	– काशी संस्कृत सीरीज 1928
(41) अर्थशास्त्र	– कौटिल्य	– बनारस, 1967
(42) वशिष्ठ धर्मसूत्र	–	– बम्बई 1983
(43) मत्स्य पुराण	–	– गीता प्रेस
(44) वायु पुराण	–	– गीता प्रेस
(45) पद्य पुराण	–	– गीता प्रेस
(46) स्कन्ध पुराण	–	– गीता प्रेस
(47) नारदीय पुराण	–	– गीता प्रेस
(48) देवी भागवत	–	– गीता प्रेस
(49) यजुर्वेद	–	– गीता प्रेस
(50) ध्वन्यालोक	– नरेन्द्र	– दिल्ली
(51) विष्णु पुराण	–	– गीता प्रेस गौतम बुक डिपो दिल्ली

अंग्रेजी ग्रंथ

(52) मोस्ट एशियनट आर एन सोसायटी – राम चन्द्र जैन – 1964

(53) आन दि मीनिंग ऑफ महाभारत – बी.एस. सुथनकर – एशियाटिक सोसाइटी बम्बई 1957

(54) एहिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर – विण्टर नित्स – भाग 1

(55) ओरिजननल एण्ड डबलपमेंट ऑफ कास्ट– जे0के0 पिल्लई – इलाहाबाद 1969

(56) इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू – हाफ किंस – लन्दन

(57) कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया – रैपसन – लंदन

(58) ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर – मैक डॉनल – पंचम संस्करण 1958

(59) एशियंट इण्डियन स्टारिकल टेडीशनल – पारजीटर – 1922

(60) एथिकस – हेगटिंक्स – भाग 1

(61) एजुकेशन इन एशियंट इण्डिया – अल्तेकर – वराणसी

(62) दि वन्डर दैट वाज इण्डिया – ए.एस.वासम – 1967

(63) हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिभ इन्स्टीच्युशन्स – बी0आर0 दीक्षतार –

(64) सोसल स्टेक्चर आफ बैलू – राधा मुखर्जी कुमुद –

(65) एशियन इण्डियन टेडिशनल – पार्टीटल –

(66) सोसाइटी – मैकावर –

(67) हिस्ट्री ऑफ हियूमन मैरिज – वेस्ट मार्क –

(68) दि महाभारत एनालेसिस – प्रो0 वारनेट –

(69) इनट्रोडेक्शन आफ वेद सहिता – उमा शंकर दीक्षित –

(70) इण्डिया ऑफ वैदिक कल्प सूत्राज – डा० रामगोपाल –

(71) दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद – ए० एस गैडिन –

(72) क्रिटकल स्टडीज इन दि महाभारत – डॉ० सुकथनकर –

(73) पालीटिकल आइडीयाज इंसटीटियूशन ऑफ महाभारत – बी0पी0 राय –

(74) इण्डिया एण्ड वैदिक एज – पी0एल0 भार्गव –

(75) आर्कीयोलाजी एण्ड दि इण्डियन एफ्किस — बी0बी0 राव —

(76) इन साइक्लोपीडिया सासल साइंस —

(77) कल्चर एण्ड हिस्ट्री — फिल्पि वी0वी0 —

(78) कल्चर बैगग्राउड आफ पर्सेनालटी — राफल्टिंन —

(79) इण्डियन फिलासफी — डाँ० राधा कृष्णन —
हिन्दी अनु0

(80) हिन्दू सोसल औगगेनाइजेशन — प्रभु, पी0एन0, बम्बई 1958

शोध पत्रिकायें

(82) भण्डारकर रिसर्च इनस्टीटियूट — भा0 54, अंक—4

(83) हिन्दी साहित्य कोश — ज्ञानेन्द्रर — वाराणसी

(84) अमर कोश — निर्णय सागर — 1944

(85) शब्द कल्पद्रुम — राजा राधा कान्तेदव — चौखम्बा

(86) जनरल आफ दि एशियाइटिक साँसइटी — कलकत्ता